भारत के महान साधक

द्वितीय खण्ड

तृतीय प्रकाशन, अक्टूबर, १९८२ ई०

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन, दरभंगा

भारत के महान साधक

भारत के महान साधक

द्वितीय खंड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन

जिनकी महती कृपा से
'भारत के महान साधक'
का प्रकाशन संभव
हो सका
उन्ही महापुरुष
श्री कालीपद गुहाराय के कर-कमलों में
प्रकाशक द्वारा समर्पित

सूची पत्र

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति विभिन्न दिशाओं में समृद्ध होने पर भी मूलतः आध्यात्मिक भित्ति के ही ऊपर प्रतिष्ठित है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यहाँ के आधिभौतिक तथा आधिदैविक सभी प्रकार के विद्वानों की पृष्ठ भूमि में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अध्यात्म दृष्टि का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्राचीन काल से ही इस देश में और सब विभिन्न प्रकार के ज्ञानों की अपेक्षा आत्मज्ञान की ही महिमा विशेष रूप से कीर्तित हुई है और विभिन्न प्रकार के कर्मों में आत्मकर्म का स्थान सर्वोच्च माना गया है। इस देश में अध्यात्म-साधना की जो धारा प्रचलित है और नाना शाखा-प्रशाखाओं में बहती हुई जो समग्र देश को संजीवित रख सकी है, उसका क्रमबद्ध इतिहास अभीतक लिखा नहीं गया है। इस अलिखित इतिहास के पुष्टि-साधन में प्रत्येक साधक के जीवन तथा साधना की इतिवृत्ति का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

अध्यात्म साधना का श्रेणी–विभाग साम्प्रदायिक दृष्टि से और व्यक्तिगत रुचि तथा रागमूलक वैशिष्ट्य के आधार पर भी हो सकता है। दृष्टान्त-रूप में यदि वैष्णव साधना को लें तो श्री-सम्प्रदाय, हंस-सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय तथा रुद्र-सम्प्रदाय के नाम इस-प्रसंग में लिये जा सकते हैं। प्रति सम्प्रदाय में भी अवांतर विभाग हैं। प्रति अवांतर विभाग में भी व्यक्तिगत भेद हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के सदृश ही शैव और शाक्त-सम्प्रदायों की बात भी समझनी चाहिए। वैष्णवादि सम्प्रदाय उपास्य देवतामूलक सम्प्रदायों के दृष्टांत हैं। इसी प्रकार उपासना के प्रकारगत भेद से भी सम्प्रदायों का भेद हो सकता है, जैसे भक्त-सम्प्रदाय, ज्ञानी-सम्प्रदाय, योग सम्प्रदाय

इत्यादि। सम्प्रदायों के अतिरिक्त व्यक्तिगत वैचित्र्य के आधार पर भी साधकों के विभाग हो सकते हैं।

ये हुए बहिरंग विभाग। इसी प्रकार अतरंग विभाग भी हैं। विभागों की संख्या जितनी भी क्यों न हो, उनके मूल में सर्वत्र रुचि वैचित्र्य अथवा योग्यतागत भेद विद्यमान रहते हैं। इसलिए बाहर की दृष्टि से पथ या मार्ग भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सभी का लक्ष्य एक है।

'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'

महिम्न स्तोत्रकार ने स्पष्ट ही कहा है कि पथ नाना होने पर भी गम्य एक तथा अभिन्न है।

आपात दृष्टि से प्रतीत हो सकता है कि गम्य भी अलग-अलग है। परन्तु अखण्ड चिदानंद रुपा सत्ता एक से अतिरिक्त हो ही नहीं सकती। उसकी शक्ति भी एक और अभिन्न है, परन्तु एक होने पर भी उसमें अनन्त प्रकार के वैचित्र्य हैं। एक परासंवित्‌रूपा महाशक्ति ही अनन्त शक्तियों के रूप में आत्म प्रकाश कर रही है। परिच्छिन्न आत्मा या माया प्रमाता की व्यक्तिगत-प्रकृति या स्वभाव के अनुरूप एक ही महालक्ष्य तत्‌ तत्‌ प्रकृतियों के अनुकूल खंड-खंड लक्ष्य के रूप में स्थूलदर्शी व्यक्ति के निकट प्रकाशित होता है जिसके प्रभाव से मालूम पड़ता है कि विभिन्न प्रकृतियों के लोग विभिन्न लक्ष्य की ओर आकृष्ट होते हैं। किन्तु वास्तव दृष्टि से यदि देखा जाय तो अवश्य कहना पड़ेगा कि सभी का लक्ष्य एक ही है। कोई शीघ्र तो कोई बिलंब से, एक ही परम स्थान में जाकर विश्राम लाभ करेगा। जबतक उस स्थान की प्राप्ति न हो तबतक किसी में शान्ति नहीं आयेगी।

अतएव अनन्त के पथिक, कोई भी क्यों न हों, सभी हमारे नमस्य हैं—जैसा योगी वैसा ही भक्त और वैसे ही ज्ञानी तथा कर्मी भी।

परन्तु इनमें भी प्रकार-वैचित्र्य है जैसे, योग वस्तुतः एक

होने पर भी नाना प्रकार का दिखलाई देता है। प्राचीन वैदिक तथा उपनिषद-युग में विभिन्न प्रकार की योग प्रणालियाँ प्रचलित थी।बौद्ध तथा जैन भी आत्म-साधना के लिए एक ही प्रणाली का अनुसरण करते थे, ऐसी बात नहीं है। बौद्ध-सम्प्रदाय में भी प्राचीन समय में जिस प्रकार की योग शिक्षा का प्रचार था, परवर्ती समय में योगाचारादि सम्प्रदाय में ठीक उसी का अनुसरण होता था ऐसी बात नहीं है। बुद्धघोष का 'विशुद्ध मार्ग' तथा अनिरुद्ध स्थविर का अभिधमार्थ संग्रह अच्छे ग्रन्थ हैं। इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु, असङ्ग, शान्तिदेव, परिभद्र, तिलोपा, नरोपा प्रभृतियों के उपदेश भी उनसे कम महत्त्व-संपन्न थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैन सम्प्रदाय में भी तीर्थङ्करों के समय से योग की विभिन्न धाराओं का पता चलता है। इसी प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरक्षनाथ की भी योगधाराएँ एक प्रकार की नहीं हैं। चौरासी सिद्धों में जिनका परिचय मिल सका है; उनमें भी विभिन्न प्रकार-वैचित्र्य रहे ऐसा मालूम होता है। पतञ्जलि और व्यास की योगधारा से पाशुपत योगियों की योगधारा भिन्न है। केवल सिद्धांत में ही नहीं मार्ग में भी भेद है। उसी प्रकार सिद्धान्त-शैवों, वीर-शैवों तथा अद्वैत शैवों में आगम मूलक ऐक्य होने पर भी साधन धारागत भेद अवश्य हैं। सन्तों में भी ऐसा ही है। उसी प्रकार शाक्त-सम्प्रदाय के इतिहास में भी भेद लक्षित होते हैं। कौलों में उत्तर कौल तथा पूर्वकौल की दृष्टि से भेद है। इसके सिवा कुलाचार तथा समयाचार के भेद से भी शाक्तों में भेद है। उनमें भी कोई क्रमवादी हैं तो महार्थवादी और कोई स्पन्दमार्गी। अच्छी तरह से सोचने पर पता चलता है कि कोई साधक आणव उपाय का अवलंबन कर साधना करता है कोई उच्चतर अधिकारी साधक शाक्त उपाय का अवलम्बन करके चलते हैं और अत्यन्त सौभाग्यवान् श्रेष्ठ अधिकारी शाम्भवी उपाय को अपना लेते हैं। यहाँ भी रुचि तथा योग्यता के तारतम्य से मार्गगत भेद होता है, परन्तु चरम लक्ष्य सर्वत्र एक ही है इसमें सन्देह नहीं।

भक्तिमार्ग में भी इसी प्रकार दीख पड़ता है। वस्तुतः पाञ्च-रात्र तथा भागवत-सम्प्रदाय पृथक् होने पर भी अपृथक् हैं। इसके बाद चतुःसम्प्रदाय में भी असंख्य प्रकार के भेद दृष्टिगत होते हैं। द्वैत, अद्वैत तथा द्वैताद्वैत की दृष्टि के अनुसार भक्ति का भी प्रकारगत भेद है। महायोगी ज्ञानेश्वर में अद्वैत भक्ति का परिचय मिलता है। प्राचीन काल में उत्पलाचार्य की शिवस्तोत्रावली में भी अद्वैत भक्ति का निरूपण देखने में आता है। परा-भक्ति तथा प्रेमलक्षण-भक्ति के भेद से भक्ति में वैचित्र्य है। पुष्टि, प्रवाह तथा मर्यादा के आधार पर तथा वैधी और रागमार्गी भेदों के फलस्वरुप भी भक्ति में वैचित्र्य दृष्ट होता है। रागानुगा-भक्ति में विलास तथा उछ्वासगत भेद है। बाउल, दरवेश तथा सहजिया सम्प्रदायों में भी मार्ग भेद लक्षित होता है। यही बात भारतीय सूफी-सम्प्रदाय के विषय में लागू है।

इसके अनन्तर भक्ति तथा प्रपत्ति में भी तारतम्यमूलक अवान्तर भेद हैं। किसी की उपेक्षा नहीं हो सकती। जो बात योग तथा भक्ति के विषय में कही गयी है वही बात ज्ञान तथा कर्म मार्ग में भी समान रूप से प्रयुज्य है। परन्तु इतने भेद तथा वैचित्र्य रहने पर भी भारतीय साधकों का चरम लक्ष्य सर्वत्र एक ही है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

'भारत के महान् साधक' नामक ग्रन्थ में इसलिए विभिन्न मार्ग के साधकों के प्रति समरूप से श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई है, और यह देखकर चित्त में बहुत प्रसन्नता होती है, क्योंकि साधकों के प्रति श्रद्धार्पण के विषय में पथ या मार्ग को प्रधान न मानकर लक्ष्य ही को प्रधान मानना चाहिए। कारण, बहिरङ्ग-जीवन मुख्य नहीं है, आन्तर-उपलब्धि ही साधक-जीवन का परम सम्पद् है।

बंग भाषा में लिखित इस अपूर्व ग्रन्थ के ६ खण्ड कुछ दिनों से बंगीय पाठक-समाज को आलोड़ित कर रहे हैं। देश की वर्त्तमान

परिस्थिति में, इस युग-संधि काल में इस प्रकार के ग्रन्थ के प्रति जन साधारण की आन्तरिक श्रद्धा देखकर चित्त में प्रसन्नता होती है। भरोसा होता है कि धर्मों के प्रति, जीवन के चरम आदर्श के प्रति हमारा समाज इस दुर्दिन में भी सम्पूर्ण रूप से श्रद्धा खो नहीं बैठा है।

हमारा देश हमेशा सत्य का आदर करता आया है। सत्य के अनुसंधान को ही उसने जीवन का महाव्रत मान लिया है और सत्य ही को भगवान् का परम स्वरूप माना है। सत्य का आत्म-प्रकाश विभिन्न उपायों से और विभिन्न प्रणालियों से हो सकता है, यह हमारा देश जानता है। इसीलिए अन्धकारमय जंजाल में भी सत्य की कणिका मात्र देखने पर उस पुंजीकृत जंजाल को हटाकर उस कण मात्र सत्य का वरण कर लेते हैं। इस अनुसंधान-व्यापार में जातिगत, देशगत, आचरणगत तथा कालगत वैषम्य उसके प्रति-बन्धक नहीं बन सकते। इससे प्रतीत होता है कि सत्यानुसन्धान यदि क्षुद्र भावनाओं से कलङ्कित न हो तो उसके प्रति सभी की सक्रिय सहानुभूति जागे बिना नहीं रह सकती।

बुद्ध-वंश, गुरु-परम्परा-चरित तथा भक्तमाल प्रभृति बहु ग्रन्थों में साधकों के अख्यान वर्णित दीख पड़ते हैं। दक्षिण भारत में शैव तथा वैष्णव सन्तों के अलौकिक चरित्र तत् तत् प्रादेशिक भाषाओं में रचित होकर प्रचारित हुए थे यह इतिहास में प्रसिद्ध है। विभिन्न सम्प्रदायों में प्राय: सर्वत्र ही न्यूनाधिक चरित्र-कथाएँ विद्यमान हैं। असाम्प्रदायिक रूप में भी कहीं-कहीं सन्तों के चरित्र की वर्णना दिखलाई पड़ती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने बहुत दिनों के परिश्रम से इन सब चरित्रों का सङ्कलन किया है। इनके मूल उपजीव्य हैं। विभिन्न भाषाओं में विरचित आकर-ग्रन्थ तथा विभिन्न स्थानों में विक्षिप्त तद्विषयक ऐतिह्य। सङ्कलनकर्त्ता ने अपने प्रयोजन के अनुसार तथ्य-संग्रह किया है और साधारण पाठक के लिए बोधगम्य प्राञ्जल भाषा में उनका प्रकाशन किया है।

यह साधक चरितमाला विभिन्न खण्डों में प्रकाशित होगी। प्रति खण्ड में मूल ग्रन्थ के चुनाव तथा क्रम का अनुसरण नहीं किया गया है। प्रथम खण्ड में वर्तमान युग की साधक मण्डली से सात व्यक्तियों के वृत्तान्त प्रकाशित हुए हैं; जिसमें दो हैं काशी के—तैलङ्ग स्वामी और श्यामाचरण लाहिड़ी; एक हैं गोरखपुर के बाबा गंभीरनाथ; और एक हैं बंगदेश के वामाक्षेपा। सभी ख्याति-सम्पन्न थे और थे साधन-मार्ग के अत्युच्च शिखर पर आरूढ़। प्रायः सब की सिद्धपुरुष के नाम से प्रसिद्धि भी हुई थी। इनमें तैलङ्ग स्वामी, श्यामाचरण लाहिड़ी तथा गभीरनाथ योगी थे। वामाक्षेपा तांत्रिक और भक्त थे, शंकराचार्य्य जी ज्ञानी थे। ये विभाग लौकिक दृष्टि के ही अनुसार समझने चाहिए। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी-भाषी भक्त-पाठक-समाज इस महान् ग्रन्थ से समुचित लाभ उठायेगा।

वाराणसी,
१-२-६४

महामहोपाध्याय
डा० गोपीनाथ कविराज

प्रकाशकीय

'भारत के महान साधक' के मूल लेखक श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य लेखक, साधक तथा अन्वेषक तीनों एक साथ थे। इन्होंने लगातार १५ वर्षों का बहुमूल्य समय महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगाया।

बंगला भाषा में इस ग्रन्थ का अपूर्व स्वागत हुआ है। यह पुस्तक इस काल की एक महान् कृति मानी जाने लगी है। बंगला भाषा में इस ग्रंथ के लेखक श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य अपने उपनाम 'शंकरनाथ राय' के नाम से विख्यात हैं।

सारे देश के सब क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी इस सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी संभव नहीं होता। उनका नाम गिनाकर—दो-चार पंक्तियों में उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस अवसर पर इन महानुभावों के प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

हिन्दी के विज्ञ, सत्यान्वेषी एवं धर्मानुरागी पाठकों के समक्ष यह ग्रंथ उपस्थित है। इसकी महत्ता और उपयोगिता का निर्णय उन्हें ही करना है।

निर्भय राघव मिश्र

लहेरियासराय
अक्तूबर, १६८२

अरविन्द

श्रीअरविंद

भारत के महापुरुषों के कण्ठों से मुक्ति के महामंत्र का गान युग-युग से होता रहा है। ये लोग जीवन-यज्ञ में आत्माहुति चढ़ा गये हैं और मानव-मात्र के लिए अमृत का संचय कर गये हैं। आगे चलकर इन्हीं सर्वत्यागी तपस्वियों में अन्यतम हुए हैं श्रीअरविंद।

इस महापुरुष के जीवन के स्तर-स्तर पर विधाता पुरुष ने मुक्त-हस्त हो ऐश्वर्य उंड़ेल रखा था। और इनके जीवन-कमल का एक-एक दल रूप-रंग, रस-सौरभ और दिव्य लावण्य से ओतप्रोत था। अलौकिक मेधा, विलक्षण बुद्धि और चमत्कारी कवित्वशक्ति के साथ-साथ श्रीअरविंद में असाधारण दार्शनिक प्रतिभा और राजनैतिक नेतृत्व-शक्ति देखी गई। उसके पश्चात् ही उनकी जीवन-परिधि शीघ्र ही अधिक विस्तृत और अधिक गंभीर हो गई। बहिरंग जीवन का मुक्ति-संग्राम एक दिन अध्यात्म मुक्ति की चेतना के रूप में उद्भासित हो उठा।

सर्वत्यागी महासाधक इस बार अपने ज्योतिर्मय जीवन के प्रांगण में आ उपस्थित हुए। ईश्वरप्रदत्त अपनी सारी समृद्धियां उन्होंने समिधा के रूप में प्रज्वलित कर दी। उनका जीवन-यज्ञ सार्थक हो गया। केवल दिव्य जीवन की अमृत वार्ता की घोषणा करके ही वह शान्त नहीं हुए, अपनी साधना के क्रम में जो परम उपलब्धि उन्हें मिली थी उसे मानव-कल्याण के लिए सरल भाव से उन्होंने उत्सर्ग कर दिया।

सर्वप्रथम बंकिम और विवेकानन्द की ही मातृभूति में देवीत्व का

आरोप करते देखा गया था। परन्तु इसे सबसे पहले जन-चेतना का रूप देकर साकार उपस्थित किया अरविंद ने। अरविंद की ध्यान-कल्पना एवं साधना ने स्पष्ट रूप से जगन्माता और मातृभूमि में अभेद भाव का ज्ञान करा दिया और इस मातृ-पूजा में सर्वस्व दक्षिणा एवं आत्माहुति की बात उन्होंने उद्घोषित की। उनकी प्रतिभा और सत्य दृष्टि ने इस आदर्श को अत्यन्त व्यापक बना दिया। राजनैतिक आंदोलन के सीमित एवं मटमैले क्षेत्र में उन्होंने आध्यात्मिक शक्ति के आलोक का प्रसार किया। इस प्रकार राजनीति में आध्यात्मिक आदर्श के प्रयोग की दृष्टि से अरविंद एक विशिष्ट मार्ग-प्रदर्शक बने।

उनका विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक जागरण में ही विश्व-कल्याण सन्निहित है और यह जागरण राजनैतिक मुक्ति के बिना कभी भी सम्भव नहीं है। इसी से राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के व्रत के सम्बन्ध में इस कोटि की निष्ठा उनमें थी। यही कारण था कि एक दिन शिक्षक जीवन छोड़कर वह राजनीति के अग्रद्वार पर आ खड़े हुए। किन्तु चरम लक्ष्य उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हो पाया। मुक्ति-संग्राम के महत्तर अध्याय के खुलने के साथ-ही-साथ राजनीति से उन्होंने अपने को बिलकुल अलग कर लिया और आध्यात्मिक शक्ति को संचित करने में उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया।

भारत का मुक्ति-संग्राम अरविंद की दृष्टि में एक धर्म-युद्ध था। इसकी सम्भावना भी उनकी दृष्टि में अपरिसीम थी। इसी से पुरुषोत्तम वासुदेव को परमपुरुष के रूप में राष्ट्रीय-जीवन के अग्रभाग में उन्होंने स्थापित किया और इस तरह राजनीति के क्षेत्र में अध्यात्म-चेतना का उद्बोधन किया।

उत्तरकाल में उनके अपने अध्यात्म-संग्राम के भी अग्रभाग में इसी वासुदेव को हमलोग वर्तमान पाते हैं। अलीपुर जेल में एक दिन जिस अलौकिक चेतना का उन्मेष हुआ था, उनके परवर्ती जीवन में उसका

ही एक महत्तर ज्योतिर्मय प्रकाश परिलक्षित होता है। दिव्य जीवन की वार्ता उनके महान् जीवन में प्रतिध्वनित हो उठती है।

अरविंद के जीवन-कमल ने अपनी पंखुड़ियों को शनैः-शनैः ऐसे उन्मीलित किया कि अमृतलोक में इसका महाविकास प्रारंभ हुआ।

आधुनिक भारत के धार्मिक जीवन में बंगाल के हुगली जिले का अवदान प्रायः अतुलनीय है। राममोहन, रामकृष्ण और अरविन्द, इन तीन धर्म-नेताओं को हुगली ने एक शताब्दी के बीच उपहार के रूप में भारत को प्रदान किया। इस जिले का छोटा-सा अंचल है कोन्नगर। इस अंचल के प्रसिद्ध कायस्थ वंश के डॉ॰ कृष्णधन घोष के पुत्र के रूप में अरविंद का आविर्भाव हुआ था।

मनीषी एवं महाप्राण समाज-नेता राजनारायण बसु की कन्या स्वर्णलता से डॉ॰ घोष ने विवाह किया था। इस घोष-दंपति की तृतीय संतान के रूप में १८७२ ई॰ की १५वीं अगस्त को अरविंद का जन्म हुआ था।

मातृकुल एवं पितृकुल की जो दो वेगवती सांस्कृतिक धाराएँ अरविंद में आकर मिल गई थीं, उनके गुरुत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक ओर तो दीख रहा था भारतीय साधना और संस्कृति के श्रेष्ठ संवाहक राजनारायण का प्रभाव और दूसरी ओर स्पष्ट वर्तमान था पाश्चात्य संस्कृति और जीवनधारा के उग्र समर्थक डॉ॰ कृष्णधन का व्यक्तित्व।

डॉ॰ कृष्णधन एबरडीन विश्वविद्यालय से एम॰ डी॰ की उपाधि लेकर जिस दिन देश वापस आते हैं, कोन्नगर के परंपरावादी समाज में उस दिन एक बड़ा आंदोलन उठ खड़ा होता है। प्रायश्चित्त किये बिना कैसे उन्हें समाज में स्थान दिया जाय? इधर कृष्णधन का भी दृढ़ निश्चय है कि चाहे जो कुछ हो, सिर नीचे नहीं झुकायेंगे।

अंत में क्रोध में आकर उन्होंने अपनी पैतृक आवास-डोह एक गरीब ब्राह्मण के हाथ नाम-मात्र का मूल्य लेकर बेच डाली। कोन्नगर का निवास सदा के लिए समाप्त हो गया।

कृष्णधन का साहबीपन बड़ा ही उत्कट था और ऐसा ही था उनका जिद्दी स्वभाव। फिर भी उसके भीतर छिपा था एक महानुभाव, दरिद्र-बांधव व्यक्ति का सहज द्रवणशील मन।

डॉ० घोष उन दिनों उत्तर बंगाल में सरकारी कार्य में लगे थे। यह अंचल मलेरिया के लिए बदनाम था। एक पुरानी गँदली नहर का संस्कार शीघ्र अपेक्षित था। जल की निकासी का प्रबंध नहीं करने से लोगों के दुर्भाग्य में कमी संभव नहीं थी। सरकारी व्यवस्था के ऊपर निर्भर रहने से कोई लाभ नहीं था क्योंकि वह तो बड़ी धीमी गति से चलती है। इस अंचल में रोग के आक्रमण से बहुत से लोगों की मृत्यु हुआ करती थी। इस दुर्दशा को देखकर डॉ० साहब के प्राण चीख उठे। उन्होंने इस नहर के संस्कार के लिए कई हजार रुपये दान कर दिये। इस कार्य के लिए उन्हें ऋणभार और अर्थ-संकट भी कम नहीं सहना पड़ा।

मानव-कल्याण के लिए अकिंचन बन जाने की यह शक्ति कृष्ण-धन के पुत्र अरविंद के जीवन में तीव्र भाव से प्रतिष्ठित हो गई।

कृष्णधन अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के विश्वासी थे। इसी से उन्होंने अरविंद को पाँच वर्ष की उम्र में ही दार्जिलिंग के इंग्लिश स्कूल में पढ़ने के लिए भर्ती कर दिया। पाश्चात्य शिक्षा और जीवन-धारा के प्रति पिता का उत्कट मोह यहीं समाप्त नहीं होता है। १८७९ ई० में अपने अन्य दो भाइयों के साथ अरविंद को इंगलैण्ड भेज दिया गया। निश्चय हुआ कि अब से वह वहीं रहकर पढ़ाई-लिखाई करेंगे। इस समय उनकी उम्र केवल सात साल की थी।

इस बालक की मेधा और प्रतिभा असाधारण थी। बाल्यकाल से ही अंग्रेजी एवं फ्रांसीसी भाषा में इन्होंने निपुणता प्राप्त कर ली। पीछे चलकर इटली और जर्मनी की भाषाओं में भी दक्षता प्राप्त कर ली। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा में छात्रवृत्ति प्राप्त करने के बाद अरविंद किंग्स कालेज में पढ़ने गये। इसी वर्ष, अपनी १८ वर्ष की आयु में, इन्होंने सिविल सर्विस परीक्षा में सफलता प्राप्त की। मेधावी युवक ने इस परीक्षा में ग्रीक एवं लैटिन भाषा-विभाग में प्रथम स्थान प्राप्त किया था।

किन्तु सिविल सर्विस के ढाँचे में इस महाजीवन को बन्दी बनाकर रखेगा कौन? दो वर्ष तक विशेष दक्षता के साथ उन्होंने शिक्षानवीसी का काम किया। इसके बाद देखा गया कि घोड़े की सवारी की परीक्षा के दिन वह समय पर उपस्थित नहीं हुए। अरविंद की बहन सरोजिनी देवी का कहना था कि उस समय वह बड़े उत्साह से ताश खेल रहे थे।

सिविल सर्विस के कर्म-बन्धन से अरविंद अपनी इच्छा से ही उस दिन विरत हो गये। भविष्य के महामानव एवं लोकगुरु के जीवन की धारा ने मुक्त और प्रशस्त क्षेत्र में आकर चैन की साँस ली।

जिस जीवन में एकाग्रता और दुःसाहस की सीमा नहीं, वे गुण इस घोड़े की सवारी के दिन हठात् लुप्त हो गये थे, ऐसा सोचना सर्वथा भ्रामक होगा। वास्तव-जीवन के नाना दुरूह क्षेत्रों में अरविंद की पारदर्शिता में कभी किसी दिन कमी नहीं आई। श्रीयुत् चारुदत्त ने अपनी 'पुरानी कथार उपसहार' नाम की पुस्तक में इस सम्बन्ध में एक सुन्दर कथा का उल्लेख किया है। श्रीदत्त उन दिनों बम्बई प्रेसीडेंसी की सिविल सर्विस में काम करते थे। अरविंद एक दिन उनके बंगले पर पधारे। बरामदे पर बैठे, बन्दूक को लेकर बड़ा कोलाहल मच रहा था। अरविंद को भी बुला लिया गया, उन्हें भी आज बन्दूक का निशाना लगाना ही होगा। उन्हें बन्दूक चलाने का अभ्यास नहीं था।

कुछ आपत्ति करने के बाद विवश होकर उन्हें इसके लिए राजी होना पड़ा।

श्रीयुत् दत्त ने लिखा है कि, आखिर में उन्होंने बन्दूक पकड़ ली। उन्हें केवल बतला देना था कि कैसे निशाना लगाया जाता है। इसके बाद तो बार-बार लक्ष्य-भेद करते गये। लक्ष्य क्या था यह पाठकों को बता दूँ; वह था दियासलाई की काठी के सिरे का भाग। फिर ऐसे लोगों को योग-सिद्धि नहीं मिले तो क्या हम-आप जैसे लोगों को मिल सकेगी ?"

यह एकाग्रता और कर्मतत्परता जिसमें हो, उसके लिए घोड़े की सवारी करना, निश्चय ही, कोई कठिन काम नहीं था।

बड़ौदा राज्य के कार्य को लेकर अरविंद भारत लौटे। उस समय मातृ-भाषा का उनका ज्ञान बिलकुल नगण्य था।

किन्तु अपने देश, अपने धर्म और अपनी संस्कृति को जानने की उनमें असीम उत्कंठा थी। इसी आग्रह के कारण वह अपने देश में वापस आ गये थे। यूरोप में लालित और शिक्षित इस तरुण के मुख पर यह दृढ़ संकल्प झलकता था कि वह भारत की आत्मा के मर्म का उद्घाटन करेंगे, और देशात्मबोध के माध्यम से आत्मोपलब्धि की परम साधना को जाग्रत करेंगे।

अपनी असाधारण प्रतिभा को उन्होंने आत्मपरिचय के कार्य में नियोजित किया। तेरह वर्षों की ज्ञान-साधना के माध्यम से मनीषी अरविंद ने प्राचीन भारत के काव्य, साहित्य और दर्शन से अपना घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिया था। भविष्य के देशनेता और लोकगुरु के रूप में अपने को प्रस्तुत करने की उनकी साधना चल पड़ी।

रामायण और महाभारत के कुछ-कुछ अंशों का अरविंद उन दिनों अनुवाद कर रहे थे। एक बार श्रीयुत् रमेशचन्द्र दत्त के साथ बड़ौदा में उनका साक्षात्कार हुआ था। दत्त महाशय असाधारण प्रतिभा के अधिकारी थे। बंगला एवं अंग्रेजी भाषा में उनकी असाधारण व्युत्पत्ति

थो। रामायण और महाभारत के कुछ अंशों का अनुवाद भी वह कर चुके थे। विलायत के प्रसिद्ध समालोचकों द्वारा इन सब की प्रशंसा भी हुई थी।

साक्षात्कार के बाद अरविंद के अनुवाद को उन्होंने देखना चाहा। अरविंद स्वभाव से ही लजालु व्यक्ति थे। मनीषी रमेशचन्द्र को अपनी रचना दिखाने में उन्हें बड़ी हिचक हो रही थी।

अन्त में उन्हें उसे पढ़कर सुनाना ही पड़ा। रचना सुन चुकने के बाद श्रीदत्त ने कहा, "मेरे मन में तो आज यही आ रहा है कि रामायण और महाभारत के अनुवाद में मैंने व्यर्थ का ही श्रम किया है। मुझे तो इसका खेद है। अगर मैं पहले तुम्हारी इन कविताओं को देख-सुन पाता तो मैं अपनी रचना कदापि प्रकाशित नहीं करवाता। इस समय यही प्रतीत होता है कि मेरी रचना इसके आगे बच्चों का खेल-सा है।"

पहले तो अरविंद बड़ौदा राज्य के राजस्व विभाग में काम करते थे। बाद में शिक्षण-व्रत ग्रहण कर स्टेट कालेज में अंग्रेजी साहित्य पढ़ाना प्रारम्भ किया। शनैः-शनैः वे उसके 'वाइस प्रिंसिपल' पद पर आसीन हुए।

इधर बड़ौदा के मराठी छात्रों के साथ उनकी जितनी आत्मीयता बढ़ती गई उतनी ही घनिष्ठता मराठा-केसरी श्री बालगंगाधर तिलक के साथ उनकी स्थापित होती गई। तिलक के साथ उनके इस सम्पर्क ने पीछे चलकर भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम को अधिक प्राणवान कर दिया।

बड़ौदा निवास के काल में अरविंद ने विवाह तो किया, परन्तु सांसारिकता से वह चिरउदासीन ही बने रहे। त्याग-तितिक्षामय इस ज्ञानतपस्वी के जीवन में पत्नी मृणालिनी देवी का आविर्भाव कोई परिवर्तन नहीं ला सका। इस महीयसी पत्नी ने भी स्वामी की देश-सेवा और मुक्ति-साधना की धारा को अपनी स्वाभाविक गति में प्रवाहित होने दिया। उनके जीवन-व्रत के उद्यापन में मृणालिनी ने लेशमात्र भी कभी कोई बाधा उत्पन्न नहीं होने दी। उस नारी में आत्मविलयन का एक अपूर्व आदर्श दिखाई पड़ता है।

बड़ौदा-प्रवास के अन्तिम चरण में अरविंद के मानस में सुस्पष्ट परिवर्त्तन हम देखते हैं। उस समय तक उनके अन्तर्जीवन में मातृभूमि का ध्यान-रूप और अधिक उज्ज्वल हो उठता है। भारतीय आत्मिक साधना की वेदी को वह राजनैतिक मुक्ति के बहुत उच्च स्तर पर स्थापित करना चाहते थे। राजनीति के इस अध्यात्म रूपान्तर को अरविंद ने उन दिनों मन-प्राणों से ग्रहण कर लिया था। पाश्चात्यों के राजनैतिक स्वाधीनता के आदर्श की तुलना में उनकी अपनी कल्पना की राष्ट्रीय-मुक्ति का पार्थक्य अब उन्हें धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा था।

शिक्षाव्रती एव मनीषी अरविंद के सम्मुख इस समय उपस्थित था उनका अपना ही एक नया दूसरा रूप—स्वातन्त्र्य-संग्राम के नेता एवं राजनीतिक चिन्ता-नायक अरविंद। परन्तु पहला रूप अंगुलिनिर्देश पूर्वक बार-बार यह स्पष्ट कर देता था कि यह बाह्य रूप है। मानसिक परिवर्त्तन की यह धारा उन्हें केवल आगे बढ़ाये ले जा रही थी। बाद में चलकर राजनीतिवेत्ता अरविंद के सामने पुनः आ उपस्थित हुआ महा-साधक अरविंद।

अरविंद को इस समय तक दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया था कि भारत के अध्यात्म-जागरण में अब कोई विलम्ब नहीं है। जागरण की यह महती प्रस्तावना उनकी दृष्टि में सुस्पष्ट रूप से झलक पड़ी थी।

इस बीच दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का उदय हो चुका था। इस अभ्युदय का दूर-व्यापी प्रभाव मनीषी एवं साधक श्रीअरविंद की दृष्टि से ओझल नहीं रह सका। तभी तो उन्होंने इस समय श्रीठाकुर के सम्बन्ध में लिखा।

"आधुनिक शिक्षाप्राप्त पाश्चात्य विचारधारा का पक्षपाती कोई होगा तो कहेगा कि यह व्यक्ति तो ज्ञानहीन है। वह क्या जानेगा ? मैं आधुनिक शिक्षाप्राप्त व्यक्ति हूँ, मुझे यह क्या शिक्षा देगा ?" किन्तु यह तो केवल भगवान् ही जानता है कि उसने उसे आज क्या कर डाला है।

इस व्यक्ति को तो परमात्मा ने ही बंगभूमि में अवतरित कराया। दक्षिणेश्वर के मंदिर में ला बिठाया, और भारत के उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम दिशा-दिशा से शिक्षित जन-गण जो विश्वविद्यालय के गौरव स्वरूप हैं—जिन्हें पश्चिम की समस्त शिक्षा उपलब्ध है, वे लोग भी आज इस महान् साधक की चरण-धूलि में आ लोटते हैं। इससे मुझे विश्वास है कि मुक्ति का काम सचमुच अब आरंभ हो चुका है।"

१९०३ ई० में श्रीअरविंद ने भवानी मंदिर की योजना बनाई। एक पुस्तिका के रूप में योजना की रूप-रेखा प्रकाशित भी हुई। यह स्थिर हुआ कि देश के कोने-कोने में मातृ-मन्दिर की स्थापना होगी और इन मन्दिर से संयुक्त रहेंगे तरुण कर्मयोगियों के आश्रम। इन आश्रमों के कार्यकर्त्ता चारों ओर जनसाधारण के साथ संपर्क बनाए रहेंगे और संगठनात्मक कार्य के व्रती होंगे। इसी के साथ संचालित होगा तरुण-दल का सामरिक संगठन। साथ ही, आध्यात्मिक उन्नयन के लिए योगाभ्यास की साधना भी चलती रहेगी।

स्वाधीनता-संग्राम के तरुण योद्धाओं एवं माँ भवानी के सेवकों की प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था के लिए अरविंद ने व्रत लिया। प्रथमतः नर्मदा के किनारे गंगोनाथ आश्रम में, उसके बाद कलकत्ते के मुरारिपोखर बागान में उक्त प्रणाली का शिक्षा-केंद्र स्थापित किया गया।

उस समय गंगोनाथ आश्रम के गुरु थे स्वामी ब्रह्मानंद—एक उच्च कोटि के योगी के रूप में महात्माजी की ख्याति थी। इन्हें श्रीअरविंद बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और इन योगीजी की कृपादृष्टि भी अरविंद पर बरसती रहती।

योगिराज ब्रह्मानंद के दर्शन के लिए उस बार वह गये थे। शिव-कल्प महापुरुष के चरण-प्रांत में चारों ओर से आ-आकर भक्त एवं दर्शनार्थी समवेत थे। किन्तु उस समय महात्मा ध्यानस्थ थे। सहसा उन्हें किसी की ओर आँख उठाकर देखते नहीं पाया जाता। अरविंद उस दिन उनको प्रणाम करके ज्योंही उठ खड़े हुए कि ब्रह्मानंदजी ने

आँखें खोल दीं। महायोगी के आशीर्वाद और कृपा-स्पर्श पाने के बाद अरविंद बड़ौदा लौट आये।

स्वामी ब्रह्मानंद के शरीरत्याग के बाद उनके शिष्य स्वामी केशवानंदजी के साथ अरविंद की घनिष्ठता एवं प्रेम-संपर्क बढ़ता गया। यह संपर्क दीर्घ काल तक जारी रहा।

बड़ौदा-निवास करते समय देशपांडे अरविंद के एक घनिष्ठ बंधु और सहकर्मी थे। इन्हीं देशपांडे और स्वामी केशवानंद की सहयोगिता में उनकी भवानी-मंदिर-परिकल्पना का कार्य आगे बढ़ा। किशोर छात्रों के एक दल को गंगोनाथ आश्रम में रखकर, उन्हें ठोक-ठठा कर, मांज-मूँज कर एक नये आदर्श में ढालने की चेष्टा की जाने लगी।

पुण्यतोया नर्मदा नदी के उस पार राजपीपला राज्य का छारोडी शहर पड़ता है। यहाँ पर एक आश्रम में प्रसिद्ध योगी साखरिया बाबा वास करते थे। सिद्ध साधक के रूप में उस अंचल में उनकी अत्यंत प्रसिद्धि थी। योगिवर सिपाही-युद्ध के एक पुराने योद्धा थे, यह बात बहुतों के मुँह से सुनी जाती। साखरिया बाबा अरविंद को बराबर प्रेम-दृष्टि से देखते थे। देशोद्धार की परिकल्पना में इन महापुरुष का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त था। भवानी-मंदिर की जब प्रतिष्ठा होगी तो साखरिया बाबा उसमें वास करेंगे—यह प्रतिश्रुति भी उनसे अरविंद को मिल चुकी थी। दुर्भाग्य की बात, कुछ वर्षों के अंदर ही छारोडी के यह महान् साधक लोकांतर के यात्री बने।

बड़ौदा के शिक्षाव्रती जीवन के शेष कुछ वर्षों में अरविंद प्रायः अवकाश में रहते देखे गये। भवानी-मंदिर के कार्य-कलाप के साथ-साथ अपनी आध्यात्मिक साधना में भी इस समय वह अग्रसर हुए चले जाते थे।

मन जितना ही अंतर्मुखी होता गया, साधन-पक्ष के गूढ़ रहस्य का निर्देश पाने के लिए अरविंद की आकुलता उतनी ही बढ़ती गई।

महाराष्ट्रीय योगी विष्णु भास्कर लेले का प्रभाव अरविंद के साधनामय जीवन के प्रथम चरण में विशेष रूप से पड़ा। योग-साधन के विभिन्न क्रम-संबंध में उन्होंने लेले महाशय के निकट मूल्यवान निर्देश पाया।

चित्त की सहज एकाग्रता के बल से अरविंद सहज ही इस समय ध्यान की गम्भीरता में डूब जाते। एकाग्र होकर साधना में बैठते ही उनकी बाह्य जगत की भावना बिलकुल विलुप्त हो जाती।

इस समय लोकगुरु के रूप में श्रीअरविंद की दिव्यता को धीरे-धीरे प्रकट होते हम देखते हैं। बड़ौदा-जीवन के घनिष्ठ बन्धु एवं राजनैतिक सहकर्मी देशपांडे और माधवराव को उसी समय उन्होंने 'ओंकार-जप' की शिक्षा दी थी। वे दोनों भी एकाग्र भाव से इसका अभ्यास करते।

श्रीयुत चारुदत्त अरविंद के एक अनुरागी बन्धु एवं भक्त थे। अरविंद के साधन-जीवन में इस समय जो अलौकिक शक्ति धीरे-धीरे संचरित हो रही थी, उसकी कुछ जानकारी दत्त महाशय को थी। एक दिन वह उनके निकट कुछ साधन-निर्देश के लिए अनुरोध कर बैठे।

श्रीयुत दत्त ने लिखा है, "एक दिन बातचीत के सिलसिले में मैंने उनसे कहा कि कुछ ऐसा साधन-पथ मुझे भी बतला दो भाई, जिस पर मैं अपने को एकाग्र करने की चेष्टा कर सकूँ। इस बार 'अभी नहीं' (नॉट येट) कहकर उन्होंने बात टाल दी। उस समय उन्होंने कुछ आश्वासन नहीं दिया। दो-एक दिन में फिर बड़ौदा लौट गये। इस ओर मैं मन दौड़ाता हुआ एक दिन संध्या के समय आँख मूँदकर आरामकुर्सी पर लेटा हुआ था। सहसा कुछ क्षण के लिए आँख लग गई। अकस्मात् मेरी दृष्टि वक्षःस्थल के भीतर हृत्पिंड में जा पहुँची। अत्यन्त परिष्कृत रूप में वहीं स्पष्ट दिखाई पड़ी, एक अपूर्व ज्योतिर्मय सुन्दर मूर्ति जो पद्मासन लगाए ध्यानस्थ बैठी थी। मुखड़ा किसी परिचित व्यक्ति का नहीं, किन्तु था अद्भुत माधुर्यमय। तब से लेकर आज पर्यंत कितनी बार, जभी चाहना हुई तभी वह मूर्त्ति दिखाई दे जाती है। अब बहुधा

देखता हूँ तो मुखड़ा श्रीअरविंद के चेहरे में जैसे घुल-मिल गया हो।"

इस तथ्य से इस बात का पता चलता है कि भक्तिमान पात्र के आधार पर इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति जगाने की क्षमता इसी बीच अरविंद को उपलब्ध हो चुकी थी।

अनुगामी साधकों को जो आध्यात्मिक अभिज्ञता प्राप्त होती वह सब नूतन योगी श्रीअरविंद के दृष्टि-दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रहती थी, यह भी उस समय की अनेक घटनाओं से हमें ज्ञात होता है। १९०६ ई० में इन्हीं चारुबाबू को उन्होंने बड़ौदा से लिखा था, "अच्छा, तुम जब अन्यमनस्क भाव से चुपचाप बैठे होते हो तब कौन-सा रंग तुम्हें दिखाई पड़ता है? एक ही रंग या अनेक प्रकार के रग?"

चारुबाबू ने उत्तर में उन्हें यह विदित कर दिया कि वह सब समय एक ही रंग देखा करते हैं और वह रंग है गुलाबी।

बंग-भंग आंदोलन ने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में एक नई मोड़ दी। इस आन्दोलन के अन्तराल से समग्र राष्ट्र की सुप्त शक्तियाँ अँगड़ाई लेने लगीं। राष्ट्रीय जीवन के इस माहेन्द्र-योग की प्रतीक्षा में अरविंद लगे हो थे। इसी से अविलम्ब इस बार बड़ौदा छोड़कर, विक्षोभ-चंचल बंगाल के कर्मक्षेत्र में जा कूदे।

सबसे पहले उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् द्वारा स्थापित राष्ट्रीय महाविद्यालय के प्राचार्य-पद का उत्तरदायित्व संभाला। किन्तु जीवन-नियन्ता विधाता की इच्छा कुछ और ही थी। घटना-चक्र ने शीघ्र ही उन्हें शिक्षाव्रती के जीवन से अलग हटाकर, राष्ट्रीय-संग्राम की अगली पांत में लाकर खड़ा कर दिया। स्वाधीनता-यज्ञ के पुरोधा के रूप में वह शीघ्र ही समग्र देश में परिचित हो उठे।

'वन्देमातरम्' पत्रिका के संपादक के रूप में उनकी लेखनी जो आग उगलती थी, वह देशवासियों के हृदय में न केवल जागरण की

ज्योति जगाती प्रत्युत् स्वतंत्रता संग्राम की विचार-धारा में विप्लव की लपट उठाती जाती थी। प्रगट रूप में, सुस्पष्ट भाषा में, उन्होंने सब के आगे पूर्ण स्वाधीनता के आदर्श की घोषणा की।

उनकी यह वाणी न केवल स्वाधीनता के लिए प्रेरणा भरती रही, अपितु युग-युग से अध्यात्म-जीवन की जो सूक्ष्म रसधारा भारत की प्राणशक्ति को उद्बुद्ध करती आई—संजीवनी-शक्ति द्वारा उज्जीवित रखती आई, उस अन्तराल-वर्तिनी शक्ति के सम्बन्ध में भी देशवासियों को चेतना प्रदान करने में पीछे नहीं रही।

श्रीअरविंद को ऐसा सहज विश्वास था कि भारत विश्व को आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान कर सकता है, मानो ईश्वर ने स्वयं इस भूमि को ऐसी भूमिका ग्रहण करने का निर्देश दे रखा है। विश्वास की यह वाणी अपूर्व भाव-भंगी के साथ इस बार 'वंदेमातरम्' के माध्यम से दिग्-दिगंत में व्याप्त हो उठी। नवीन भारत के एक श्रेष्ठ विचार-नायक एवं राजनैतिक नेता के रूप में इनका अभ्युदय हुआ।

सूरत कांग्रेस के संघर्ष में तिलक एवं अरविंद की जय घोषित हुई और इसके बाद ही राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का रूपांतर उपस्थित हो गया। आत्मप्रतिष्ठ और संघर्षशील प्रतिष्ठान के रूप में इसने अब आगे कदम बढ़ाना शुरू किया।

सूरत कांग्रेस का यह संघर्ष अरविंद के जीवन में भी एक नये कल्प की सूचना देता है। मनीषी एवं चिन्ता-नायक इस बार प्रकट रूप में राजनीतिक रंगमंच पर आ खड़े हुए। सम्मुखीन प्रकाश में जन-नेता की भूमिका ग्रहण करने को बाध्य हो गये।

किन्तु बहिरंग जीवन का यह कर्म-चांचल्य उनके अन्तर्जीवन की स्थिर धारा को कोई आघात न पहुँचा सका। निष्काम कर्मयोगी ने इसी बीच सभी विषय-वार्ताओं से जैसे अपने को विच्छिन्न कर लिया हो। बारींद्रकुमार ने अरविंद के इस आत्म-समाधि रूप को सूरत कांग्रेस के बीच स्फुरित होते देखा था। उन्होंने लिखा है: "सूरत अधिवेशन में उस समय चारों ओर मार-मार की आवाज

गूँज रही थी, ईंट-पत्थर बरस रहे थे। गर्म दल और नर्म दल दोनों के बीच जोर का संघर्ष जारी था। अरविंद उस समय भी मंच के ऊपर निर्विकार भाव से, प्रशांतवदन बैठे थे। पुलिस ने आकर सभास्थान से लोगों को हटा दिया। इसके बाद, सबके अंत में, कुछ मित्रों के साथ उन्होंने धीरे-धीरे सभा-स्थान का त्याग किया। एक इतने बड़े हंगामे के बीच जिस प्रकार की अपनी चारित्रिक प्रशांति और निर्लिप्त भावना उन्होंने दिखलाई उसे देखकर उनके सहकर्मी लोग चकित हुए बिना नहीं रह सके।"

इस घटना के कुछ दिनों बाद ही, इतनी बड़ी राजनैतिक हलचल के बीच भी, हम उन्हें योगी विष्णु भास्कर लेले के साथ घनिष्ठ संपर्क में आते देखते हैं। इसी समय लेले महोदय के निर्देश में श्रीअरविंद बड़ौदा के एक निर्जन कक्ष में पूरे उपक्रम के साथ तीन दिनों तक ध्यानस्थ रहे। ध्यान-तन्मयता के फलस्वरूप इसके बाद उनके समग्र शरीर और मन में क्रमशः एक गंभीर शांति की अनुभूति व्याप्त होती गई।

इस बीच बंबई के नेशनल यूनियन की विराट् सभा में उन्हें वक्तृता देनी पड़ी। लेले ने इस समय उन्हें अंतर्निहित शक्ति को जगाने की एक यौगिक क्रिया बतलाई। उन्होंने बतलाया कि श्रोताओं को नमस्कार करके, शांत चित्त होकर वह कुछ काल अपेक्षा करें, तभी उनके मानस के गंभीरतम प्रदेश से सहसा वाणी की अविच्छिन्न धारा फूट निकलेगी। हुआ भी ऐसा ही। राष्ट्रीयता के आदर्श और सम्बन्ध में उस दिन अर-विंद के कंठ से जो वाणी निःसृत हुई वह सभी को विस्मय में डुबो गई।

अरविंद ने इन दिनों जो सब भाषण दिये उनसे उत्तर एवं पश्चिम भारत के लोक-मानस उत्ताल तरंगों में उद्वेलित हो उठे। राष्ट्रीयता-वाद के सूत्र का एक नवीन भाष्य उनके कंठ से निःसृत हुआ। उन्होंने कहा : "हमारे इस राष्ट्रीय आंदोलन के मूल में स्वार्थ का कोई

स्थान नहीं है। किसी खास उद्देश्य को लेकर भी यह संचालित नहीं हुआ है। राजनैतिक लाभालाभ का प्रश्न भी इसमें सन्निहित नहीं है। यह तो एक धर्म है, जिसका अवलंबन लेकर हम अपने को सुरक्षित रख सकेंगे। यह तो एक प्रकार की वह घृति ठहरी जिसकी सहायता लेकर हम अपनी राष्ट्रीयता के माध्यम से अपने देशवासियों के बीच भगवान का साक्षात्कार करना चाहते हैं। भारत के इस तीस कोटि जन-गण के अंतराल में हम उन्हें पाने की चेष्टा करते हैं।"

यह थी राष्ट्रीयता की एक अभूतपूर्व नूतन व्याख्या। मोह-निद्रा में पड़े देशवासियों के काम में बर्क, मिल आदि के विचार और फ्रांस एवं अमेरिका के स्वतंत्रता-संघर्ष के इतिहास का तो पाठ नहीं हो रहा है! यह तो देश-मातृका के मध्य भगवत्सभा का आरोप कर रहे हैं—मुक्ति-यज्ञ के मंत्रद्रष्टा ऋत्विक् के रूप में एक नया मंत्र और एक अपूर्व मंत्र चैतन्य प्रदान कर रहे हैं।

ब्रिटिश राजशक्ति इस समय मूकदर्शक बनकर नहीं रह सकी। राष्ट्रीयतावाद के इस शक्तिधर नेता को चूर्ण-विचूर्ण करने का संकल्प वह ले चुकी थी।

१९०७ ई० में 'वन्देमातरम्' में प्रकाशित एक निबंध के लिए संपादक होने के नाते, अरविंद बंदी बनाए गए। संपूर्ण राष्ट्र में उस दिन हलचल मच गई। कवीन्द्र रवीन्द्र के कंठ में इस समय उनकी प्रशस्ति-गाथा में छंद फूट पड़ा : 'अरविंद ! रवीन्द्रे रलह नमस्कार।'

कवि की सत्याग्रहिणी दृष्टि ने उस दिन नवजाग्रत भारत के प्राण-पुरुष के रूप में अरविंद को आविष्कृत किया। भारतीय आत्मा की वाणीमूर्त्ति को उनके माध्यम से प्रत्यक्ष किया।

किसी प्रकार उस बार अरविंद अपने को कानून के चंगुल से बचा पाये, मामले में उन्हें निष्कृति मिली।

इस समय वह अपने घनिष्ठ बंधु और सहकर्मी राजा सुबोध

मल्लिक के घर में निवास करते थे। सद्यःमुक्त हुए नेता की संवर्धना के लिए रवीन्द्रनाथ एक दिन वहाँ जा पहुँचे। गले मिलकर अभिनंदन कर चुकने के बाद कवि ने हास्य-व्यंग्य की सरस शैली में कहा, किन्तु आपने तो मेरे श्रम को व्यर्थ कर दिया है—अर्थात् अरविंद की रिहाई के परिणामस्वरूप अब उनकी कविता अप्रासंगिक रह गई।

अरविंद ने हँसते हुए कहा, "अधिक दिनों तक के लिए नहीं।" अर्थात् राजकोप का अवसर आनेवाला ही है,—कवि की कविता निरर्थक नहीं होगी।

यह बात सत्य प्रमाणित हुई। विप्लवकारी तरुण वर्ग के साथ, उनके नेता के रूप में अरविंद को गिरफ्तार कर लिया गया। अलीपुर बमकांड का प्रसिद्ध मुकदमा चला। इस मामले ने अरविंद के जीवन का महत्तम अध्याय उस दिन उद्घाटित कर दिया। उनके अध्यात्म जीवन का रूपांतर उपस्थित करने में यह महान् सहायक सिद्ध हुआ। एक ईश्वरीय निर्दिष्ट विधान के रूप में ही यह मामला सामने आया।

अरविंद के जीवन के प्रत्येक स्तर को देखने पर एक निष्काम कर्मयोगी के महिमामंडित रूप का अवलोकन ही प्राप्त होता है। उनके दांपत्य जीवन में भी एक अद्भुत संयम एवं निर्लिप्तता का भाव देखा जाता है। जिस दिव्य चेतना को लेकर वह उद्बुद्ध हुए थे, जिस धर्म का जीवन में उन्होंने वरण किया था, उसी की सहायिका बनने के लिए उन्होंने धर्मपत्नी मृणालिनी देवी का आह्वान किया।

अपनी पत्नी को इस समय अरविंद ने लिखा: 'हमारा यह विश्वास है कि भगवान ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा एवं विद्या और जो भी कुछ धन दिया है, सब भगवान का ही है; जितने से परिवार का भरण हो सके, जितनी अनिवार्य आवश्यकता हो उतना अपने लिए खर्च करने का हमें अधिकार है। जो कुछ बाकी बचे वह सब फिर भगवान को ही सौंप देना उचित है। हम यदि वह सब

अपने स्वार्थ के हित, सुख के लिए, भोग-विलास के लिए खर्च करें तो हम निश्चय चोर सिद्ध होंगे।…इस दुर्दिन में समस्त देश हमारे द्वार पर आश्रय के लिए खड़ा है। हमारे तीस कोटि भाई-बहन इस देश में हैं, उनमें अधिकांश भूखों मरते हैं। बहुत से लोग दुःख-कष्ट से जर्जर होकर किसी प्रकार सांस ले रहे हैं। उनकी देख-भाल करनी होगी। यह बतलाओ, इस विषय में क्या तुम मेरी सहधर्मिणी बन सकोगी ?"

देशोद्धार और जनकल्याण के आदर्श के साथ-साथ इस प्रसंग में प्राण की गूढ़तम इच्छा का उल्लेख करने में भी उन्होंने कोई त्रुटि-संकोच नहीं किया। अध्यात्म-मुक्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने पत्नी को लिखा : "जिस किसी प्रकार से हो, भगवान का साक्षात्कार करना ही होगा। ईश्वर यदि हैं तो उनसे साक्षात्कार करने का कोई-न-कोई रास्ता होगा ही। वह मार्ग चाहे कितना ही दुर्गम हो, मैं उसे पकड़ कर चलने का दृढ़ संकल्प ले चुका हूं। हिन्दूधर्म कहता है—अपने ही शरीर में, अपने ही अन्तःकरण में वह पथ खुला है। जाने के विधि, नियम भी दिखला दिये गये हैं—उन सभी विधि-विधानों का, यम-नियमों का पालन करना आरम्भ कर दिया है। एक मास के अन्दर ही मैंने अनुभव किया कि हिन्दूधर्म की बात मिथ्या नहीं। जो-जो लक्षण बताये गये हैं उन सबों की उपलब्धियां मुझे मिलती जा रही हैं। अभी मेरी इच्छा है कि तुम्हें भी इस पथ पर ले चलूं।"

यह देखा गया है कि अपनी स्वतः प्रेरणा और कर्मानुष्ठान के बल से ही बड़ौदा-जीवन काल में बहुत कम समय में ही उन्हें साधन-अनुभूतियां उपलब्ध होने लगी थीं। इसी से पत्नी के निकट अपने अंतर्जीवन की मर्मकथा को इस समय खुलकर वह कह सके और साथ-साथ उन्हें भी इस नूतन जीवन की अंश-भागिनी बनने के लिए आह्वान करने में चूके नहीं.

पति और पत्नी के बीच, मालूम पड़ता है धीरे-धीरे एक अपूर्व

सामंजस्य स्थापित हो गया था। दोनों के बीच एक दिन की रसोज्ज्वल मिलन-गाथा का वर्णन किये बिना यह प्रसंग अधूरा रहेगा। राजा सुबोध मल्लिक के घर में अरविंद उन दिनों वास करते थे। कलकत्ते का राजनैतिक जीवन उन दिनों अत्यन्त विक्षोभमय था। मुक्ति-संग्राम का नूतन आदर्श और आध्यात्मिक प्रेरणा लेकर उन दिनों अरविंद राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रद्वार पर आ खड़े थे। चारों ओर अविलम्ब चालू होने-वाले संघर्ष की उत्तेजना फैली थी। ऐसे ही एक कर्म-मुखर दिन में, अरविंद के श्वसुर महाशय भूपालबाबू अरविंद को रात्रि-भोजन के लिए निमंत्रण दे गये। वह यह भी कह गये थे कि उनकी कन्या मृणालिनी देवी अरविंद से मिलने के लिए ही कलकत्ते आई है, इसलिए रात में उन्हें वहीं टिकना होगा।

सुबोध मल्लिक के घर के अंतःपुर-वासियों के बीच आनन्दोल्लास मुखरित हो उठा। पति-पत्नी के आसन्न मिलन का संवाद पाकर सबको अपार आनन्द मिला। महिलाएँ अरविंद की साज-सज्जा संजोने में जुट पड़ीं। धप-धप सजा-धुला कुर्ता और चुन्नटदार धोती मँगाई गई। बेले की फूलमाला भी आ गई। अरविंद इधर चुप खड़े मीठी हँसी हँस रहे थे। उत्साहित होकर सभी उन्हें सजाने-सँवारने लगे। श्रीयुत चारुदत्त ने इसका मनोरम चित्र दिया है—

"जब वह कमरे से बाहर निकले तो इन्हें सजे-धजे भव्य रूप में देखा गया। सबसे आकर्षक थी उनकी सलज्ज स्मित रेखा जो अधर के एक कोने में खिंच आई थी। हम सब तो बहुत पहले से ही उन्हें दामादबाबू के वेश में देखने की प्रतीक्षा में खड़े थे।"

"लीलावती (चारुबाबू की स्त्री) ने आगे आकर उनके हाथ में दो मालाएँ रख दीं और बोली : "एक माला आप दीदी के गले में डालेंगे और दूसरी माला आपको दीदी पहनायेंगी। इसे भूलेंगे नहीं।"

अरविंद ने मीठी हँसी हँसते हुए जवाब दिया : "आप जैसा बता रही हैं मैं ठीक वैसा ही करूँगा लीलावती!"

सुबोध मल्लिक महाशय ने भी बार-बार अरविंद से अनुरोध किया

कि उनको रात-भर वहीं विश्राम करना होगा। दरबान से भी कह रखा कि देखो, फाटक बन्द कर रखना, घोष साहब उस रात नहीं लौटेंगे।

दूसरे दिन सबेरे सब ने विस्मय के साथ देखा, अरविन्द नित्य की भांति आज भी मल्लिक-निवास में चाय के टेबुल पर उपस्थित हैं। पिछली रात को ही वह वापस आ गये। बाहर फाटक बन्द रहने के कारण दीवाल फांद कर उन्हें भीतर आना पड़ा।

उत्साही बन्धु-बांधवों ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। अन्त में अरविन्द ने कहा : "तब सुनिये, अनेकविध चर्व्य-चोष्य भोजन के बाद ग्यारह बजे रात को ही मैं यहाँ वापिस आ गया। और, लीलावती! तुमने जो मालाएँ दी थी उस सम्बन्ध में तुम्हारी आज्ञा का मैंने अक्षरशः पालन किया।"

सब ने बड़ी व्यग्रता से प्रश्न किया : "तो आप मध्य रात्रि में ही क्यों भागे चले आये? ऐसी बात तो नहीं तय हुई थी।"

अरविन्द के मुख और नेत्र सहास्य हो उठे : बोले; "मैंने उसको सारी बातें समझा दीं; उसने मुझे लौटने की अनुमति दे दी, और फिर मैं चला आया।" ››

स्वामी के लिए तितिक्षामय जीवन-यापन करती हुई भी मृणालिनी देवी उनके उत्तर-जीवन-काल की साधना में अंशभागिनी नहीं हो सकीं। असमय ही काल का झोंका आया और उनके जीवन की दीप-शिखा बुझ गई। अरविन्द के बंगाल छोड़ने के नौ वर्ष बाद ही उन्होंने अन्तिम सांस ली।

मृणालिनी देवी को मृत्यु के पूर्व श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी शारदा-मणि देवी का आश्रय एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ। श्रीयुत चारुदत्त को भेजे गये एक पत्र में, इस सम्बन्ध में श्रीअरविंद ने अपनी स्वभाव-सिद्ध आंतरिकता के साथ लिखा था, "मुझे यह जानकर अत्यन्त सुख मिला कि मेरी स्त्री साधना के फलस्वरूप ऐसा महत् आश्रय प्राप्त कर सकी।"

श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द के प्रति बहुत पहले से अरविंद अत्यधिक श्रद्धालु थे। 'धर्म' नाम की पत्रिका में उन्होंने परमहंसदेव के सम्बन्ध में लिखा : "जो पूर्ण युगधर्म के प्रवर्तक हैं और जो अतीत अवतारियों के समष्टिस्वरूप हैं उन्होंने भविष्य के भारत को नहीं देखा या इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा, इस बात पर मेरा विश्वास नहीं। हमलोगों की यह निश्चित धारणा है कि जो बात उन्होंने मुख से नहीं कही उसे वह कार्य द्वारा सम्पन्न कर गये हैं। भविष्यत् भारत के यह प्रतिनिधि थे स्वामी विवेकानन्द। बहुत से लोग सोचते हैं कि स्वामी विवेकानन्द का स्वदेशप्रेम उनका स्वतः स्फूर्त अवदान था। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह समझ में आ जाता है कि उनका वह स्वदेशानुराग उनके परम पूज्यपाद गुरुदेव का ही वरदान था।

"वह (स्वामी विवेकानन्द) जन्मजात वीर पुरुष थे, वीरता उनका स्वभाव-सिद्ध गुण था। श्रीरामकृष्णदेव उनसे कहा करते, 'तुम तो वीर ठहरे।' वह जानते थे कि उनके भीतर जिस शक्ति को उद्भिन्न ज्योति-कणिकाओं में भुवनभास्कर की अजस्र किरणें बिखेरती रहेंगी, हमारे तरुणवर्ग को भी इस वीरत्व का साधन करना होगा। उन सबों को किसी की कोई परवाह किये बिना देश का कार्य संपादित करना होगा एवं अहरह इस भगवद्वाणी को स्मरण-पथ में जागृत रखना होगा 'तुम तो वीर ठहरे !"

इसी समय 'धर्म' नामक पत्रिका में 'भारतेर प्राणपुरुष श्रीरामकृष्ण' शीर्षक प्रबन्ध में श्रीअरविंद ने लिखा था, "विगत पाँच सौ वर्षों के अन्तराल में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के समान दूसरा महान् पुरुष पृथ्वी में अवतीर्ण नहीं हुआ है।"

अलीपुर-बमकाण्ड के मुकदमा के पहले अरविंद के वासस्थान में जोर की खाना-तलाशी हुई। इस प्रसंग में एक मजे की घटना घटी।

उन दिनों श्रीरामकृष्णदेव के ऊपर अरविंद अत्यन्त श्रद्धाशील थे। उनके बहुत से लेखों में इन ब्रह्मज्ञ पुरुष की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। साथ ही, दक्षिणेश्वर से कुछ पवित्र मिट्टी लेकर उन्होंने अपने घर में बड़ी श्रद्धा से ला रखी थी। पुलिस इसे बम का कोई मसाला समझ कर संदेह में पड़ गई।

श्रीअरविंद ने लिखा है, "छोटे से कार्डबोर्ड के बक्से में दक्षिणेश्वर की जो मिट्टी सुरक्षित थी, पुलिस आफिसर मि० क्लार्क ने उसे बड़े संदेह की भावना से देखा-भाला। उसे संदेह था कि यह कोई भयंकर विस्फोटक पदार्थ है। क्लार्कसाहब का सन्देह बिलकुल निराधार था, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु अन्त में जाकर यही निष्कर्ष निकला कि यह मिट्टी के सिवा और कुछ नहीं है और इसे रासायनिक विश्लेषण करने वालों के पास भेजना सर्वथा अनावश्यक है।

दक्षिणेश्वर की पवित्र मृत्तिका में जो इस युग की विस्फोटक-शक्ति अंतर्निहित थी, इसका अध्यात्म-प्रभाव जो दूर-दूर तक फैलने वाला था—अरविंद का इस पर अखण्ड विश्वास था। पर यह आवश्यक था कि उन दिनों भारतवर्ष के बहुत कम लोग इस कथन का तात्पर्य और गुरुत्व समझ पाते।

अलीपुर बमकाण्ड का मामला शुरू हुआ। परन्तु तब तक निष्काम कर्मयोग के साधक श्रीअरविंद ने बाह्य-जीवन के सारे कर्म-कलापों और झंझटों से अपने को बिलकुल एकबारगी अलग कर लिया था। उनके अंतर में विराजमान थी, परम प्रशांति और निर्लिप्त भावना।

इस समय कारागार की कोठरी में रहते समय जो अलौकिक अनुभूति उनके जीवन में उद्घाटित हुई, वह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण थी।

उन्होंने लिखा है, "यहाँ की तंग कोठरियों की दीवालें मेरी संगी-साथी थीं। नजदीक आकर, ब्रह्ममय होकर ये मुझे आलिंगन करने को उद्यत थीं....फुलवाड़ी की दीवाल से सटा एक पेड़ था, उसकी

नेत्ररंजक हरीतिमा मन-प्राण को जुड़ाती रहती। छः डिग्रियों के छः घरों के सामने जो संतरी घूमने निकलते उनके चेहरे और उनकी पग-ध्वनि किसी घनिष्ठ बन्धु के चेहरे और घूमने-फिरने की गतिविधि के समान प्रिय प्रतीत होते। पड़ोस के ग्वाले जेलघर के सामने से होकर गाय चराने निकलते; ये गायें और चरवाहे नित्य-प्रति के प्रिय दृश्य थे। अलीपुर निर्जन कारागार में मैंने अपूर्व प्रेम-शिक्षा पाई।"

इस जेल के बाद उनकी अध्यात्म-सत्ता में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। कारागार के बाहर भी चारों ओर का वायुमण्डल और भीतर के सब कुछ भी जैसे सजीव एवं चैतन्यमय हो उठे हों। उन्हें इस जेल में ही अपने वासुदेव का साक्षात्कार हुआ।

प्रसिद्ध उत्तरपाड़ा-अभिभाषण में श्रीअरविंद ने अपनी इस कारागार की अतींद्रिय अनुभूति का वर्णन करते हुए कहा है : "उसके बाद उन्होंने (भगवान् कृष्ण ने) मेरे हाथ में गीता रख दी। उनकी शक्ति मेरे भीतर प्रवेश कर गई और मैं गीता की साधना का अनुसरण करने में सक्षम हो गया। बुद्धि-बल से तो समझ में नहीं आया, परन्तु अनुभूति और उपलब्धि के भीतर से जान पड़ा कि श्रीकृष्ण अर्जुन से क्या अपेक्षा करते थे।"

"मैं पैदल घूमता रहा। उस समय उसकी शक्ति पुनः मुझमें प्रवेश कर गई। जिस जेल ने मुझे मानव-जगत से अलग कर रखा था, उसकी ओर मैंने आंख उठाई तो देखा, मैं अब जेल की ऊँची-ऊँची दीवालों से घिरा नहीं था। मेरे चारों ओर घेरकर खड़े थे स्वयं वासुदेव।"

कंस के कारागार में भगवान् वासुदेव अवतीर्ण हुए थे। और उस दिन अंग्रेज के बंदीगृह में अरविंद के अंतर्लोक में उद्भासित हो उठी उन्हीं वासुदेव भगवान की चैतन्यमयी सत्ता। उनकी दृष्टि उस दिन खुल गई। चारों ओर जो कुछ वह देखते, सब परम चैतन्य से परिपूर्ण था। ईंट-पत्थर, जेल का लोहे का फाटक; सभी सजीव एवं प्राणवंत हो उठे। चारों दिशाओं में एक अलौकिक आलोक स्फुरित हो

रहा था। जेल के कैदियों से लेकर मामले के वकील, न्यायाधीश तक जो कोई थे, सभी सच्चिदानन्दमय हो उठे; जितने जो कुछ थे सब में विश्वात्मा का प्राणस्पंदन था।

इस समय की अभिज्ञता के सम्बन्ध में और भी उन्होंने कहा—"कभी-कभी तो यह भासित होता कि जैसे भगवान् इन पेड़ के नीचे आनन्द की बांसुरी टेर रहे हैं। कभो मालूम होता कि आकर खड़े हैं और माधुरी छवि दिखाकर मेरे हृदय को बरबस खींचे जा रहे हैं। बहुधा यह बोध होता कि कोई मुझे अपनी भुजाओं में भर रहा है। कभी होता कि कोई मुझे गोद में लिये बैठा है। इन भावों का विकास मेरे मन और प्राण पर छा गया। कैसी दिव्य और निर्मल शांति विराज रही थी, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। प्राण के मेरे कठोर आवरण जैसे खुल गये हैं।"

नव-उद्घाटित अध्यात्म का यह अखण्ड स्रोत अरविंद की जीवन-धारा को प्रशस्त बना गया। उनमें देश-प्रेम की जो तीव्र शिखा थी उसे मानवता के सार्वजनीन बोध ने रूपांतरित कर दिया।

श्रीअरविंद के इस नूतन रूप को परखने में प्रतिभावान "कौन्सेलर" श्री चित्तरंजनदास की दृष्टि पीछे नहीं रही। मुकद्दमे में बहस करते समय इस साधक राजबंदी के जीवनादर्श की व्याख्या करते हुए ओजस्वी भाषा में उस दिन उन्होंने जो मंतव्य प्रगट किया उसमें देववाणी की दिव्यता संकेतित थी।

विचारपति मि० बिचक्रफट् के सामने खड़े होकर श्री चित्तरंजन-दास ने श्रीअरविंद के सम्बन्ध में कहा : "जब कि यह वितंडा, कोलाहल और आंदोलन का क्षोभ समाप्त हो जायगा। उसके बहुत दिनों के बाद भी, इनके अंतर्धान हो जाने के बहुत बाद भी, मानवसमाज इन्हें स्वदेश-प्रेम के महाकवि, जातीय जीवन के प्रवर्त्तक और मानव-प्रेमी कह-कर श्रद्धा ज्ञापन करेगा। इनके तिरोधान के बहुत दिनों के बाद भी इनकी वाणी केवल भारतवर्ष की सीमा में ही नहीं, सागर के दूर दिगंत में भी गूँजती होगी।"

पीछे चलकर चित्तरंजन की यह उक्ति सत्य सिद्ध हुई।

कारागार में रहते समय श्रीअरविंद को दो दिव्य आदेश वचन प्राप्त हुए। वह इसी वाणी की प्रत्याशा में कब से उन्मुख हो रहे थे। उन्होंने इस निबंध में उल्लेख किया है, "योगसिद्धि के लिए मैं अनेक दिन चेष्टा करता रहा और अन्त में मुझे वह कुछ अंशों में उपलब्ध भी हुई। किन्तु सबसे अधिक जिस वस्तु को मैं चाहता था, वह मिल नहीं रही थी, मुझे संतोष कैसे हो सकता? उसके बाद जेल की निःसंगता के बीच, निर्जन शैल की गुफा में मैंने हठात् उसे पाया। मैं पुकार उठा—"प्रभु, मुझे तुम अपना आदेश दो; मैं नहीं जानता कि मुझे क्या काम करना होगा, किस प्रकार करना होगा। मुझे अपनी आदेश-वाणी सुना दो।"

इस प्रार्थना के बाद श्रीअरविंद को इस समय दो दिव्य आदेश वाक्य प्राप्त हुए। एक में आदेश था कि राष्ट्र के पुनरुत्थान में सहायक बनो, और दूसरे में कहा था, आध्यात्मिक भारत की ईश्वर-निर्दिष्ट भाव-भूमिका की कथा लिखो। श्रीअरविंद ने स्वयं इस दिव्यवाणी की वर्णना में कहा है—"इस एक वर्ष के एकांतवास में तुम को ऐसा कुछ दिखलाया गया है जिसके सम्बन्ध में तुम्हें कुछ सन्देह शेष था और वह है हिन्दू-धर्म की मौलिक सत्यता। इस धर्म को मैंने संसार के सामने उपस्थित कर रखा है। ऋषि, संत, अवतार आदि के माध्यम से इस धर्म को मैंने सर्वांग सुन्दर रूप में गढ़-मढ़ कर प्रस्तुत कर दिया है, और अब यह धर्म सभी जातियों के बीच मेरे निर्दिष्ट काम करने को चल पड़ा है। अपनी दिव्य-वाणी के विस्तार के लिए ही मैंने इस देश-जाति का गठन किया है। यही सनातन धर्म है, तुम इस धर्म के वास्तविक पक्ष को पहले नहीं जानते थे। किन्तु अब मैंने तुम्हारे निकट इसे प्रकट कर दिया है। जब तुम बाहर जाओगे तब अपने देश व जाति को सर्वदा यह वाणी सुनाना कि सनातन धर्म के लिए ही उनका उद्भव हुआ है अपने लिए नहीं, सम्पूर्ण जगत के कल्याण के लिए ही उनका विकास हुआ है। मैं उन्हें स्वाधीनता अवश्य दूँगा पर वह भी संसार की कल्याण-सेवा के लिए।

इसी ईश्वरीय वाणी की प्रेरणा से श्रीअरविन्द का समस्त उत्तर-कालीन जीवन प्रभावित होता रहा।

जेल से छूटने के बाद श्रीअरविंद 'कर्मयोगिन्' और 'धर्म' इन साप्ताहिकों के द्वारा अपने आदर्श का प्रचार करने लगे। स्वाधीनता-संग्राम और अंग्रेजी सरकार की दमन-नीति, दोनों ही उस समय प्रचंड रूप धारण कर रहे थे। उसी प्रकार श्रीअरविंद के अन्तर्जीवन में भी क्रांतिकारी रूपान्तर साधित हो रहा था। आध्यात्मिक नेतृत्व की नवीनतर भूमिका को लेकर वह अग्रसर हो रहे थे। राजनैतिक जीवन से अपने को विलग करते हुए शनैः शनैः आध्यात्मिक जीवन की अमृत-सत्ता में वह निमज्जित हो गये।

इसके बाद उनके जीवन में एक नूतन पट-परिवर्तन हुआ। राज-नैतिक आन्दोलन का नेतृत्व और कलकत्ते के कर्ममुखर जीवन को छोड़-कर कुछ दिन वह चंदननगर में गुप्तवास करने चले गये। उसके बाद वह पांडिचेरी में आ उपस्थित हुए। श्रीअरविंद के अन्यतम सहकर्मी रामचन्द्र मजुमदार ने उनके कलकत्ता छोड़ने की कहानी का वर्णन किया है।

उन्होंने लिखा है : "मुझे अनेक सी० आई० डी० वालों के यहाँ से यह पता चला कि श्रीअरविंद को शीघ्र गिरफ्तार किया जायगा। इसकी भी पूरी सम्भावना है कि शमशुल आलम की हत्या के मामले के सिल-सिले में उनके नाम से वारंट जारी किया जाय। यह संवाद मुझे और भी दो स्थानों से प्राप्त हुआ। खबर मिलते ही मैं कृष्णकुमारबाबू के घर दौड़ गया एवं श्रीअरविंद को इसकी सूचना दी। उन्होंने बड़ी धीरता से यह खबर सुनी और मुझे साथ लेकर 'कर्मयोगिन्' के कार्यालय पहुँचे।

"पहले जामिन होने वाले को ठीक कर रखने का विचार हुआ। फिर बोले—"निवेदिता कहाँ है, इसकी खबर लेकर आओ।" मैं निवेदिता के घर गया। उनके साथ पहले से ही परिचय था। बड़ौदा में उनके साथ पहले-पहल बातें करने का अवसर मिला था। निवेदिता ने उन्हें स्वामी-

जी की 'राजयोग' पुस्तक भेंट में दी। अरविंदबाबू कहा करते—इस पुस्तक को पढ़कर ही उन्हें हिन्दूदर्शन की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। भगिनी निवेदिता 'कर्मयोगिन्' में प्रबन्ध लिखती। जिस समय अरविंदबाबू चंदननगर में गुप्त वास कर रहे थे उस समय निवेदिता ही पत्रिका चलाती थी।........जो हो, भगिनी निवेदिता से जाकर पूरी घटना कह सुनाई।

"उन्होंने सुनकर कहा, "तुम लोग अपने नेता से अपने को छिपाकर रखने को कहो। इस गुप्तवास के बाद वह अपनी अन्तर्वर्ती शक्ति के द्वारा सहयोगियों के माध्यम से बहुत कुछ कर सकने में समर्थ होंगे।"

पीछे चलकर एक दिन अरविंदबाबू ने मुझे कहा था—"माँ काली ने ही उस दिन भगिनी निवेदिता के माध्यम से आत्मगोपन का आदेश दिया था।........"यह संवाद लेकर मैं आफिस लौटकर आया। अरविंद-बाबू बोले—"अच्छा, तब और सब व्यवस्था करो।"

"गंगा के घाट पर पहुँचने के पहले बोसपाड़ा लेन में अरविंदबाबू भगिनी निवेदिता के वासस्थान पर जाकर उनसे मिले।........मालूम पड़ता है निवेदिता के साथ उन्होंने 'कर्मयोगिन्' के संचालन के संबंध में कुछ विचार किया। उस बातचीत के समय मैं वहाँ उपस्थित नहीं था।"

श्रीअरविंद चंदननगर में कुछ समय तक गुप्तवास करते रहे। उसके बाद समुद्र-मार्ग से पांडिचेरी पहुँचे।

चंदननगर में रहते समय ही देखा गया, उनके मानस-लोक में इस बीच एक विराट् परिवर्तन हो गया है। बहिर्जगत की सारी हलचलों एवं सांसारिक धूलि-झंझा से बहुत ऊपर एक अपूर्व औदासीन्य एवं निर्लिप्तभावना के साथ वह विराजमान हैं। बीच-बीच में अतीन्द्रिय जगत के बंद द्वार, न मालूम किसी प्रकार, एक-एक कर खुलते जा रहे हैं। रहस्यमय अनेक प्रकार के ज्योतिर्मय अक्षर मानस-पट पर जैसे उमड़ आते हों।

इस समय श्रीयुत मतिलाल राय के घर में वह छिपे-छिपाये वास

करते थे। एक दिन मतिलालबाबू के कौतूहलपूर्ण प्रश्न के उत्तर में बोले, "कितनी ही ज्योतिर्मय लिपियाँ केवल मेरे ही आगे क्यों उद्भासित हो उठती हैं, इसका अर्थ निकालने को चेष्टा में लगा हूँ।"

और, एक दिन उन्हें यह कहते सुना गया, "अदृश्य सूक्ष्म जगत में जो सब देवता हैं उनमें अनेक के आकार स्फुरित हो रहे हैं। अक्षरों की भाँति ये सब आलोक मूर्तियाँ भी अर्थ-व्यंजक हैं—ये कुछ बतलाना चाहती हैं, उन्हें ही स्पष्ट जानने की चेष्टा कर रहा हूँ।"

ज्योतिर्मय अतीन्द्रिय जगत के कपाट इस बार खुल पड़े। वहाँ के अनेक इंगितों, अनेक संकेत-निदर्शनों का परिचय साधक अरविंद को बीच-बीच में मिलता रहता था।

१९१० ई० में ४ अप्रेल को श्रीअरविंद पांडिचेरी जा पहुँचे। राज-नैतिक ध्वंस-निर्माण की उन्मादना, संसार के बंधन, आत्मीय बंधुओं का आकर्षण–सब कुछ छोड़-छाड़ कर वह अपनी साधना में निमग्न हो गये। अब आरम्भ था पूर्वनिश्चित महाजीवन की एकांत साधना का। पांडिचेरी के सागर-तट पर उनका अभिनव योगाश्रम स्थापित हो रहा था।

अपनी योगलब्ध सिद्धि के प्रभाव से देश को मुक्त कर सकेंगे और मानव-जाति के आध्यात्मिक विकास की सम्भावना को सार्थक बना सकेंगे—यह था उनके अन्तर का दृढ़ विश्वास।

श्रीयुत मतिलाल राय को उन दिनों उन्होंने एक पत्र में लिखा: "इस बात को समझ रखने की चेष्टा करना,—जो काम हम करना चाहते हैं उसका परिणाम तब तक इस वैषयिक जगत में फलप्रद सिद्ध नहीं हो सकेगा जब तक हमारी अष्टसिद्धियाँ उस कोटि तक नहीं पहुँचेंगी जिसके प्राचुर्य बल से इस वस्तु तत्ववादी मर्त्य जगत में हम कल-मशीनों के सारे काम सम्पन्न न कर सकें।"

साधना के क्षेत्र में और भी गंभीरता से प्रवेश कर चुकने पर श्रीअरविंद के जीवन में जिस प्रकार का आध्यात्मिक रूपान्तर उपस्थित हुआ उसी प्रकार उनके दार्शनिक जीवनवाद ने भी नूतन रूप ग्रहण

किया। मानव समाज को दिव्य जीवन के आदर्श ग्रहण करने का आह्वान उन्होंने किया।

१९१८ ई० में पांडिचेरी से 'आर्य' नाम की एक पत्रिका प्रकाशित हुई। प्रधानतः इसी के माध्यम से श्रीअरविंद ने अपने आदर्श जन-चैतन्य के समक्ष उपस्थित किये।

महासाधक की तपस्या का प्रभाव अब दूर-दूर तक विस्तृत हो चुका। पांडिचेरी के इस साहाय्य-संपदा-वंचित परिवेश में भी श्रीअरविंद-आश्रम गठित हो चला था। विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक उनका दार्शनिक मतवाद एवं दिव्य वाणी का प्रभाव विस्तार पाता गया।

श्रीअरविंद ने अपने दर्शन-तत्त्व की व्याख्या की है अपने अविस्मरणीय अवदान 'लाइफ डिवाइन' नाम के ग्रन्थ में। दिव्य जीवन की वाणी एवं आदर्श को इस ग्रन्थ के द्वारा उन्होंने प्रसारित किया।

इस 'दिव्य जीवन' में उनके दार्शनिक तत्त्वों का निवेश है और 'पूर्ण योग' में उन्हीं तत्त्वों के व्यावहारिक प्रयोग की दिशा निर्देशित है। 'लाइफ डिवाइन' ग्रन्थ में उन्होंने दिव्य जीवन की बातें बतलाई हैं और तत्त्वों का विश्लेषण किया है। अपने 'सिन्थेसिस आफ योग' नाम के ग्रन्थ में पूर्णांग अथवा समन्वयात्मक योग की पद्धति उन्होंने बतलाई है।

अरविंद-दर्शन विवर्तन क्रिया की भित्ति पर अवलम्बित है। प्रवृत्ति की चरम और परम परिणति की बातें बतलाते हुए वह कहते हैं : "मन और प्राण जिस प्रकार जड़ होते हुए भी मुक्ति पाते हैं उसी प्रकार समय पर सृष्टि के अन्तराल में निहित भागवती सत्ता की महात्तर शक्तियाँ आवरण भेद कर फूट उठेंगी और परात्पर की महाज्योति हम लोगों के बीच अवतीर्ण होगी।" उनके मत से, पृथ्वी में इसी प्रकार अतिमानस का एक महाप्रकाश उद्भासित हो उठेगा।

नवीन मानव जाति की कथा, नवीन मानस उपादान, मुक्त मनुष्य की कथा इससे पहले अन्य मनीषियों एवं दार्शनिकों ने कही थी

अवश्य, किन्तु अरविंद ने यह घोषित किया कि प्रकृति के मध्य में ही यह साधना-प्रणाली अवस्थित है। यह अंतर्निहित रूप में ही नहीं है, क्रियाशील भी है। मानव की चेष्टा और साधना द्वारा अतिमानस का अवतरण अथवा श्रेष्ठतर एवं महत्त्व विवर्तन शीघ्रता से संपादित हो जा सकता है।

जिस त्याग-तितिक्षा और अनलस कर्मसाधना के बीच श्रीअरविंद का साधन-जीवन सफल हो उठा, उसका ज्ञान बहुतों को नहीं है। साधन-जीवन के इस संघर्ष के सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक पत्र में दिलीपकुमार राय को लिखा था—

"यह बात अत्यंत ही आश्चर्य की है कि मैंने अतिमानस-सिद्ध के उपयुक्त मानसिक धृति लेकर ही जन्म तो लिया, पर मुझे जीवन की कठोर वास्तविकता के सम्मुख आने का प्रसंग नहीं आया। किन्तु परमात्मा ही जानता है कि मेरे सारे जीवन में ही चलता रहा है वास्तविकता के विरुद्ध एक अविच्छिन्न संग्राम। इंगलैंड-जीवन के नानाविध दुःख—कष्ट एवं अनशन से शुरू कर पांडिचेरी—जीवन की अनेक घोरतर असुविधा–विपदाओं के बीच चलकर मैंने जीवन-यात्रा की है—बाहरी जीवन एवं अन्तर्जीवन, दोनों क्षेत्रों में बहुत सी विघ्न-बाधाएँ सिर उठाती रही हैं।

"मेरा जीवन बराबर संघर्ष-विशेष ही बना रहा, और आज जो मैं यहाँ दोमंजिले पर बैठा अपनी अध्यात्म-शक्ति और अन्यान्य बहिरंग शक्ति के बल से संघर्ष जारी रखता चल रहा हूँ' उससे मेरे इस युद्ध के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया है। फिर भी यह सत्य है कि यह सब कथा मैंने ऊँचे स्वर से चिल्ला-चिल्ला कर कभी नहीं कही। इसी से बाहर रहनेवाले किसी समालोचक के मन में स्वभावतः यह बात आ सकती है कि मैं चाकचिक्य-भरे कल्पनामय किसी भाव-लोक में विचरण करता हूँ'जहाँ वास्तव-जीवन की कठोरता की कतई गुंजाइश नहीं, किन्तु क्या यह बहुत बड़ी भूल नहीं है?"

परम उपलब्धि का इशारा मात्र देते उन्हीं के नाम वह एक पत्र में

लिखते हैं "किन्तु वर्षों तक प्रतिदिन पाँच-छह घंटे एकाग्र चिंतन के फल से मेरे भीतर भागवती शक्ति का अवतरण घटित हुआ, यह सब गल्प-कथा तुमसे कहा किसने, बतलाना तो ? यदि एकाग्र चिंतन को ही कठोर एवं प्रयासशील ध्यान कहते हैं तो यह समझ लो मेरे जीवन में कोई ऐसी बात घटित नहीं हुई है। जो मैं नियमित रूप से करता हूँ वह तो है चार-पाँच घंटों तक प्राणायाम। हाँ, यह एक अलग क्रिया है।"

"और कौन सी ऊर्ध्वलोक की धारा की बात तुमने कही है ? कविता का स्रोत तो तब उमड़ पड़ा जब मैं प्राणायाम करता था। कुछ वर्षों से वैसा भी कुछ नहीं। यदि अनुभूति के प्रवाह की बात कहते हो तो वह आया था मेरे चिर दिन तक चलने वाले प्राणायाम को बन्द करने के बाद जब मैं निष्क्रिय होकर बैठा था--इस प्रकार की सभी प्रचेष्टाओं के विगल होने के बाद किस दिशा में प्रयास आरंभ करूँ, जब यह स्थिर नहीं कर पाया था।"

"उसके अतिरिक्त यह तो बहुत वर्षों के प्राणायाम के फलस्वरूप नहीं उद्भासित हुआ था, वरन् उस समय यह एक गुरु की कृपा से नितांत अद्भुत रूप में सहज भाव से ही संप्राप्त हुआ था। केवल गुरु की कृपा ही कहूँ तो यह भी उतना ठीक नहीं होगा—कारण, वह गुरु स्वयं भी इस भाव के प्रकटीकरण को देखकर अत्यन्त विस्मय में पड़ गये थे। यह तो परम ब्रह्म वा महाकाली अथवा श्रीकृष्ण की कृपा से ही संभव हो सका था।"

श्रीअरविंद की उदार स्तुति संवर्धना १९०८ ई० में ही विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के कंठ से उद्गीथ हुई थी। १९२८ ई० के साक्षात्कार के समय कवि ने उसी प्रशस्ति को रूपायित होते देखा। उस दिन के इस दर्शन का चित्रण कविवर अपनी अनुपम भाषा में वर्णित कर गये हैं—"पहली ही दृष्टि में मुझे मालूम हो गया कि इन्होंने आत्मा को सर्वापेक्षा सत्य करके देखा है और सत्य के स्वरूप में पाया है। उनकी इस दीर्घ तपस्या-साधना के चाहने-पाने की इच्छा-प्रक्रिया द्वारा इनकी सत्ता ओत-प्रोत है। मेरा मन कहता है यह अपने अंतर की ज्योति जलाकर ही बाहर का आलोक जलाएँगे। यह

अपने अंतर में ऋषि पितामह की यह वाणी अनुस्यूत कर चुके हैं, 'युक्तात्मनः सर्वमेवाविशन्ति'। योग की परिपूर्णता में सब के बीच प्रवेश का अधिकार मिल जाता है—जो आत्मा का सर्वश्रेष्ठ अधिकार है।

मैं उन्हें कह आया कि, "आत्मा की वाणी वहन करके आप हमारे बीच उतरेंगे, इसकी प्रतीक्षा में खड़ा रहूँगा। उस वाणी में भारत का आमंत्रण ध्वनित होगा:—'शृण्वन्तु विश्वे'।" तपोवन में शकुन्तला का पहली बार उद्‌बोधन हुआ था यौवन के अभिघात से, प्राण के चांचल्य से। दूसरी बार के तपोवन में उसका विकास हुआ था आत्मा की शांति से। अरविंद को उनके यौवन के प्रारंभ में क्षुब्ध आंदोलन के बीच जो मैंने तपस्या के आसन पर बैठा देखा तो उस समय उन्हें पहले-पहल अपना अभिवादन अर्पित किया—'अरविंद ! रवीन्द्रेर लह नमस्कार…! आज उनको देखा है द्वितीय तपस्या के आसन पर आसीन एकांत, शांत और अव्यग्र शुद्ध अवस्था में—आज भी उन्हें मन-ही-मन प्रणाम अर्पित कर आया—'अरविंद ! रवीन्द्रेर लह नमस्कार।'

१९५० ई० की ५वीं दिसंबर को इस संघर्षशील महाजीवन के चिरविश्राम का दिन आया। इस नश्वर पांचभौतिक शरीर को सब दिन के लिए छोड़कर श्रीअरविंद दिव्यधाम के लिए अंतर्हित हो गये। मुक्ति की जो अत्युग्र साधना प्रथम जीवन में अपने राजनैतिक संग्राम के माध्यम से आरंभ हुई थी, मानवात्मा की परममुक्ति के मार्ग से वही साधना उस दिन महाप्रस्तरण में संपूर्ण हो गई।

●

संतदास बाबाजी

सन् १८९३ का माघ महीना। प्रयाग संगम पर कुम्भ-मेला प्रारम्भ हो गया है। चारों ओर सहस्र-सहस्र साधु-संन्यासियों की जमातें और छावनियाँ फैली हुई हैं। इन्हें घेरकर लक्ष-लक्ष भक्त-दर्शनार्थियों की भीड़ उमड़ रही है। ताराकिशोर चौधरी भी अपने एक बन्धु के साथ इस पवित्र मेला में तीर्थाटन के लिए आ पहुँचे हैं। कलकत्ता हाईकोर्ट के शिखरस्थ कानूनवेत्ता के रूप में उनकी ख्याति है। दानव्रती, धर्मनिष्ठ और मनस्वी समाज-नेता के रूप में भी उनकी यश-प्रतिष्ठा कम नहीं थी। किन्तु आज व्यावहारिक जीवन की किसी भी सम्पत्ति का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। उनकी सारी सत्ता अब ईश्वर-दर्शन के लिए ही एकान्त भाव से आकुल एवं उन्मुख हो उठी है।

इसके लिए सबसे पहले चाहिए सद्‌गुरु की कृपा। किन्तु अभी तक किसी ब्रह्मज्ञानी गुरु के आश्रय-ग्रहण का सत्-सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हो सका है। बहुत दिनों से इसी खोज में लगे हैं। कुम्भ-मेला के पुण्य-क्षेत्र में आकर ताराकिशोर के मन में केवल यही भावना रह-रहकर उमड़ रही है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुषों से निषेवित इस महासंगम में क्या उनके प्रार्थित गुरु नहीं मिल सकते? क्या भगवान यों ही विमुख रहेंगे?

प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी को ताराकिशोर बहुत पहले से ही जानते हैं। दोनों में परस्पर प्रेम-भाव भी यथेष्ट है। स्वामीजी का तम्बू सामने ही था। बहुत से शिष्य और भक्तजनों के साथ वे बैठे दिखाई पड़े। ताराकिशोर ने उनके दर्शन किये, चरणधूलि का स्पर्श

किया। आशीर्वाद देकर स्वामीजी बोले—"ताराकिशोरबाबू, बहुत अच्छा हुआ जो आप यहाँ आ गये। इस पुण्यस्थली में अनेक महात्मा और महापुरुष पधारे हैं। किसी की शुभ दृष्टि एक बार पड़ी तो उद्धार हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं।" गोस्वामीजी की यह स्निग्ध-मधुर वार्ता ताराकिशोर चौधरी के अन्तर-मर्म पर जैसे शान्ति का प्रलेप चढ़ा गई हो।

ताराकिशोर के एक साथी मित्र के बड़े भाई अभयनारायण राय श्रीरामदास काठियाबाबा के शिष्य थे। इस समय वह गोसाँईजी के तम्बू में ठहरे थे। अभयबाबू बड़े उत्साह से ताराकिशोरबाबू को अपने गुरुजी के दर्शनार्थ साथ ले गए। वृद्ध साधु के मस्तक पर विशाल श्वेत जटा थी, शरीर लावण्यश्री से मण्डित था, मुख पर स्मित की शुभ्र-रेखा विराजमान थी। दण्डवत कर चुकने के बाद खड़े ताराकिशोर की ओर अंगुलि संकेत करते हुए बाबाजी बोले—"वृन्दावन में तो इनको देखने का अवसर हुआ था।"

ताराकिशोर कुछ मास पहले वृन्दावन गये थे अवश्य, पर उस महात्माजी के साथ भेंट हुई हो, ऐसा कुछ याद नहीं आ रहा था। वह कुछ चकित-विस्मित से हो रहे थे। किन्तु कुछ क्षण के बाद ही तो उनके आश्चर्य की कोई सीमा न रही। काठियाबाबा महाराज के पद-प्रान्त को घेरे बहुत-से भक्त बैठे थे। सहसा महापुरुष ताराकिशोर की ओर उन्मुख हुए और न जाने क्यों, किसी विशेष निगूढ़-तत्त्व की व्याख्या सुनाने लगे। आश्चर्य की बात यह थी कि इसी विशेष प्रसंग को लेकर कलकत्ता रहते समय ताराकिशोर के मानस में आलोड़न-प्रत्यालोड़न चलता रहता। इसके सिवा कुछ मास पहले एक निशीथ रात्रि में यही प्रश्न उनके अन्तर को अत्यन्त मथित कर गया था। प्राण-पण से चेष्टा करने पर भी उस दिन इस प्रश्न का समाधान वह नहीं कर पाया था। उसके निगूढ़ सार्थक जीवन की इस रहस्यमयी पहेली को फिर काठियाबाबा ने किस प्रकार भाँप लिया? तो क्या यह वास्तव में सर्वज्ञ महापुरुष हैं। क्या सचमुच ही भगवान ने कृपापूर्वक उसे एक

ब्रह्मज्ञानी महापुरुष के आश्रय में उपस्थित करने का सौभाग्य प्राप्त कर दिया है?

किन्तु दूसरे ही दिन एक संवाद सुनकर ताराकिशोर का सारा उत्साह ढीला पड़ गया। उन्होंने सुना, काठियाबाबा कुल मिलाकर केवल चार ही शिष्य बनानेवाले थे, और वह संख्या पूरी भी हो गई। अब और नवीन में कोई दूसरा शिष्य बनानेवाले नहीं हैं। ताराकिशोर अत्यन्त ही उदास हो बैठे। किन्तु एक अद्‌भुत घटना घटित हुई। दूसरे ही दिन बाबाजी की छावनी में प्रवेश करते ही वह महापुरुष उनको लक्ष्य कर हँसते-हँसते कह उठे, "हमारे तो पाँच-छः चेले हैं। योग्य पात्र मिले तो अब भी उसको अपना शिष्य बना लेता हूँ"—उपर्युक्त अधिकारी मिले तो बाबाजी महाराज को और भी चेला बना लेने में कोई अवरोध नहीं, ताराकिशोर को निराशा के अन्धकार में प्रकाश की रेखा दिखाई पड़ी। आशा की सूखती लता में नयी कोंपले उगते नजर आये। सबसे आश्चर्य की बात तो यह रही कि बाबाजी महाराज को उन्होंने अपनी ओर से कभी कुछ प्रश्न नहीं पूछा था, पर जिज्ञासित उत्तर एक-एक कर मिलता जा रहा था।

कुम्भ-मेले से लौटकर घर जाने के दिन ताराकिशोर काठियाबाबा को प्रणाम करने गये। बाबाजी महाराज हठात् कह उठे, "ताराकिशोरबाबू चैत मास में वृन्दावन आकर उन्हें दर्शन दें।" किन्तु चैत महीने में हाईकोर्ट में कोई अवकाश नहीं। असुविधा की यह बात सुनकर महापुरुष बोल उठे, "घबराओ मत, तुमको महावीरजी वहाँ जरूर ले चलेंगे।"

सचमुच चैत मास में एक ऐसा सुअवसर आ भी गया। ताराकिशोर बाबाजी के आश्रम वृन्दावन धाम में आ पहुँचे। पर वे यहाँ पहुँचने पर एक विचित्र परिस्थिति में पड़ गये। उन्होंने सोचा था कि आश्रम में, अपनी साधनभूमि में, वे काठियाबाबाजी को वास्तविक रूप में देख पायेंगे। उन्होंने कल्पना की थी कि शान्त और समाहित शंकर की तरह

साधक का पवित्र रूप उनकी आंखों के सामने आयेगा। परन्तु आश्रम पहुंचने पर तो उक्त बाबाजी का इन्होंने एक निराला ही रूप देखा। यह रूप देखकर वे निराश हुए बिना नहीं रह सके।

बाह्य आचरण और प्रकट स्वभाव की दृष्टि से देखने पर बाबाजी पक्के विषयी व्यक्ति मालूम पड़ते थे। यही नहीं, उनमें गँवारपन का दोष भी था। बाबाजी खुद ही बाजार-सौदा करने जाते और साग-सब्जी का बोझा ढोकर ले आते थे। और किसी के ऊपर जैसे उनका भरोसा ही नहीं हो, व सब्जी-जैसे तुच्छ विषय पर भी किसी का विश्वास ही न कर पाते हों, ऐसा ही मालूम पड़ता था। हिसाब में अगर किसी से एक पैसे की भी भूल हो जाय तो वे उस व्यक्ति की चौदह पीढ़ियों का उद्धार किये बिना नहीं रहते। गाली देना आरम्भ कर देते थे। वृन्दावन आये हुए व्यक्ति के पैसे-दो पैसे के चढ़ावे को भी वे सोत्साह स्वीकार करते। अगर ज्यादा मिल जाय तो फिर उनकी प्रसन्नता की सीमा ही नहीं रहती।

बाबाजी का सबसे बड़ा अड्डा रास्ते के किनारे था। वह आश्रम से ज्यादा दूर भी नहीं था। इस अड्डे पर भांग और गांजा का दम लगाने के लिये आये भक्तजनों में चोर, डकैत और बदमाशों की संख्या ही अधिक रहती थी। सुअवसर पाने पर बाबाजी के नाम पर राहियों से थोड़ा चन्दा-चन्दा वसूल कर लेना उनका काम था। बाबाजी भी सामने बैठे हँसते और मगन होते दीखते थे। जो कुछ पैसे हाथ आते उन्हें किस तरह सुरक्षित रखा जाय, इसी के लिये बाबाजी पूरे उद्विग्न और चंचल दीखते थे।

आश्रमवासियों के साथ भी बाबाजी की जो बातचीत होती उसमें आध्यात्मिक बातें बहुत कम ही रहती थीं। चीजों के दाम बढ़ रहे हैं, आज अमुक स्थान के महाराजा आनेवाले हैं, कौन आदमी कितना देने वाला मालूम होता है, कितने आदमियों को आज भण्डारा देना पड़ेगा, इन्हीं सब बातों में वे रस लेते दीखते थे। जो यात्री पैसे कम

चढ़ाते या जो नहीं चढ़ाते उनकी आलोचना और निन्दा में ही बाबाजी का अधिक समय कट जाता था।

बाबाजी का यह आचरण और ऐसे व्यवहार सचमुच रहस्य से भरे हुए थे। बेचारा ताराकिशोर तो इसे देखता और उसकी भक्ति और श्रद्धा पर घड़ों पानी पड़ जाता। मन में अनेक शंकायें आती-जाती रहतीं। ये तो इतने बड़े विषयी मालूम पड़ते हैं? परन्तु फिर बड़े-बूढ़े साधु-संन्यासी इनको इतनी प्रतिष्ठा देते हैं? सुना था कि सम्पूर्ण भारत के साधक समाज में इनका एक बड़ा स्थान है, सबों के मस्तक इनके आगे झुकते हैं, सब इनसे दबते हैं? परन्तु ऐसा हो भी कैसे सकता है?

एक दिन किसी आध्यात्मिक बात की चर्चा चल रही थी तब ताराकिशोर ने एक तर्क पर बहुत दृढ़ता के साथ जोर दिया। बाबाजी ने इस पर एक गंवार की तरह अपने दोनों हाथ जोड़ दिये और बोले, "बेटा! हम बुड्ढा आदमी है। सास्तर का बात नहीं बूझता। तुम हमको समझा दो।" ताराकिशोर आश्चर्य के मारे देखते ही रह गये!

काठियाबाबा का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्ष करने में ताराकिशोर बिल्कुल असफल रहे। कभी वे सोचते, यह सभी ऊपरी व्यवहार हैं। बाबाजी एक नाटक खेल रहे हैं। इस पर्दे के पीछे बाबाजी का ब्रह्मज्ञानी स्वरूप छिपा हुआ है। परन्तु बहुधा ताराकिशोर के मन में यही बात आती कि यह बाह्यस्वरूप ही असल है, इनका ब्रह्मज्ञानी होना एक ढोंग भर है। अंत में इस संकल्प-विकल्प से तग आकर ताराकिशोर ने निश्चय किया कि अब वे इस बात पर कुछ सोचेंगे ही नहीं। इसके अतिरिक्त, अगर सचमुच ताराकिशोर को इन्हें समझने की दिव्यदृष्टि नहीं, और अगर भाग्य में इन्हीं का शिष्य होना बदा है तो क्या शिष्य बना लेने के लिए वे स्वयं ही अपना प्रकृत स्वरूप समझाने की कृपा नहीं करेंगे?

इसी बीच बाबाजी ने एक दिन ताराकिशोर को स्पष्ट शब्दों में अपना निर्णय बता दिया। उन्होंने कहा कि इस बार वे ताराकिशोर

को शिष्य नहीं बना सकेंगे। श्रावण के महीने में ताराकिशोर को एक बार और आना पड़ेगा। परन्तु इस बार वे अपनी स्त्री को भी अपने साथ लायेंगे। दोनों को एक साथ ही दीक्षा दी जायगी।

ताराकिशोर ने सोचा कि चलो अच्छा ही हुआ। बाबाजी के ऊपर अभी तक मेरा सुदृढ़ श्रद्धा-विश्वास हुआ ही नहीं है। इस कारण अगर शिष्यत्व-ग्रहण का समय कुछ महीनों के लिए टल गया तो यह ठीक ही होगा। इतना समय पाकर वे अपने मन को प्रस्तुत कर किसी स्थिर निश्चय पर पहुंचने में सफल होंगे।

ताराकिशोर कलकत्ता लौट आये। किन्तु उनके अन्तर की तीव्र व्याकुलता और दहन ज्वाला का कोई विराम नहीं। कहाँ से किस परम शुभ घड़ी में उनके जीवन में ईश्वरीय निर्देशानुसार सद्गुरु आविर्भूत होंगे, यह उन्हें कौन बता सकेगा?

आषाढ़ मास की निशीथ रात्रि। साधन-भजन की समाप्ति के बाद ताराकिशोर घर की छत पर सोए हुए थे। हठात् नींद टूट गई और वे शय्या पर उठ बैठे। सामने दृष्टिपात करते ही उन्होंने जो दृश्य देखा उससे उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने देखा, आकाश-मार्ग होकर काठियाबाबा का ज्योतिर्मय स्वरूप समक्ष आकर उपस्थित है। व्याकुल चित्त ताराकिशोर को बड़े स्नेह से आश्वासन की वाणी द्वारा प्रबोध दे रहे हैं। क्षणभर के बाद ही उनके कान में एक मन्त्र प्रदान कर महापुरुष आकाशमार्ग से कहीं अन्तर्धान हो गये!

जिस प्रकार यह अलौकिक आविर्भाव, उसी प्रकार का यह विलक्षण दीक्षा-भाव। बाद के दिनों में ताराकिशोर ने गुरुदेव के उस दिन के आविर्भूत होने की घटना का वर्णन स्वयं किया है—"श्रीयुत बाबाजी महाराज के अन्तर्धान होने के बाद ही मैं अनुभव करने लगा कि मेरे अन्तर में, अन्तर के एक-एक स्तर में उनके द्वारा दिया गया मन्त्र प्रविष्ट हो गया है एवं उनके सम्बन्ध में जो सब संशय अंकुरित हुए थे वे

सद्यः एकबारगी विनष्ट हो गये हैं। मैं अनुभव करने लगा कि उसी मुहूर्त से मेरा जीवन धन्य हो गया, एवं मुझे अभिलषित सद्गुरुजी की उपलब्धि हो गई।"

उसी श्रावण मास में वृन्दावन जाकर काठियाबाबा के निकट उन्होंने सस्त्रीक दीक्षा ग्रहण की। बाबाजी महाराज ने अलौकिक भाव से कलकत्ते में आविर्भूत होकर जो मंत्र उन्हें प्रदान किया था, इस बार यहाँ उसी मंत्र को फिर अनुष्ठानिक पद्धति से विधिवत् उन्हें ग्रहण करवाया। साथ ही, उन्होंने कहा कि इस मंत्र का निरंतर जप करने की आवश्यकता उन्हें नहीं पड़ेगी, यह मंत्र स्वतः स्फूर्त होता रहेगा।

सर्वज्ञ महाशक्तिधर गुरु द्वारा आरोपित यह बीजमंत्र अंकुरित ही नहीं हुआ प्रत्युत् एक विराट् वनस्पति तरु के रूप में परिणत हो गया। साधक ताराकिशोर वैष्णवाचार्य संतदास महाराज के रूप में विख्यात हो चले। बहुत से भक्त एवं मुक्तकामी इनके आश्रय को पाकर कृतार्थ हुए। व्रजमंडल के महान् महन्त के रूप में काठियाबाबा की अध्यात्मसाधना के उत्तराधिकारी रूप में क्रमशः इनका अभ्युदय देश-व्यापी हो उठा।

श्रीहट्ट जिले के हरिगंज अंचल के अंतर्गत 'बामई' नाम का एक ग्राम। इसी ग्राम के बनेदी (?) जमींदार चौधरी घराने में संतदास बाबा ने जन्म ग्रहण किया था। धर्मनिष्ठ चौधरी परिवार की बड़ी ख्याति थी। कहते हैं, इन्हीं के एक पूर्व पुरुष ने हिमालय जाकर दीर्घ तपस्या के बाद शक्तिसाधनापूर्वक सिद्धि प्राप्त की थी। हरकिशोर चौधरी इस वंश में एकमात्र वैष्णव हुए। शुद्धाचारी और तेजस्वी पुरुष कहला कर इनकी प्रसिद्धि कुछ कम नहीं थी। चौधरी महाशय की पत्नी गिरिजासुन्दरी भी अत्यन्त साध्वी और गुणवती थी। इन्हीं के पुत्र रूप में संतदासजी १२४९ ई० के १० जून, शुक्रवार को पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। बालक का नाम रखा गया ताराकिशोर। धनी परिवार में बड़े आदर-यत्न से आचारनिष्ठा वातावरण में इनका लालन-पालन हुआ।

पर नौ साल की छोटी अवस्था में ही इन्हें मातृवियोग का शोक वहन करना पड़ा।

ताराकिशोर ने जिस वर्ष प्रवेशिका परीक्षा दी थी उसी वर्ष उनका विवाह कर दिया गया। पत्नी श्रीमती अन्नदा देवी विख्यात विशारद-वंशीय हरचन्द्र भट्टाचार्य की कन्या थी, सुतरां पितृकुल के बहुत कुछ परम्परागत सद्‌गुण उनमें वर्तमान थे। फलतः पीछे चलकर साधक ताराकिशोर चौधरी की उपयुक्त सहधर्मिणी के रूप में अपने को वह सर्वदा चरितार्थ कर सकीं।

प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद ताराकिशोर कालेज की पढ़ाई के लिए कलकत्ता आये। श्रीहट्ट के सुन्दरीमोहन दास, विपिनचन्द्र पाल प्रभृति उन दिनों छात्र ही थे। एक ही 'मेस' में रहकर वे सब पढ़-लिख रहे थे। बंगाल के समाज-जीवन एवं राजनीति में नवीन जीवन का उत्स फूट रहा था। मनस्वी, उन्नतचेता ताराकिशोर इसमें योगदान न दें, यह कैसे सम्भव था? जनकल्याण साधन, कुसंस्कारविरोधी संघर्ष, ब्राह्म-समाज का आन्दोलन—इन समस्त कार्यों में जो लोग अग्रणी थे उनमें इस तरुण का अन्यतम स्थान था। डा० सुन्दरीमोहन दास ताराकिशोर की इस समय की जीवनगाथा का वर्णन करते हुए लिखते हैं, "राजनैतिक या सामाजिक कोई भी क्षेत्र हो उसमें यह गणतांत्रिकता के पक्षपाती थे। भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज जिस समय एक मात्र केशवचन्द्र सेन के अनुशासन-सूत्र में आबद्ध हो रहा था, ताराकिशोर ने कूचबिहार के विवाह प्रतिवाद सभा में इस समाज के विरुद्ध 'अलबर्ट हाल' में प्रबल तर्क उपस्थित किया था। तरुण दल में सर्वप्रथम प्रायः वही एकमात्र ब्रह्म-समाज की कार्यकारिणी समिति के सदस्य हुए थे।"

ताराकिशोर के ब्राह्मसमाज में योगदान की बात सनातनधर्मी पिता हरकिशोर को अत्यन्त असह्य थी। उनकी उत्तेजना इस कोटि की थी कि वे एक बार क्षिप्त हो उठे। एक बार तो वह कलकत्ता आकर पुत्र को काटने-मारने पर उतारू हो गये। ताराकिशोर ने उस
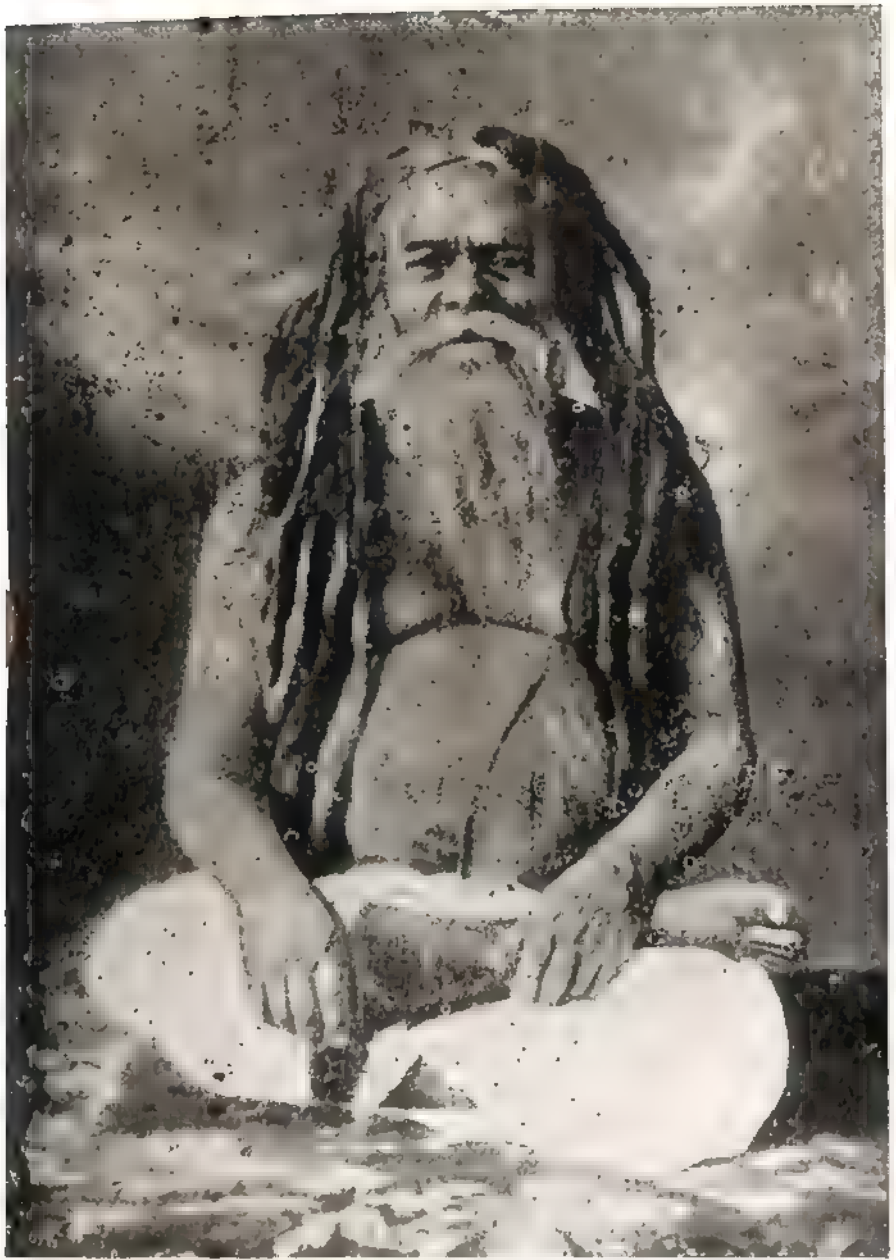
संतदास बाबाजी

दिन दृढ़ किंतु प्रशांत कंठ से क्रुद्ध पिता को सूचित किया कि "मेरा शरीर आप के द्वारा उत्पन्न है सही, किंतु मेरी आत्मा आप के द्वारा उत्पन्न नहीं हुई है। आप जब चाहें इस शरीर को विनष्ट कर दे सकते हैं, किंतु जिस पथ से मैं अपनी आत्मा का कल्याण देखता हूँ उसे किसी प्रकार त्याग नहीं सकता।" पिता और पुत्र के बीच आदर्श को लेकर यह कलह कुछ दिन चलता रहा।

इस बीच जीवन के विविध संघर्ष और कर्मव्यस्तता के रहते हुए भी ताराकिशोर एम०ए० की परीक्षा पास कर चुके। रायचंद-प्रेमचंद वृत्ति के लिए भी वह इसके बाद प्रस्तुत होने वाले थे। इसके लिए जो मेधा और श्रमनिष्ठा अपेक्षित थी वह उन में पूरी मात्रा में वर्तमान थी, किंतु अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों में उलझे रहने के कारण इस में सम्मिलित होने का विचार उन्हें छोड़ना पड़ा। बाद में चलकर अध्यापन एवं अन्य अनेक जनकल्याणकारी कार्यों में उन्होंने अपने को लगा दिया।

ताराकिशोर को एक बार इसी बीच काशी जाना पड़ा। पिता हरकिशोर वहाँ जाकर अत्यन्त अस्वस्थ हो गये और तार देकर पुत्र को उन्होंने बुला भेजा था। कुछ दिनों के भीतर ही हरकिशोर अच्छे हो गये। इसके बाद वह इस चिन्ता में व्यस्त हो गये कि इस पुण्य तीर्थ में कौन-सा उपाय किया जाय जिससे पुत्र की मतिगति में परिवर्तन संभव हो सके। इस संबंध में वे बिलकुल चुप बैठ गये हों ऐसी बात नहीं थी।

पिता के सगे-संबंधियों एवं मित्र-बन्धुओं के साथ ताराकिशोर को इस समय अनेक देवालयों में जाना पड़ता था, समर्थ साधु एवं योगी संन्यासियों के दर्शन के सिलसिले में भी उन्हें बाहर जाना होता था। महायोगी तैलंग स्वामी एवं भास्करानन्दजी के सानिध्य-लाभ का सौभाग्य भी ताराकिशोर को इसी समय मिला। ब्राह्म-समाज के इस तरुण के हृदय में इन दोनों योगीश्वरों के दर्शन से एक विचित्र प्रकार का विचार-मंथन चलने लगा। विस्मय-विमुग्ध

होकर वह सोचने को विवश हो रहे थे कि किस साधना के बल से ये महापुरुष इस प्रकार की अलौकिक शक्तियों के अधिकारी बने हैं, वे कौन सी क्रियाएँ हैं जिनके अनुष्ठान से ये इन्द्रियातीत जगत की बातों को इस मानव लोक में इस प्रकार सहज भाव से अतिवाहित कर सके हैं !

अन्तःकरण के इस आलोडन और दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के प्रसंग की चर्चा करते हुए ताराकिशोर ने स्वयं कहा है, "जितना ही मैं आदोलन करने लगा उतना ही हिंदू धर्म के व्यवहार विषयक कर्मकांड शास्त्र के प्रति मेरी श्रद्धा और बढ़ने लगा। ब्राह्मसमाज में सम्मिलित होकर मैंने ये सब जो कुछ परित्याग कर दिये वे हमारे लिए संगत नहीं हुए—इस प्रकार की धारणा क्रमशः दृढ़ होने लगी।"

ताराकिशोर के ब्रह्मसमाजी बन्धु इस समय गुप्त रूप से एक योगी सम्प्रदाय में जाकर साधन करने लगे थे। इनके शिक्षादाता का नाम था जगतचन्द्र सेन। ताराकिशोर ने भी उनके निकट जाकर मन्त्र ग्रहण किया, आसन-प्राणायाम आदि का अभ्यास आरम्भ किया। साधन के द्वारा कुछ अनुभूति का लाभ उन्हें नहीं हुआ, ऐसी बात नहीं। किन्तु कुछ समय बीतते-बीतते उन्हें जान पड़ा कि यह सम्प्रदाय और इसकी साधना-पद्धति उन्हें अधिक दूर पहुँचा सकने में समर्थ नहीं। जिस ब्रह्मदर्शन के लिए उनकी अन्तरात्मा व्याकुल हो उठी थी उस दिशा में यहाँ कोई उनकी सहायता नहीं कर पाएंगे, इसे समझने में उन्हें देर नहीं लगी। प्राणायाम और ध्यानधारणा वह भली भाँति चला रहे थे, पर अन्तर की पिपासा का निवृत्त होना तो दूर रहा क्रमशः वह बढ़ती ही चली गई।

इस बार उनके जीवन में एक और मजे का संकट उपस्थित हुआ। हिन्दू समाज से पहले ही निष्कासित हो चुके थे, वहाँ वापिस जाने का पथ रुद्ध था ही। ब्रह्मसमाज का आकर्षण अब विलुप्त हो चुका था। वहाँ ऐसे कौन ब्रह्मज्ञानी थे जो उनका पथ-प्रदर्शन करते। इसके सिवा, जब आस्था ही नहीं रही तो ब्रह्म-समाज के साथ

सम्पर्क बनाये रखने की आवश्यकता ही क्या रही ? सीटी कॉलेज में उस समय ताराकिशोर अध्यापन-कार्य करते थे। ब्राह्म-समाज की भावना और आदर्श के प्रचार के लिए ही प्रधानतया इस शिक्षा-केन्द्र की स्थापना हुई थी। अन्तर का सम्बन्ध-सूत्र ही जब विच्छिन्न हो गया तब इस कालेज में अध्यापकपद पर बने रहना उन्हें अच्छा नहीं जँचा। ताराकिशोर ने इसी कार्य से इसका परित्याग कर दिया। इस पदत्याग के कारण उनके जैसा सङ्गतिहीन युवक के दिन कितने कष्ट में कटते इसका कोई ठिकाना नहीं। किन्तु चरम अर्थकृच्छ्रता में रहकर भी वे उन दिनों कभी विचलित नहीं हुए।

इसके बाद कानूनी व्यवसाय का पर्व आरम्भ होता है। अध्यापन करते हुए भी ताराकिशोर ने कानून का अध्ययन जारी रखा। इस समय तक कानूनी शिक्षा पूरी हो गई थी। पिता के विशेष आग्रह पर उन्होंने श्रीहट्ट में वकालत शुरू की। प्रतिष्ठा और धन अर्जित करने में उन्हें विशेष समय नहीं लगा। बहुत थोड़े समय में वह सर्वजनप्रिय हो गये। पीड़ितों की सेवा के कार्य में, हरिसभा की अध्यात्म चर्चाओं में अथवा नगर-कीर्तन में कहीं भी ताराकिशोर के बिना कोई काम चलनेवाला नहीं। कानूनी व्यवसाय एवं सामाजिक तथा धर्ममूलक विविध कार्य-कलापों की विविध व्यस्तता के बीच भी वह अपना साधन-भजन नियमित रूप से चला रहे थे। इन्हीं दिनों अपने प्रभावशाली पिता के प्रयत्न से वह हिन्दू समाज में पुनर्वार गृहीत हुए।

१८८८ साल में ताराकिशोर ने कलकत्ता हाईकोर्ट में प्रैक्टिस आरंभ की। अपनी कर्मठता और प्रतिभा के बल पर धीरे-धीरे यहाँ के कानून-व्यवसायियों में एक विशिष्ट स्थान ग्रहण करते उन्हें देर नहीं लगी किन्तु व्यावहारिक जीवन में भले ही जो कुछ परिवर्तन हुआ हो किन्तु अध्यात्मजीवन की फल्गु-धारा उनके जीवन में अव्याहत रूप से प्रवाहित होती रही। बहिरंग जीवन के सभी कर्मों, सभी कर्तव्यों के अन्तराल में ताराकिशोर ने जीवन के मूल तथ्यों को धीरता के साथ क्रमशः और

अधिक आग्रह और जोर से अपनाते हुए आगे बढ़े।

योग-साधन की जिस पद्धति का आजतक उन्होंने अनुगमन किया था वह उनको शान्ति तृप्ति देने में समर्थ नहीं हो रही थी। इस काल के सम्बन्ध में ताराकिशोर का कहना था कि मैंने जिस साधन का अवलम्बन लिया था उसकी शक्ति प्रकाशित हो रही है, इसका मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया था। साथ ही, इसके द्वारा एक प्रकार के भावावेश की जो अवस्था उदित होती थी वह अत्यन्त मधुर थी, इसका अनुभव भी अनेकों बार मिल चुका था। कभी-कभी तो इस अर्जित शक्ति के द्वारा केवल दृक्पात करने से ही कुछ रोगियों को रोगमुक्त करने का अवसर भी मिला है। मेरे दर्शन मात्र से हिस्टीरिया रोगी की मूर्छा चली गया, इस प्रकार की भी घटना घटित हुई। एवं मेरा स्पर्श करते ही बहुत से लोगों को भावाविष्ट होकर मूर्छित पर्यंत होते प्रत्यक्ष देखा गया है। किन्तु ये सब शक्तियां मेरे लिए आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मदर्शन का द्वार उद्घाटित नहीं कर सकीं। अतएव इस साधन के अवलम्बन में अपना अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, इसकी मुझे निश्चित रूप से धारणा हो गई। इसलिए मुझे अन्य उपयुक्त गुरु का आश्रय ग्रहण करना होगा—यह मन में दृढ़ निश्चय कर लिया। सुतरां जिन्होंने यथार्थ में ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया है एवं जिन की कृपा से ब्रह्म साक्षात्कार का लाभ कर सकूँ ऐसे सद्गुरु की शरण में आश्रय पा सकना मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतएव सद्गुरु लाभ की चिन्ता में दिन-रात मैं निमग्न रहने लगा।"

ताराकिशोर की गुरु-प्राप्ति की व्याकुलता क्रमशः अत्यन्त तीव्र हो उठी। उन्होंने सुन रखा था, आकाशगंगा पहाड़ पर गोस्वामी विजयकृष्ण को सद्गुरु की प्राप्ति हुई थी। आकुल ताराकिशोर के मन में केवल यही चिन्ता थी कि वांछित परम धन की प्राप्ति कहाँ होगी? किस के निकट वह आश्रय लेंगे? संसार त्याग कर परिव्राजन एवं

तीर्थ परिक्रमा के लिए बाहर रहने पर भी इस समय उन्होंने फिर एक बार दृढ़ संकल्प लिया। अनेक कारणों से उसमें भी बाधाएँ आ पड़तीं।

ताराकिशोर प्रायः प्रत्यह गंगा-स्नान किया करते। गंगा तट पर बैठ कर ध्यान, जप और प्रार्थना निवेदन में उनका बहुत-सा समय बीत जाता १८९१ ई० का ग्रीष्म समय। एक दिन संतप्त चित्त से वह घाट पर बैठे थे। हठात् अन्दर की प्रबल वेदना और क्रन्दन-व्यथा उनके अन्तर को मथित करने लगी। वह गंगा मैया को संबोधन करते हुए अश्रु गद्गद कंठ से कहने लगे, "माँ गंगे! त्रितापनाशिनी कलुषहारिणी कह कर आपकी प्रसिद्धि है। किंतु माँ, क्या मेरा पाप इतना दुर्भर है कि तुम्हारी त्रैलोक्यपावनी धारा भी उसे शुद्ध नहीं कर सकती?"

वेदना के ये उद्गार अभी पूरे भी नहीं हुए थे कि ताराकिशोर की दृष्टि के सामने एक अलौकिक दृश्य भासित हो उठा। इस प्रसङ्ग का वर्णन करते हुए उन्होंने स्वयं कहा है, 'मैंने देखा कि मेरी दृष्टि के आगे हिमालय का वह मूलगंगोत्री स्थान, जहाँ से गोमुखी धारा फूटती है, सहसा उद्भासित हो उठा एवं वहाँ पर विराजमान उमा-महेश्वर का दिव्य स्वरूप दृष्टिगोचर हुआ। विस्मित होकर मैं उस स्थान को एवं देवाधिदेव को देखने लगा। नमस्कार करना भी भूल गया। इसके बाद महेश्वर एक एकाक्षरी बीज मंत्र का उपदेश देकर ऐसा कुछ आदेश कर गये कि इस मंत्र जप के द्वारा यथार्थ सद्गुरु मुझे उपलब्ध हो सकेंगे।"

यह अप्राकृत दृश्य क्षण भर के बाद ही अंतर्हित हो गया। ताराकिशोर का हृदय इस समय अनिर्वचनीय स्वर्गीय आनंद से ओत प्रोत हो गया था। पथ-प्रदर्शक ब्रह्मज्ञ गुरु इस बार उसके जीवन में वास्तव में मिल कर ही रहेंगे, इस विषय में अब कोई संदेह नहीं रहा। इसके बाद तीन वर्षों के अभ्यंतर सद्गुरु उनके जीवन में आविर्भूत हुए। ब्रह्मज्ञ महापुरुष काठियाबाबा महाराज के निकट दीक्षा प्राप्त कर वह कृतार्थ हो गये।

दीक्षादान के बाद गुरुदेव ने दीर्घ काल तक ताराकिशोर से संसार धर्म का पालन करवाया। कलकत्ता हाईकोर्ट के मुख्य वकीलों में अन्यतम माने जाने लगे और इस कारण उनकी ख्याति-प्रतिपत्ति भी अतिविस्तृत होने लगी। किंतु देखा जाता था कि अहंकार या अर्थ का मोह उन्हें किसी समय कलुषित नहीं कर सका। गार्हस्थ्य जीवन के वातावरण में भी उनका स्वरूप एक अनासक्त मानवसेवी पुरुष के रूप में निखर रहा था।

सांसारिक लाभ और द्वंद-द्वंद्व की विषय वस्तु को लेकर ही कानून-जीवियों का कार्य चलता है। फिर भी आश्चर्य की बात थी कि ताराकिशोर अपने को इससे बिलकुल बेलाग, बेदाग रखते। मामले का 'ब्रीफ' पाकर उनका सबसे पहला काम होता कि मुवक्किल की ओर से इसमें कोई मिथ्या या प्रवंचना की कार्रवाई तो नहीं की गई है। यदि इसका कुछ भी पता चलता तो कागज-पत्र तुरत वहीं लौटा देते। साधारणतः मामले के कागज-पत्र पढ़ने के लिए पूरा पारिश्रमिक लेते और एक-एक अक्षर पढ़कर फिर स्वयं निश्चय करते कि मुकदमा वह अपने हाथ रखेंगे या नहीं। किन्तु एक बार यदि उसे स्वीकार कर लिया तो समस्त मामले के तथ्य, कानूनी निवेश-प्रवेश आदि मुकदमे की तह तक जान लेते थे। समूचा मामला जैसे उनके नखाग्र पर कढ़ा हो, उसी प्रकार त्रुटिहीन भाव से वे अपनी बहस कर पाते।

एकाग्रता, सुतीक्ष्ण विचारशक्ति और गंभीर मननशीलता के बल पर ताराकिशोर अत्यंत सहज भाव से अपने प्रतिपक्षी को परास्त कर देते। कानून के प्रगाढ़ पांडित्य के कारण भी कानून-वेत्ताओं में उनकी असाधारण प्रतिष्ठा थी। सर रासबिहारी घोष उन दिनों आइनजीवियों के बीच अप्रतिद्वंद्वी थे। किसी-किसी मामले के सिलसिले में वह अपने मुवक्किलों से कहते, "इस मुकदमे के लिए मैं बिलकुल प्रस्तुत हूँ—हारने का कोई कारण नहीं देखता हूँ। हाँ, केवल एक बात का भय है, उस ओर से ताराकिशोर काम कर

रहा है।" किसी गम्भीर मामले में बारीक कानूनी बातों के विचार के लिए अपने मुवक्किलों को अनेक बार ताराकिशोर से राय-मशविरा करने का विचार देते थे।

वकील रूप में वे अपने सहकर्मी कानूनजीवियों के बीच ही नहीं, प्रवीण न्यायाधीशों के भी वे अत्यन्त श्रद्धाभाजन थे। हाईकोर्ट में प्रेक्टिस आरंभ करने के समय में ही तथ्य और तर्क युक्ति के धनी तीक्ष्ण बुद्धि वकील के रूप में इनकी बड़ी मर्यादा थी। एक बार न्यायाधीश मि० नरिस के इजलास में एक मामले की सुनवाई चल रही थी। इजलास में ताराकिशोर पहले बहस करने वाले थे। वह कुछ कहने के लिए ज्योंही खड़े हुए कि न्यायाधीश मि० नरिस ने एक सुदीर्घ वक्तृता दे डाली। सारांश यही था कि वकील लोग अनावश्यक लम्बे-लम्बे सवाल पूछ कर किस प्रकार हाकिमों का समय बर्बाद करते हैं, अपना और मुवक्किलों का नुकसान करते हैं आदि आदि। उत्साह में आकर इस अवसर पर तरुण वकीलों को भी नाना प्रकार के सदुपदेश देने में भी वह चूके नहीं।

ताराकिशोर ने मि० नरिस की सारी बातें धैर्य के साथ सुनीं। बाद इसके उत्तर में केवल इतना ही उन्होंने संक्षिप्त भाव में कहा कि, "मि० लार्ड, आपको बहुत-बहुत धन्यवाद! किन्तु अभी तक तो मेरी एक भी बात आपने सुनने का कष्ट नहीं किया।" एक नये वकील के मुँह से यह तीक्ष्ण और संक्षिप्त उत्तर सुनकर जज का चेहरा लाल हो गया। चकित भाव से उन्होंने समझ लिया कि भाषण का सारा असर एक वाक्य में ही काफूर हो गया। दूसरे जज और विज्ञ वकील सभी मुँह पर रूमाल देकर हँस उठे। इसके बाद ताराकिशोर प्रश्न पूछने लगे। कानून और तथ्य का विश्लेषण, युक्ति और तर्क थोड़े शब्दों में, भावाभिव्यंजन की गुंफित शैली इतनी अच्छी थी कि जज अत्यन्त प्रसन्न हुए। क्रमशः यह न्यायाधीश ताराकिशोर की कानूनी व्युत्पत्ति और धार्मिक महत्व को देखकर उनके प्रति आकर्षित हुए बिना नहीं रह सके।

तारािकशोर स्वभावतः उदासीन और साधन-भजन-परायण थे। फिर कैसे वह इस प्रकार श्रमनिष्ठा एवं आन्तरिकता के साथ मुवक्किलों के मामले का काम करते हैं, सोचकर लोगों को आश्चर्य होता। किन्तु ताराकिशोर के पक्ष में इस कार्य–व्यापार में कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। मुवक्किल के काम को भी भगवत्सेवा का ही अंग मान कर वह कार्य करते। इसी से तो मामले के कार्य-संचालन में रंच मात्र भी कभी कोई कमी या त्रुटि इनसे नहीं हुई। जो जूनियर वकील उनके साथ काम करते थे उन लोगों में भी सेवा-बुद्धि, शुद्धता और तत्परता का आदर्श संचारित किए बिना नहीं रहते। सुप्रसिद्ध कानूनवेत्ता व्रजलाल शास्त्री महोदय ने लिखा है, "ताराकिशोर अपने चारित्रिक आदर्श और आध्यात्मिकता के बल पर हाईकोर्ट के वकीलों के बीच जैसे एक नूतन समाजतन्त्र की सूचना दे रहे हैं। उनके पूत चरित्र के स्पर्श-सम्पर्क में आकर अनेक वकील भी उपकृत हुए।"

विपिनचन्द्र पाल महोदय ने अपनी आत्मकथा में ताराकिशोर के व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में लिखा है, "अपने सम-सामयिक कानून-जीवियों में किसी की तुलना में उनका उपार्जन उतना न रहने पर भी वे कानूनवेत्ताओं में अन्यतम माने जाते थे। उनके सहकर्मी लोगों में सर्वोच्च श्रेणी के बहुतों की धारणा के अनुसार वकील के हिसाब से सर रासविहारी घोष के बाद उन्हीं का स्थान था। किन्तु अर्थोपार्जन की दृष्टि से अग्रण्य कानूनजीवियों में वे उतने सफल नहीं थे। उसका कारण यही था कि वकालत के काम के लिए उन्होंने कभी अपने नियमित साधन-भजन में व्याघात नहीं होने दिया।" ताराकिशोर प्रतिभावान् वकील थे, यही उनका प्रकृत परिचय नहीं था। वे चरित्रवान्, आदर्श-निष्ठ वकील थे, यही था इनका वास्तविक परिचय।

साधना का आलोक ताराकिशोर के व्यावहारिक जीवन के विभिन्न स्तरों को उद्भासित किए बिना नहीं रहा। वकालत जैसे व्यवसाय को भी जिस प्रकार उन्होंने भगवत्सेवा का एक क्षेत्र मान

रखा था उसी प्रकार दैनिक गार्हस्थ्य जीवन को भी भगवान का संसार मानकर चलाया करते थे। वे तो थे एक मात्र उनके कार्यवाहक सेवक।

नित्य के सांसारिक कार्यों का झमेला भी कुछ कम न था। एक ओर तो विग्रहमूर्ति की नित्य सेवा, साधु-संतों की अभ्यर्थना एवं अतिथि-अभ्यागतों का भोजन और दूसरी ओर बहुसंख्यक दरिद्र स्वजनों एवं छात्रों का अन्नसंस्थान। इस विराट् दायित्व का भार जिस पर था वह गृहपति अर्थ-संयम की ओर आतुरता भी नहीं रखता। अपने संसार को वह ठाकुरजी का संसार कहता। जितनी आय होती उतना व्यय होता—यही उसके ठाकुरजी के संसार की चिरन्तन रीति थी। इसमें कोई व्यतिक्रम होते ही व्यवस्था और अधिक जटिल एवं अस्वाभाविक हो जाती।

८८ ताराकिशोर की गृहिणी अन्नदा देवी वास्तविक अर्थ में सहधर्मिणी थी। त्याग, तितिक्षा और सेवानिष्ठा पुरस्सर वह बराबर स्वामी के आगे खड़ी रहती। विग्रह-प्रतिमा की चर्चा एवं घर के पोषित वर्गों के परिपालन का गुरुत्वपूर्ण उत्तरदायित्व को देखते हुए उन्होंने एक बार कुछ पैसे संचित कर अपने पास रख छोड़े। इस का फल यह हुआ कि घर के पाक प्रबन्ध के लिए भी अर्थकष्ट अधिक बढ़ चला। लब्धप्रतिष्ठ वकील होने पर भी न जाने क्यों, उस समय ताराकिशोर की आय बिलकुल रुक चली, एक पैसा भी उनके हाथ में नहीं था। उनके विचार में श्रीविग्रह की सेवा और दरिद्र-परिजनों के पोषण में तो इस प्रकार की बाधा होनी नहीं चाहिए थी। वह कुछ आश्चर्य में पड़ गये। उसके बाद खोज लेने पर उन्हें पता चला कि गृहिणी अन्नदा देवी ने एक सौ रुपये एक पोटली में जमा कर रखे हैं। यदि कभी ठाकुरजी की सेवा में पैसों की कमी पड़ी तो उनके लिए कुछ बचाकर अलग रख लिया जाय, यही गृहिणी की चिन्ता कल्पना थी। ताराकिशोर गृहिणी को डाँटकर बोले, "इसी लिए तो ठाकुरजी अभी मुझे रुपये-पैसे नहीं देते। एक बात सदा मन में रखा करो, फकीरी से ईश्वर की प्राप्ति होती है फिकिर से नहीं।"

तारांकिशोर की ससुराल के सम्बन्धी एक सज्जन एक बार कलकत्ते में उनके बासे पर कुछ दिन ठहरे थे। बहुत से दरिद्र आत्मीय और छात्रगण वहाँ रहकर खाते-पीते थे। इनमें बहुत से ऐसे थे जो मनमाने ढंग से रहते और घर वालों की कुछ लिहाज खयाल नहीं रखते। इससे क्रुद्ध होकर उक्त आत्मीय व्यक्ति एक दिन ताराकिशोर के निकट अनेक अभियोग लेकर उपस्थित हुए। ध्यानपूर्वक सारी बातें सुन लेने के बाद ताराकिशोर ने कहा, "आप की सभी बातें सही हैं। किन्तु मुझे कुछ समझ में नहीं आता कि दोष किसका है? उनका या हमारा? मैं तो निमित्त मात्र हूँ। यह पूरा परिवार तो ठाकुरजी का है। वे ही इन लोगों के भोजन-आच्छादन जुटाते हैं, मैं तो स्वयं कुछ नहीं जुटाता। फिर ये हमारी वश्यता स्वीकार करके रहें, ऐसी हमारी इच्छा ही क्यों हो?" शुभचिन्तक आत्मीय सज्जन को उस दिन के बाद और कुछ कहने का फिर साहस नहीं हुआ।

घर के नौकर-चाकर लोगों का अधिकार भी ताराकिशोर की दृष्टि में किसी की अपेक्षा कम नहीं था। नौकर रामलगन एक दिन रसोई-घर में जब खाने के लिए पहुँचा तो देखा कि उसकी थाली में घोल नहीं परोसा गया है। ब्राह्मण रसोइए के साथ झगड़ बैठा और सारा का सारा भात उसने अङ्गनई में जाकर उलट दिया। गृहस्वामिनी अन्नदा देवी इस प्रकार की उद्धतता देखकर नौकर पर बहुत बिगड़ उठी।

ताराकिशोर उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थे। घर लौटकर यह दृश्य देखा तो उन्हें विस्मय हुआ। गृहिणी ने कहा, "यह आप के दुलारे नौकर ने किया है। घोल आज नहीं था, इसलिए उसने क्रोध में आकर बाबेला मचा डाला।"

भृत्य की ओर जब उन्होंने आँख उठा कर देखा तो वह बड़ी कातरता से कह रहा था, "बाबूजी, घोल के बिना इतना भात मैं खा कैसे सकता था?"

ताराकिशोर स्वभावतः उग्र प्रकृति के व्यक्ति थे। फिर जब अन्याय देखते तो एक बार वह आगबबूला हो जाते। घर के सभी लोग उस समय यही सोचते कि इस बार नौकर की खैर नहीं, कौन कहे इस समय क्या न क्या सांघातिक काण्ड घट जा सकता है। किन्तु ताराकिशोर उसी समय मुस्कराते दोतल्ले पर चले गये। उसके बाद पत्नी को बुलाकर कहा, "बच्चों की नोंक-झोंक माँ को सुननी पड़ती है। आज मेरे लिए रखे हुए दूध में से इसके लिए प्रबन्ध कर दो।"

दैनन्दिन सांसारिक जीवन हो चाहे हाईकोर्ट का द्वन्द्वमय वातावरण, ताराकिशोर सहज भाव से अपने को उससे असंलग्न कर लेते थे, एक अंतःप्रवाही आनन्द-स्रोत में अपने को सब समय निमग्न कर लेते थे। एक दिन रात को बिछौने पर लेटे जब गड़गड़ा पीने लगे तो उसकी नली उनकी बाईं आँख में चुभ गई। इसके फलस्वरूप व्रणक्षत एवं तीव्र यंत्रणा होने लगी। तब अपनी आँखों से पढ़ने का कोई उपाय नहीं था, इसलिए प्रत्यह दूसरे से बँचवा कर महाभारत का पाठ पूरा करते। इस समय जो कथा सुनते उसकी चित्रावली उनकी आँखों के आगे स्पष्ट प्रतिभासित होती और वे आघात यंत्रणा भूलकर अलौकिक आनन्द-सागर में निमग्न हो जाते।

उपर्युक्त दुर्घटना के फलस्वरूप ताराकिशोर की वह आंख मारी गई। इस समय की चक्षुपीड़ा की घटना का उल्लेख करते हुए बाद के समय वह कहा करते, "भगवान किस पथ से कौन-सा कल्याण साधित करते हैं, उसको कौन बतला सकता है? चक्षु-आघात और यंत्रणा उन्होंने दी तो पर इसी के माध्यम से उन्होंने नाना प्रकार की अनुभूतियों को प्राप्त करने का अवसर दिया। क्या उसमें मेरे जीवन के नूतन परिवर्तन साधन का संधान सन्निहित नहीं था?

ताराकिशोर के साधन-जीवन की विशिष्टता थी, दीर्घकालीन आर्ति, त्याग-भावना और एकनिष्ठता? उनके अध्यात्म-जीवन की प्रस्तुति के शेष पर्याय क्रम में गुरुकृपा की अनुकूल वायु बहने लगी।

ब्रह्मज्ञानी गुरु काठियाबाबा महाराज के आशीर्वाद और निर्देशन से धीरे-धीरे एक सार्थकनामा साधक के रूप में उनका रूपान्तर हो रहा था। कलकत्ता रहते समय भी इन वृन्दावनवासी गुरु महाराज की करुणा-धारा अपूर्व महिमापूर्वक उनके ऊपर प्रायः झरती ही रहती थी। बीच-बीच में नितान्त अलौकिक भाव से इसकी अभिव्यक्ति प्रगट होती रहती।

अद्‌भुत थी उनके सद्‌गुरु की यह कृपा! और उसके परिवेशन "का प्रकार भी विचित्र था। काठियाबाबाजी का निर्देश था कि शेष रात्रि में उठकर ताराकिशोर को साधन-भजन करना है। अनभ्यासी शिष्य की निद्रा प्रथम-प्रथम निर्दिष्ट समय पर बड़ी कठिनाई से टूटती। इसलिए गुरुदेव को एक बार एक रात्रि में सूक्ष्म शरीर से शिष्य की शय्या के समीप उपस्थित होना पड़ा। इस समय अकस्मात् हलका सा आघात देकर ताराकिशोर की नींद तोड़ दी। उसके बाद शेष रात्रि की विशेष साधन-क्रिया की कथा का स्मरण कराकर बाबाजी महाराज अकस्मात् अन्तर्हित हो गये। इसी प्रकार की थी अपने शिष्य के साधन-सम्बन्ध में ब्रह्मज्ञ गुरु की सतर्क और अतंद्र दृष्टि। "

ताराकिशोर के घर काठियाबाबाजी के आलोकचित्र की बड़ी श्रद्धा से पूजा होती। तारा‌किशोर और उनकी सहधर्मिणी का कहना था कि यह चित्र बड़ा जाग्रत है, गुरु महाराज इसके मध्य से आविर्भूत होते हैं, कितनी मधुर लीलाएँ प्रदर्शित करते हैं। इन भक्त दम्पति के अतिरिक्त और भी अनेक व्यक्तियों को इन लीलाओं के दर्शन का सौभाग्य मिला था।

तारा‌किशोर और उनकी पत्नी ने घर के बीच गुरु महाराज के चित्र की स्थापना की थी। किन्तु पूजा के विशद अनुष्ठान की पद्धति से वे पूरे परिचित नहीं थे। इसके अतिरिक्त किस विधि का क्या महत्त्व है इसे, समझने की भी पूरी क्षमता नहीं थी। कहना व्यर्थ

होगा, गुरु महाराज को ही इसके लिए अग्रसर होना पड़ा। योग विभूतियों के यत्किञ्चित् प्रकाशन द्वारा ही उन्होंने अपना कृत्य सम्पादन किया।

((ताराकिशोर का एक नौकर था तुलाराम। बड़ा सीधा, सरल-स्वभाव का भक्त पुरुष था। काठियाबाबा महाराज के चित्र के निकट दीप जलाना और धूप देना उसका दैनिक कार्य था। एक दिन तुला-राम संध्या समय धूप-दीप की व्यवस्था करने के लिए नियत स्थान में गया। हठात् हाँफते-हाँफते ताराकिशोर बाबू की स्त्री के पास आकर उपस्थित हुआ। कुछ स्थिर हो लेने पर वह बोल उठा, "गुरु महाराज की तस्वीर के आकार-प्रकार का एक जटाजूटधारी साधु बिजली की गति से आया और मेरे हाथ से धूपदानी-दीपदानी ले ली और फिर यह कहकर अन्तर्ध्यान हो गया कि देख तो, तूने सन्ध्या के समय फोटो के सामने आरती क्यों नहीं की?" सब ने मिलकर बहुत चेष्टा की पर उस साधु का कहीं सन्धान पता न चला। बाद में रात बीतते देखा गया कि नौकर के हाथ से ले ली गई धूपदानी एक लिपे-पुते पवित्र स्थान पर सुरक्षित रख दी गई है। इसके बाद से घर में प्रतिष्ठित काठियाबाबा के उक्त चित्र के सामने नियमित रूप से आरती के साथ स्तुति होने लगी।))

((काठियाबाबाजी महाराज की अलौकिक कृपा के बल पर एक बार ताराकिशोर के प्राणों की रक्षा हुई। बाद के दिनों में वह स्वयं इस घटना का विवरण देते। एक बार श्रीहट्ट अंचल में भ्रमण करते समय वह हाथी पर चढ़कर अपनी ससुराल जा रहे थे। कच्ची सड़क होकर हाथी बड़ी तीव्र गति से चल रहा था। हठात् उसने अपनी गति का वेग और बढ़ा दिया। उसी क्षण ताराकिशोर एक पेड़ के सामने आ पड़े। उन्होंने भय के साथ देखा कि पेड़ की एक मोटी डाल इतनी नीची होकर गई है कि यदि हाथी अब ज्योंही कुछ आगे बढ़ा तो, इस डाल के नीचे इनका अंग-अंग छिन्न-विच्छिन्न हो जायगा।

कुछ क्षण बीतते ही एक इन्द्रजाल का दृश्य देखा गया। हाथी पूरी सवारी के साथ उक्त विपज्जनक स्थान से सपाटे से निकल गया, अथ च देखा गया कि वही डाल जो हठात् ऊँचे उठ गई थी अब पूर्ववत नीचे उतर आई है। किस प्रकार डाल के दबाव से वह बच पाये, बारम्बार विचार-विश्लेषण करने पर भी इसका रहस्य समझ में नहीं आया।"

इसके कुछ ही दिन बाद ताराकिशोर वृन्दावन आये। एक दिन गुरु महाराज के चरण-प्रान्त में बैठे थे। मन में कोई प्रश्न नहीं था, मुख से भी कोई शब्द नहीं बोल रहे थे। काठियाबाबा महाराज हठात् उनसे कहने लगे, "बेटा, पेड़ की डाल कैसे तुम्हारा प्राण नाश कर सकती? भगवान जो छाया के समान तुम्हारे साथ लगे रहते हैं, तुम्हारी सदा रक्षा किया करते हैं।"

वृन्दावन के आश्रम में काठियाबाबाजी एक अँधेरे साँप-कीड़ों से भरे छोटे कमरे में रहा करते। यह देखकर ताराकिशोर अत्यन्त व्यथित होते। सुतरां बहुत शीघ्र गुरुदेव के लिए एक सुन्दर आश्रम-भवन की तैयारी के लिए तत्पर हो गये। वह कलकत्ते से रुपये भेजते और बाबाजी महाराज के तत्त्वावधान में वह बनता जाता था।

१८९७ ई० में यह नया आश्रम-भवन बनकर प्रस्तुत हो गया। एवं इसमें श्रीविग्रह की स्थापना बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुई। इस प्रतिमा प्रतिष्ठा के दिन समग्र भारत में भूकंप का उपद्रव हुआ, किन्तु वृन्दावन इससे बिलकुल अछूता रहा। यहाँ तक कि अत्यन्त निकट के मथुरा-धाम में भी भूचाल का धक्का अनुभूत हुआ पर वृन्दावन में कुछ भी अनुभव में नहीं आया।

दो-चार दिन बाद की बात है। ताराकिशोर गुरुदेव के चरण के पास बैठे हैं। प्रतिमा की ओर संकेत करते हुए बाबाजी महाराज ने कहा, "बाबूजी, तुम्हारे यह ठाकुरजी बड़े जाग्रत हैं, बड़े दिव्य शक्तिशाली हैं। ठाकुरजी बहुत कृपा परवश हो रहे हैं, वह तुम्हें आज वरदान देंगे। तुम्हारे मन में जो वांछित हो उसे बताना और ठाकुरजी के निकट आकर वर माँग लेना।"

ताराकिशोर ने उत्तर दिया, "बाबा, आपका सन्तोष रहे, यही मुझे प्रार्थित है। आप प्रसन्न रहें तो मुझे किस वस्तु की कमी रह सकती है ? मैं और क्या वर चाहूँगा ?"

काठियाबाबा महाराज की आँखों में प्रसन्नता झलक उठी। बड़े स्नेह से अपने शिष्य को पुनः कहने लगे, "तुम्हारी बात बिलकुल सही है। कुछ परीक्षा भी तो कर लेनी चाहिए। मैं कहूँगा कि समक्ष जाकर तुम्हारे मन में जो कुछ भी अभिलाषा हो, उनके निकट माँग लो।

ऐसे सुस्पष्ट निर्देश को न मानने का कोई उपाय नहीं था। ताराकिशोर इस बार मन्दिरस्थित श्रीविग्रह के निकट उपस्थित हुए। दण्डवत् करके प्रार्थना की, "दयामय, गीता में आपने श्रीमुख से स्थितप्रज्ञ प्रसन्नात्मा की बात कही है कि जिसे शोक नहीं, आकांक्षा नहीं, सभी प्राणियों को जो सम भाव से देखे, पराभक्ति के द्वारा आपके परम तत्त्व को ज्ञात कर वह पुनः तुम्हीं में प्रविष्ट हो जाता है। आपके श्रीमुख-वर्णित श्लोक में जिस स्थितप्रज्ञ अवस्था की चर्चा की गई उस स्थिति में मुझे भी पहुँचा दें—आपकी यही कृपा मुझ पर चाहिए।"

ताराकिशोर जब मन्दिर से बाहर निकले तो काठियाबाबाजी उनके सामने आकर खड़े हो गये। प्रसन्न एवं उदार दृष्टि से शिष्य को देखते हुए कहने लगे, "बेटा, तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा; तुम्हें ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति में भी कोई त्रुटि नहीं रहेगी—हाँ महंथी भी तुम्हें मिलेगी।" बाबाजी महाराज उन्हें आश्वासन देने के लिए फिर और कहने लगे, "भगवान के दर्शन तुमको मिलेंगे। यदि मेरी यह बात सच नहीं उतरे तो मैं भी सच्चा साधू नहीं, यह समझ लेना।" आनन्द-विह्वल ताराकिशोर परम कारुणिक गुरुदेव के श्रीचरणों में लोटने लगे।

गुरु-कृपा कि अमृत-धारा से इस बार ताराकिशोर का जीवन पात्र लबालब भर आया। एक ओर उनकी कठोर साधना चल रही थी उसी प्रकार दूसरी ओर आध्यात्मिक अनुभूतियों का हार एक के

बाद दूसरा खुलता जा रहा था। ताराकिशोर बहुधा सोचा करते कि सांसारिक कार्यों में लगा रहना अब उनके लिए सम्भव नहीं होगा। इस बार सब कुछ छोड़कर गुरुदेव काठियाबाबा के चरण-तल की शरण लेनी होगी, उनकी सेवा करते हुए जीवन के शेष दिन काटने होंगे।

एक बार वह गृहत्याग के लिए स्थिर संकल्प हुए। पत्नी अन्नदा-देवी स्वामी के साथ धर्माचरण में कभी बाधक नहीं होती—उन्होंने भी उन्हें सहमति दे दी। सभी प्रकार की चरम व्यवस्था कर चुकने पर ताराकिशोर अब निश्चिन्त हुए। किन्तु रात्रि में जब शयनकक्ष में उन्होंने प्रवेश किया तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने देखा, दिव्य ज्योतिर्मंडित मूर्ति से प्रकट होकर साक्षात् श्रीकृष्ण उनके समक्ष खड़े हैं। परम प्रभु मधुर हँसी हँस रहे हैं, और गृह के चतुर्दिश दिव्य ज्योति की छटा उद्भासित हो रही है।

उस दिन के इस दिव्य दर्शन के सम्बन्ध में ताराकिशोर स्वयं कहते, "उस समय मेरे हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द स्रोत उमड़ने लगा, समस्त जगत ही आनन्दमय प्रतीत होने लगा। अवशभाव से आँखों में आंसू भरे मैंने भगवान के श्रीचरणों में साष्टांग दंडवत् किया। उठकर देखा तो वह अन्तर्धान हो गये थे। मेरे हृदय में तब आनन्द का स्रोत प्रवाहित था, कई दिनों तक वह स्रोत जारी हो रहा। संसार को दुःखमय अतएव परित्याज्य कह कर मेरे मन में वैराग्य की जो तीव्र भावना थी, वह समस्त संसार को आनन्दमय रूप में देख चुकने के बाद नहीं रही। प्रत्युत मेरे शयनकक्ष में ही जो उन्होंने दर्शन दिये आपाततः इससे मेरा सांसारिक रूप में रहना ही उनका अभि-प्राय जैसा प्रतीत हुआ। संसार परित्याग कर साधु होने की इच्छा इसके फलस्वरूप तिरोहित हो गई और मेरे दिन परम आनन्द में कटने लगे।

कुछ मास बीतने पर ताराकिशोर ने बृन्दावन धाम जाकर काठियाबाबाजी के दर्शन किये। कलकत्ते में रहने के समय शयनगृह

में जो अलौकिक घटना घटित हुई थी, उसकी सूचना गुरुजी को तुरत मिल गई। समस्त आनुपूर्विक घटना सुनकर काठियाबाबा अत्यन्त प्रसन्न हुए। उसके बाद शिष्य को सतर्क करते हुए बोले, "ऐसे दर्शन बहुत भाग्य से मिलते हैं। लेकिन यह तो 'छायादर्शन' है, इसके बाद और भी दर्शन मिलते हैं।"

ताराकिशोर को काठियाबाबा के साथ व्रजपरिक्रमा के लिए जाने का उत्साह बहुत था। गुरुदेव की सेवा की सारी व्यवस्था, अनुगमन करने वाले साधु-सन्तों के खाने-पीने एवं यात्रा के व्यय का प्रबन्ध आदि सब कुछ अपने तत्त्वावधान में करते हुए उन्हें बहुत आनन्द मिलता था। एक बार परिक्रमा-काल में ताराकिशोर नन्दग्राम पहुँचे। गाँव की राह से वह कुंड पर जायँगे। इसी समय बहुत ग्रामीण बालकों ने उन्हें घेर लिया—"बाबूजी, आज सब को जलेबी खिलाइए तभी हम आपको छोड़ेंगे।"

ताराकिशोर के आदेश पर दूकानदार ने कड़ाही चढ़ा दी। जलेबियाँ छनते ही कहीं से आकर दो भव्यमूर्ति बालक इन बालकों की भीड़ में आ पहुँचे। जिस प्रकार उनका रूप नयनाभिराम था उसी प्रकार उनकी स्वरमाधुरी मोहनकारी थी। ताराकिशोर को लक्ष्य कर वंकिम हँसी हँसते हुए दोनों बालकों ने कहा, "ये सब बड़े नटखट हैं, आप हम दोनों को जलेबियाँ दे दें, हम सब में बाँट देंगे।"

चारों ओर उपद्रवी बालक चिल्ल-पों मचा रहे थे। ताराकिशोर उनके बीच खड़े होकर दिव्यदर्शनी इन दोनों बालकों को एकटक निहार रहे थे। कैसा अपूर्व लावण्य! जैसे दोनों कृष्ण-बलराम की जोड़ी हों! जलेबियाँ तैयार होते ही सब इन्हीं दो बालकों के हाथ सौंप दीं। उन चंचल बालकों में बाँटकर इन दोनों ने स्वयं भी कुछ खाया। जितने उपस्थित बालक थे सब ने नितान्त स्वाभाविकता से इन दोनों बालकों का नेतृत्व मान लिया था।

इसके कुछ देर बाद ही देखा गया कि वे दोनों दिव्यमूर्ति बालक

भीड़ में नहीं हैं। किस समय किस प्रकार वे हठात् अदृश्य हो गये, यह कोई नहीं बतला सका। ताराकिशोर के मर्मकोष को जैसे किसी मायावी ने अपने मोहन स्पर्श से उच्छ्वासित कर दिया हो। उनका सम्पूर्ण शरीर उस समय रोमांचित हो उठा, दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा झरझर बह रही थी। लीलापुरुष कृष्ण-बलराम कृपापूर्वक छद्मवेश में उन्हें दर्शन दे गये हैं, ऐसा सोचकर ताराकिशोर के आनन्द की कोई सीमा न थी।

और एक बार की घटना है। व्रज-परिक्रमा के समय ताराकिशोर सभी यात्रियों को लेकर चल रहे थे। पिछले दिन एकादशी का उपवास था, दूसरे दिन भी गुरुदेव एवं साधुओं के भोजनादि की व्यवस्था करते-करते संध्या हो गई। ताराकिशोर का भाग्य, उस दिन भी कुछ भोजन नहीं जुटा सका। अपने मन को उन्होंने यह कहकर आश्वस्त कर लिया कि मालूम होता है कि आज श्री ठाकुरजी की इच्छा नहीं है कि मैं भोजन करूँ।

दैनिक क्रिया-कलाप एवं साधन-भजन सम्पन्न कर ताराकिशोर मध्य रात्रि में अपनी शय्या पर लेटने का उपक्रम ही कर रहे थे कि तंबू के बाहर अंधकार के अंतराल में एक अपरिचित बालक की जोर से आवाज सुनाई पड़ी। 'बाबूजी कहाँ हैं' कहकर बड़े जोर के स्वर में बालक चिल्ला रहा था।

काठियाबाबा महाराज उस समय निद्रित नहीं थे, अपने स्थान पर बैठे विश्राम करते थे। आगंतुक बालक का स्वर उनके कानों में पड़ा। रहस्यमय हँसी हँसकर उन्होंने सेवकशिष्य बालकदास से कहा, "सुनते नहीं हो? ताराकिशोर को कोई बाहर पुकार रहा है। एक बार उसे शीघ्र बाहर बुला दो।"

बालकदास जब बाहर देखने गया कि बात क्या है, तो जाते ही एक बालक उसके हाथ में एक लोटा देकर बोला कि यह बाबूजी के लिए है। यह सारा दूध उन्हीं के पीने के लिए है। पात्र ताराकिशोर

के आगे रख दिया गया। बिलकुल अप्रत्याशित भाव से आहार की यह व्यवस्था देखकर ताराकिशोर अवाक् थे। दौड़े-दौड़े आगंतुक बालक को पाने की उन्होंने चेष्टा की। किन्तु आश्चर्य, वह बालक तुरत कहाँ लापता हो गया !

गुरुदेव के सम्मुख जाकर ताराकिशोर ने देखा, मुँह पर प्रसन्न हँसी भरी हुई है। काठियाबाबाजी प्रिय शिष्य को लक्ष्य कर कहने लगे, "बेटा, पहले यह दूध तो पी लो, यह कुल दूध तुम्हारे ही लिए आया है।" पोस्ता, बादाम, मिसरी मिला हुआ दूध अत्यन्त ही स्वादिष्ट था। ताराकिशोर बड़ी तृप्ति के साथ पूरा दूध पी गये। दूध लानेवाले बालक का पता दूसरे दिन भी नहीं लग सका।

काठियाबाबाजी ने अनेक प्रकार से ताराकिशोर की परीक्षा भी कम नहीं की। एक बार कुछ समय के लिए ताराकिशोर की वकालत की आमदनी बहुत घट गई थी। फिर भी परिवार के खर्च में कमी करने की कोई गुंजाइश नहीं थी। गरीब विद्यार्थी एवं आत्मीय स्वजन को अपना आश्रम छोड़कर और जगह कहाँ जाने के लिए कहेंगे ? गुरुदेव के पास प्रतिमास कुछ-न-कुछ रुपये भेजने ही हैं। ऋण का बोझ बढ़ता ही गया। उस पर भी वृन्दावन जाने के समय कुछ और कर्ज चढ़ गया।

((वहाँ पहुँचने पर काठियाबाबा महाराज ताराकिशोर को लेकर एक विचित्र खेल रचने लगे। प्रायः बराबर उन्हें बुलाकर आश्रम के एक–एक प्रयोजन की पूर्ति के लिए द्रव्य-संग्रह का निर्देश देते। किसी दिन गाय के लिए घास-भूसे तो किसी दिन आश्रमवासियों के चावल-आटा जुटाने को कहते। बीच–बीच में इच्छापूर्वक स्वयं उसमें से बहुत कुछ अंश को बुरा बताकर बर्बाद कर दिया करते। और तब फिर ताराकिशोर को नये सिरे से उन चीजों को जुटाना पड़ता। ताराकिशोर चरम अर्थकष्ट में रहते हुए भी गुरुदेव के आदेशवाक्य का अक्षरशः पालन करते। इस पर भी इस बार व्रजपरिक्रमा का

समस्त व्यय उन्हें ही वहन करना पड़ा और इस तरह ऋण का भार बहुत बढ़ गया।))

ताराकिशोर की स्त्री अन्नदा देवी को भी काठियाबाबा महाराज ने इस समय सहज भाव से निष्कृति नहीं दी। परीक्षा के लिए व्रजपरिक्रमा के समय इस भक्त शिष्या को भी प्रत्येक दिन मार्गकष्ट की सीमा पर पहुँचा कर छोड़ते थे।

एक दिन ताराकिशोर की गृहिणी किसी काम से आश्रम के बाहर गई थी। उस समय चतुर्दिश आकाश मेघाच्छन्न हो आया। बाबाजी महाराज ने मेघ-झड़ी को देखकर अपने एक सेवक शिष्य को आदेश दिया कि आश्रम का द्वार अविलम्ब बन्द कर दो। अन्नदा देवी; ठीक उसी समय आश्रम-भवन के अतिनिकट पहुँच गई थी। दरवाजे पर धक्का देते-देते थक गई और उपाय न देखकर सीढ़ी के पास बैठकर घंटों तक मूसलाधार वर्षा में भींगती रही।

अन्नदा देवी का शरीर भींग-भींग कर बिलकुल शिथिल पड़ गया, आश्रम के भीतर बैठे गुरु महाराज हठात् सजग हो उठे। सेवकों को हाँक देकर बड़ी व्यस्तता से कहने लगे, "देखो-देखो, निश्चय ही आश्रम का कोई सेवक बाहर जाकर इस घनघोर वर्षा में टिक गया है, उसे शीघ्र से शीघ्र खोज करो।" द्वार खोलने पर देखा गया, ताराकिशोर को गृहिणी मृतवत् अवस्था में जमीन पर पड़ी हुई है।

देर तक आग की सेंक देने पर वह प्रकृति में आई और स्वस्थ हो गई। ताराकिशोर ने पत्नी से कहा, देखो, तुम इससे मन उदास न करना। गुरु महाराज अन्तर्यामी हैं। कोई भी बात उनकी दृष्टि से ओझल नहीं, यह जान रखना। हम लोगों के कल्याण के लिए ही यह सब दुःख-कष्ट की परीक्षा चल रही है।

इसके बाद अन्नदा देवी जब काठियाबाबाजी को प्रणाम करने गई तो उन्होंने स्नेहार्द्र स्वर में कहा, "माईजी, इस बार यहाँ आने

पर तुम दोनों की मैंने अनेक प्रकार से परीक्षा ली। तुम सब उसमें पूर्ण रूप से उत्तीर्ण हुए। मैं प्रसन्न होकर कहता हूँ, तुम्हारे सभी अभीष्ट सिद्ध होंगे।" स्वामी-स्त्री दोनों की आँखों से आनन्द के आँसू बह निकले।

कलकत्ता लौटने के कुछ दिन बाद ही एक बहुत बड़े मामले में ताराकिशोर को काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। इसमें उनको अजस्र धन की आय हुई और फिर उनके समस्त ऋणशोध में कुछ देर न लगी। परवर्ती जीवन में लब्धप्रतिष्ठ वकील के रूप में ताराकिशोर का अत्यधिक अभ्युदय हुआ, अर्थ की धारा प्रवाहित होने लगी, साथ ही कानूनवेत्ता के रूप में उनकी कीर्त्ति चारों ओर फैल गई।

विविध शास्त्र-ग्रन्थों का सम्पादन और प्रचार ताराकिशोर के सांसारिक जीवन में सर्वाधिक महत्त्व का कार्य था। उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थ "ब्रह्मवादी ऋषि और ब्रह्मविद्या" एवं "दार्शनिक ब्रह्मविद्या" कल्याणकारी अध्यात्म साहित्य के रूप में इस देश में चिर-पठनीय बने रहेंगे। साधक ताराकिशोर की तत्त्वोज्ज्वला बुद्धि का उन ग्रंथों में पूर्ण निदर्शन है।

इन सब शास्त्रग्रन्थों के प्रणयन के उद्देश्य की चर्चा करते हुए ताराकिशोर स्वयं अपूर्व सरलता के साथ लिखते हैं, "मुझ में पाण्डित्य का सर्वथा अभाव है साधारण व्याकरण ज्ञान के सम्बन्ध में भी मेरी व्युत्पत्ति नगण्य है। फिर भी मेरा भाग्य साधारण नहीं, कारण मुझे जो सहज भाव से महत्कृपा उपलब्ध हुई है उसी के बल से अतिदुर्बोध ये सब दर्शनशास्त्र स्नेहमयी जननी की भाँति गुप्त रूप से रक्षित ज्ञानामृत को मेरे आगे स्वयं किस प्रकार उँड़ेल गये हैं, इसे देखकर स्थान-स्थान पर मैं विस्मित हो उठता हूँ।

हिन्दू पण्डित समाज में यह बात सर्ववादि-सम्मत है कि भगवान् वेदव्यास, महर्षि कपिल, पतंजलि, गौतम प्रभृति सिद्धर्षिगण भ्रम-प्रमाद-शून्य 'आप्त' पुरुष थे, सुतरां उन सब के बीच प्रकृत मतविरोध की बात सम्भव नहीं। यह स्वीकार कर लेना होगा कि उनके उपदिष्ट

ग्रन्थों में परस्पर जहाँ जो कुछ आपाततः विरोध देखने में आता है, उसकी कोई-न-कोई मीमांसा अवश्य है। मेरे हृदय में भी श्रीगुरु की कृपा से दर्शनशास्त्रों में परस्पर सामंजस्य स्थापना में समर्थ एक प्रकार की मीमांसा प्रकाशित हुई है, वह निश्चय मंगलसाधक होगा, ऐसा विश्वास लेकर इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ।"

शास्त्र का रहस्योद्घाटन अथवा भगवत्साक्षात्कार मानव के लिए सब कुछ, गुरु-कृपा पर ही अवलम्बित रहता है—ताराकिशोर का यह एकान्त विश्वास था, इस विश्वास पर निर्भर रहकर ही इन्होंने यह दीर्घ संसार जीवन यापित किया।

एक बार वृन्दावन रहते समय गुरु महाराज से ताराकिशोर ने बड़े खिन्न भाव से कहा, "बाबा, नाम जप करते समय मेरा चित्त सुस्थिर नहीं रहता, भजन-पूजन के समय भी मेरी मनःस्थिति स्थिर नहीं होती। मुझ पर आपकी पूर्ण कृपा कब होगी?" सुनने के साथ ही काठियाबाबा महाराज ने प्रिय शिष्य को उत्तर दिया, "मुझ से कुछ छिपा नहीं है। किन्तु प्रकृत भजन बहुत बड़ी चीज है, इसे तुम अभी कैसे जान पाओगे? उस भजन को कर सको, ऐसा सामर्थ्य अभी तुम्हारा नहीं। तुम्हारे निमित्त तो मैं ही भजन करता जा रहा हूँ।"

गुरु-सेवा और आश्रम की परिचर्या के माध्यम से ही चित्त निर्मल होता, निष्ठा एवं एकाग्रभावना जमती जाती और इसके फल-स्वरूप प्रकृत भजन के अभ्यास का अधिकार भी होता जाता—इस तत्त्व की शिक्षा काठियाबाबाजी के सान्निध्य में ताराकिशोर को विशेष रूप से मिली। वृन्दावन में एक बार आश्रम के लिए हाट-बाजार करने का भार उनको सौंपा गया। भोर में उठ कर ही दैनिक प्रयोजन की सामग्री को खरीद लाना होता। किन्तु ताराकिशोर का उस ओर ध्यान नहीं रहा, एक कमरे में बैठकर आनन्दमग्न हो नाम जप करने में तल्लीन थे। साधन-भजन में इस तरह लगे रहने

से क्या जो सेवा-कार्य में शिथिलता ला दे, इस प्रकार की फटकार ताराकिशोर को काठियाबाबाजी से कुछ कम नहीं सुननी पड़ी।

जन्मान्तर के अधिकार एवं संस्कार लेकर ताराकिशोर गुरु के आश्रम की छाया में आये। गुरुदेव की योगसिद्धि जिस प्रकार अपरिमेय थी उसी प्रकार उनकी कृपा-भावना भी अपरिसीम थी। शिष्य के अध्यात्म जीवन की एक-एक तरंग को लक्ष्य रखकर उनकी दिव्य-दृष्टि सतत सजग और सतर्क थी, अनायास उसे वह नियन्त्रित रखते। गुरु और शिष्य के बीच हुए एक व्यक्तिगत वार्तालाप में इस चमत्कार का निदर्शन मिलता है—

वृन्दावन वास करते समय ताराकिशोर एक दिन शरीर में तीव्र पीड़ा अनुभव कर रहे थे। काठियाबाबाजी के निकट जाकर उन्होंने निवेदन किया, "महाराज, मेरे हृदय के भीतर जैसे कोई शक्ति ऊपर उठने को छटपटा कर रह जाती हो। बहुत कष्ट भोग रहा हूँ।"

"यह तो होता ही है। अन्तरवर्ती कमल उसे बाधा पहुँचा रहा है।"

"महाराज, मुझ पर कृपा कीजिए, वह बाधा आज आप दूर कर दीजिए।"

दृढ़ स्वर में काठियाबाबाजी बोले—"अभी नहीं।"

ताराकिशोर अवाक् खड़े रहे! कुछ क्षण के बाद गुरुजी स्नेहभरी दृष्टि से उसे निहारते हुए धीरे-धीरे बोले, "अभी यदि तुम्हारी ग्रंथि खोल दूँ तब तो तुम्हारे द्वारा आगे और कोई काम नहीं हो सकेगा। संसार में रह कर और भी कुछ कर्तव्य तुम्हें निभाना है। ठीक समय आने पर मैं यह ग्रंथि खोल दूँगा।"

निर्दिष्ट समय उपस्थित होने में फिर देर न लगी। कुछ ही वर्षों के भीतर साधक ताराकिशोर के इस कर्त्तव्य का विधि-निर्दिष्ट बंधन उन्मोचित हो गया। बाद उन्होंने सांसारिक बन्धन का परित्याग कर दिया।

१९१५ ई० अगस्त मास। अपराह्न का समय। हाईकोर्ट की बार लाइब्रेरी में उस दिन बड़ी भीड़ थी। प्रवीण और नवीन समस्त वकील, बैरिस्टर वहाँ एकत्र थे। सुप्रसिद्ध वकील ताराकिशोर वकालत छोड़-कर वृन्दावन के लिए प्रस्थान करने वाले हैं। जो कुछ बचे-खुचे मुकदमों का काम हाथ में था, निपटाकर निश्चित हो चुके हैं। ताराकिशोर आज सभी सहकर्मियों से विदा लेने प्रसन्न मुद्रा में बैठे हैं। क्रमशः अभिवादन और प्रेमालिंगन का सिलसिला जारी है। सभी समवेत सज्जनों का चित्त भावाकुल हो रहा है। बहुत से व्यक्ति मुश्किल से आँसू रोके उन्हें विदा दे रहे हैं।

भीड़ को चीरते हुए सर रासबिहारी घोष ताराकिशोर के निकट आकर उपस्थित हुए। नीचे झुककर वह ताराकिशोर की पदधूलि ग्रहण करने के लिए ज्यों ही प्रस्तुत हुए, ठीक उसी समय अस्त-व्यस्त से ताराकिशोर ने उनके हाथ थाम लिए। व्याकुल कंठ से कहने लगे, "छिः छिः, आप यह क्या कर रहे हैं? आप सर्वजनमान्य हैं, साथ ही उम्र में भी बड़े! पैर छूकर मुझे पापभागी नहीं बनाएँ।"

सर रासबिहारी ने उत्तर दिया, "नहीं, नहीं ताराकिशोर बाबू, मुझे आप बाधा मत दें। मैं वयस में आप से बड़ा हूँ अवश्य, किन्तु आप ज्ञान-वृद्ध हैं। मैंने केश पका तो लिए हैं पर वस्तु-अवस्तु, सत्य-मिथ्या आदि का ज्ञान आज भी उपलब्ध नहीं कर सका। आप ने तो सब कुछ पूरा पा लिया है। इसी से तो सांसारिक जीवन की सारी सम्भावनाओं को अवहेलनापूर्वक छोड़-छाड़कर आप वृन्दावन की ओर अग्रसर हुए। बाधा मत दें, आज मुझे अपनी पदधूलि के ग्रहण करने का सौभाग्य पाने दें।" भावावेग कम्पित-कलेवर भारत के अन्यतम श्रेष्ठ कानूनवेत्ता एवं देश के वरिष्ठ नेता सर रासबिहारी घोष ताराकिशोर के चरण-स्पर्श किये बिना नहीं रहे।

सर रासबिहारी पहले से ही जानते थे कि ताराकिशोर के प्राणों में मुक्ति का आह्वान पहुँच चुका है, स्वर्ण-शृंखला को शीघ्र ही विच्छिन्न

कर बाहर निकल पड़ेंगे। फिर भी बीच-बीच में इस प्रिय सहयोगी से वह कहा करते, "ताराकिशोर, मेरा शरीर शिथिल पड़ रहा है। शीघ्र हो मैं प्रैक्टिस छोड़ दूँगा। कुछ समय की अपेक्षा कीजिए, कई लाख रुपये लेकर वृन्दावन की यात्रा कर देंगे। तुम्हारे गुरुजी के आश्रम के काम में लगा सकेंगे।" उत्तर में ताराकिशोर मधुर हँसी हँस देते थे।

अर्थ के उपार्जन और संचय को ताराकिशोर ने कभी मुख्यता नहीं दी। साधन-भजन में ही उनका अधिक समय व्यतीत होता था। संध्या के बाद तो मुकदमे के कागज-पत्र को लेकर कभी बैठते उन्हें नहीं देखा गया। बहुत मामलों के 'फीस' तो इसी कारण वह लौटा भी देते थे। केवल यही बात नहीं कि झूठे मुकदमे की वह पैरवी नहीं करते हों। किसी मुकदमे की अपील के खारिज होने की कुछ भी संभावना रहती, ऐसे मुकदमे को भी वह अपने हाथ में नहीं रखते। आपने प्राप्त अर्थ का परित्याग कर अपने आश्रय में आये हुए मुवक्किलों के अर्थ का अपव्यय नहीं हो, इसके लिए भी वह अत्यन्त व्यस्त देखे जाते। प्रतिभावान् कानूनवेत्ता के रूप में उनकी यश-प्रतिष्ठा जितनी हो, किन्तु इस प्रकार के अर्थविमु वैरागीख के पास अर्थ का बाहुल्य होना संभव नहीं था।

काठियाबाबाजी के लिए एक नवीन बृहदाकार आश्रम का निर्माण ताराकिशोर ने आरंभ कर दिया था। किन्तु इसे पूरा होते वह देख नहीं सके, इससे पहले ही उन्होंने अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्याग दिया। मंदिर को अधूरा छोड़ देना यह कैसे संभव था? इसके लिए उन पर ऋणराशि का बृहत् भार पड़ गया। हाईकोर्ट एवं सांसारिक जीवन को वह बहुत पहले छोड़ने की बात सोच चुके थे, पर ऋणशोध करने के लिए ही वकालत का काम चला रहे थे।

वृन्दावन के मंदिर-निर्माण का कार्य अब शेष हो गया था। बहुत व्यय के साथ ताराकिशोर ने चिर-आकांक्षित निम्बार्क-आश्रम की प्रतिष्ठा पूरी की। किन्तु इसका उन्हें मूल्य भी बहुत चुकाना

पड़ा। ठीकेदारों और बंधु-बांधवों को लेन-देन के बाद ऋण का भार अत्यंत दुर्वह हो गया था। फिर भी शीघ्र ही निष्कृति मिल गई। भगवान की कृपा से कुछ ऐसे बड़े मामले हाथ में आते गये कि उसकी आय से सारा-का-सारा देय चुका दिया गया। उसके बाद ही उनका हाईकोर्ट से अवकाश ग्रहण करने का उस दिन यह अवसर उपस्थित हुआ था।

उसके बाद दो मास और उन्हें यहाँ रुक जाना पड़ा। बहुत से दुरवस्थापन्न आत्मीय जनों एवं बंधु-बांधवों को नियमित रूप से वह सहायता देते थे; हठात् उसे बंद करने से वे सब विपन्न हो जायेंगे। ताराकिशोर ने सोचा कि फिर तो ये सब मेरे संसारत्याग एवं साधन-जीवन को अच्छी दृष्टि से नहीं देख सकेंगे। इन विपन्नों की शुभेच्छा खोकर अपने पक्ष में भी यह कल्याणकर नहीं होगा। इन लोगों की कुछ व्यवस्था न करके वैराग्य आश्रम के मार्ग में अग्रसर होने की बात वह नहीं सोच सकते थे।

मुफस्सिल के एक मुकदमे में उनके कुछ पावने थे, उससे कई हजार रुपये उनके हाथ आ गये। कीमती असबाबों की बिक्री से भी कुछ पैसे आये। जिन्हें मासिक सहायता देते थे उन्हें एककालिक कुछ रुपये देकर संतुष्ट किया।

ताराकिशोर पत्नी के साथ कलकत्ता छोड़कर वृन्दावन-आश्रम जा रहे हैं। घर से अंतिम विदा लेने के समय अत्यंत ही मार्मिक दृश्य उपस्थित था। घर की तमाम मूल्यवान वस्तुओं को पहले ही बेच दिया था। जो कुछ शेष बचा था उसे भी वितरण कर दिया। वृन्दावन जाने के लिए तृतीय श्रेणी का रेलभाड़ा भी उनके हाथ में नहीं बच पाया।

मुक्त जीवन का रस लेने के लिए साधक आज आग्रह-व्याकुल हैं। बीच-बीच में एक अपार्थिव आनंद का स्रोत उन्हें भावविभोर किये जा रहा है। प्रकृत अवस्था को जानकर एक अंतरंग बंधु ने चुपके से सुयोग पाकर चादर में पाथेय के रूप में कुछ नोट बाँध दिये।

आत्मविभोर गृहत्यागी साधक को इस ओर ध्यान गया ही नहीं। अकिं-चन वैष्णव के रूप में गुरुधाम वे जायँगे, श्री राधाबिहारीजी का भिक्षान्न संग्रह कर उनकी सेवा में अपने को खपा देंगे—इसी आनंद में वे उस समय मतवाले हो रहे थे।

ताराकिशोर धर्मपत्नी के साथ वृंदावन-आश्रम में आ पहुँचे। गुरु महाराज के पाञ्चभौतिक शरीरत्याग किये छः वर्ष बीत चुके थे। गुरु महाराज के बिना यह आश्रम सूना लग रहा था। किन्तु तारा-किशोर स्वयं जानते थे कि आज भी यहाँ उनके ब्रह्मज्ञानी गुरु की करुणा के स्रोत का किञ्चित् भी विच्छेद नहीं हो पाया था। भाग्य-वान शिष्यों को अब भी वे कृपापूर्वक दर्शन दिया करते, प्रयोजन पड़ने पर उन्हें अनेक प्रकार के साधननिर्देश भी दे जाया करते। ताराकिशोर के निज जीवन में भी इस प्रकार के असाधारण अवसर अनेक बार घटित हुए।

कृपालु काठियाबाबा के आशीर्वचन आज भी उन के अंतर प्रदेश में गुञ्जित होते थे। इन्द्रियातीत अनुभूति के राज्य में एक स्तर के बाद दूसरे स्तर को पार कराने में गुरु-कृपा उन्हें उपलब्ध होती रहती। वृंदावन के गुरु-आश्रम में रहकर ताराकिशोर ने इस बार अपनी शेष तपस्या के लिए व्रत-संकल्प ग्रहण किया।

सारा दिन एकनिष्ठ होकर ताराकिशोर भजन करते, और इसके साथ भी राधाबिहारीजी की सेवा-अर्चना नियमित रूप से चालू रहती। प्रसाद बनाने, बर्तन धोने के काम से लेकर श्रीविग्रह की पूजा-विधि एवं श्रृंगार की साज-सज्जा तक सब कुछ वे अपने हाथों से किया करते। आश्रम के नाना प्रकार के कार्यों में लगे रहने के कारण क्षोभ और क्रोध का उद्रेक हो सकता है, यह सोचकर उन्होंने मौन रहना आरम्भ किया। योगाभ्यास के फलस्वरूप गृहस्थाश्रम में रहते समय से ही उन्हें नींद बहुत थोड़ी आती थी, इस बार उसमें और कमी हो गई। सारा दिन साधन-भजन करते हुए वह कब शय्या ग्रहण करते थे, इसका पता आश्रमवासियों को

भी नहीं लगता था। मध्य निशीथ में थोड़ी झपकी लेने के बाद ही शेष रात्रि से उनका ध्यान-जप चलने लगता था।

एक दिन प्रत्यूष समय में देखा गया, मंदिर के भीतरी कोठरी से श्रीविग्रह के अलंकार आदि की चोरी हो गई है। इस घटना से ताराकिशोर को पराकाष्ठा की मार्मिक वेदना हुई। विषण्ण होकर सोचने लगे, "मैं भजन" साधन छोड़कर नियमित रूप से शय्या का आश्रय लेता हूँ। मालूम होता है, गुरु महाराज की ऐसी इच्छा नहीं। इसके सिवा, वायु की ऊर्ध्व गति के कारण नींद भी तो प्रायः आती नहीं। फिर क्यों आलस्य में इस मूल्यवान समय को व्यर्थ बिताऊँ?" इसके बाद से इस कठोर व्रतधारी तपस्वी ने जीवन-भर बिलकुल सोना छोड़ दिया। फिर तो सारी रात भजन और ध्यान में काट देते। शेष रात्रि में जाकर श्रीराधाबिहारीजी की मंगल आरती होती—उस समय सोये हुए मंदिर-पुजारी को जगाकर क्षण-भर के लिए ही वह विश्राम ग्रहण करते।

आश्रम में इस प्रकार तपस्या करते हुए ताराकिशोर इस बीच समग्र अतीत जीवन पर विस्मृति का पर्दा डाल चुके। वह विराट् प्रतिष्ठा, घर-आश्रम की वह सुख-सुविधा, धन-वैभव और मान-संभ्रम के वे रंगीन चित्र, सारे-के-सारे इन्होंने इस बीच धो-पोंछ डाले, अन्तर्जीवन के इस नवीन सर्ग-निर्माण में उनकी रूप-आकृति में महान परिवर्तन हो गया था। सहज भाव से पहले के ताराकिशोर को कोई पहचान ले, यह संभव नहीं था। इसी बीच एक बार उनके एक पूर्व परिचित सज्जन वृन्दावन के निम्बार्क-आश्रम में उपस्थित हुए। सामने अकिंचन वेश में खड़े ताराकिशोर से ही उन्होंने बड़ी व्यग्रता से पूछा, "सांसारिकता त्यागकर एडवोकेट ताराकिशोर चौधरी इसी आश्रम में आ गये हैं, वह अभी हैं कहाँ?" ताराकिशोर ने अत्यंत उदासीन भाव से सहज स्वर में उत्तर दिया, "महाशय, वह तो मर चुके! प्रश्नकर्ता अत्यंत दुःख प्रकट करते हुए धीरे-धीरे

आश्रम से लौट गये। पूर्वाश्रम के परिचय एवं प्रतिष्ठा को ताराकिशोर इसी प्रकार मिटा देना चाहते।

ताराकिशोर की दीर्घ साधना और कठोर तपस्या की कथा का अगर कोई कुछ उल्लेख करता तो तत्क्षण कह उठते, "तपस्या के द्वारा किस प्रकार भगवान को प्राप्त किया जा सकता है, यह समझना हो तो हमारे बाबा को देखो।" गुरु महाराज के नाम की चर्चा करते ही इस प्रवीण साधक की दोनों आंखें प्रेमाश्रु से छलछला उठतीं, वाष्परुद्ध कंठ से आप कहने लगते, "मेरा साधन-भजन तो कुछ नहीं था, जो कुछ हुआ वह सब गुरु की कृपा का ही प्रसाद है।" सद्गुरु का वह अमोघ आशीर्वाद कि तुम पूर्णकाम बनोगे—चरणार्पित प्राण शिष्य साधक के जीवन में सर्वांश में चरितार्थ हो गया।

बाहरी दृष्टि से देखने पर तो यही मालूम होता कि ताराकिशोर गुरुधाम वृन्दावन में बसकर एक अत्यंत साधारण भक्त एवं आश्रमिक का जीवन यापन करते जा रहे हैं। साथ ही, उनके दिन-प्रतिदिन के जीवन के अंतराल में जो ज्ञानमय रूप उद्भासित था उसका परिचय बहुत कम लोगों को प्राप्त था। प्रकृत साधकों की संधानशील दृष्टि के सिवा दूसरी दृष्टि से इस महापुरुष के प्रकृत स्वरूप को निरख पाना संभव नहीं था।

वृन्दावन के व्रजविदेही महन्थ की पद-मर्यादा असाधारण थी। व्रजधाम की वैष्णव-मंडली के ये एकच्छत्र नेता माने जाते, इनके निर्देशों को मानकर ही लोग आचरण करते। मठ-आश्रम, वित्तवैभव कुछ रहे या न रहे, सम्प्रदाय के गुरु रूप में इनके पदाधिकार की स्वीकृति अनिवार्य थी। मर्यादा के साथ-साथ कर्त्तव्य का उत्तरदायित्व भी कुछ कम नहीं था। व्रज-परिक्रमा के समय वैष्णव साधुओं की जमात की परिचालना उनके आपसी मत-द्वैध और संघर्ष की मीमांसा आदि बहुत-से भार इन्हीं पर न्यस्त रहते थे।

काठियाबाबा महाराज का आश्रम ही गुरु-परम्परा के क्रम में चिर-काल से इस महंथ पद पर आसीन होता आया था। किन्तु बाबाजी महाराज के देहत्याग के बाद से इसको लेकर अनेक उलझनें पैदा हुईं। प्रवीणता और साधन-संपदा की दृष्टि से वर्त्तमान महंथ विष्णुदासजी इस नेतृत्व को प्रतिष्ठित रूप में निभा नहीं पाते थे। इसके सिवा, इस गुरु कर्त्तव्य-भार को वहन करने में वह स्वयं भी सहमत नहीं हो रहे थे। इसी से वह काठियाबाबा के परम स्नेहभाजन शिष्य, सर्वजनश्रद्धेय साधक ताराकिशोर को इसके लिए विवश कर रहे थे कि उन्हें ही इस महंथी का पदभार ग्रहण करना होगा।

ताराकिशोर इसे टालना चाहते थे। उन्होंने सोचा, वृन्दावन के सभी महंथों के द्वारा विष्णुदासजी को बाध्य करेंगे कि अन्ततः वह एक वर्ष के लिए और इस पद पर बने रहें। इस बीच सम्प्रदाय के नवीन गुरु का निर्वाचन कर लिया जायगा। इस उद्देश्य से झूलन-पूर्णिमा के दूसरे दिन उन्होंने वृन्दावन के सभी महंथों को काठियाबाबा के नवीन स्थान निम्बार्क-आश्रम में भोजन के लिए निमन्त्रित किया। उनकी इच्छा थी, इसी दिन साधु पंहति के द्वारा ही विष्णुदासजी को महंथी चलाने का अनुरोध किया जाय।

अगले दिन ही निम्बार्क-आश्रम में एक अलौकिक घटना घटित हुई। पूर्णिमा की रात थी। आश्रम, मन्दिर और प्राङ्गण में ज्यो-त्स्ना का शुभ्र वितान तना हुआ था। साधक ताराकिशोर गंभीर ध्यान में निमग्न थे। हठात् उनके सामने विदेही काठियाबाबा की ज्योतिर्मयी मूर्ति उद्भासित हो उठी। गुरु महाराज के मुखमंडल पर प्रसन्नता की दिव्य ज्योति व्याप्त थी। स्नेहसिक्त मुद्रा से उन्होंने कहा, "बाबा, जो कुछ कर्त्तव्य कर्म करोगे, वह तुम अपनी इच्छा से करते हो—इस बात को मन में कभी नहीं लाना। तुम्हारे सारे कर्मों का भार मेरे ऊपर है, इस मर्म को समझ रखो।" ताराकिशोर की

ओर प्रेम-दृष्टि से कुछ क्षण तक एकटक देखते हुए बाबाजी महाराज की मूर्ति धीरे-धीरे कहीं विलीन हो गई।

दूसरे ही दिन आश्रम-भवन में महंथों की पंङ्ति बैठेगी, ऐसा निश्चित था। इसी में विष्णुदासजी की महंथी के प्रश्न के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय लेना था। ठीक इसी के एक रात पहले देहत्यागी गुरु महाराज कौन सा कल्याण पंथ का संकेत करने आविर्भूत हुए— ताराकिशोर इसी बात को लेकर बैठे विचार कर रहे हैं।

अगले दिन महंथों ने समीपवर्ती ताराकिशोर की बड़े उत्साह से संवर्धना की। उनकी दिव्य लावण्यमंडित मूर्ति देखकर एक प्राचीन साधु सहर्ष बोल उठे, "यह तो बहुत अच्छा दर्शनीय मूर्ति है, यह सब तरह से महंथ होने के लायक है।"

विशिष्ट वैष्णव महंथों में अधिकांश उस समय वहाँ उपस्थित थे। सर्वसम्मति से सबों ने ताराकिशोर को ही महंथ के पद पर नियुक्त करने की इच्छा प्रकट की। पिछले दिन-रात में गुरुजी के आविर्भाव की अलौकिक घटना ताराकिशोर के मनश्चक्षु में भासित हो उठी। जो कर्त्तव्य सामने आ पड़े, उसे गुरुदेव का ही निजी कार्य समझकर करना है, यही तो उनका निर्देश था। महन्थ पद को ग्रहण करने के सम्बन्ध में उनका अभिप्राय क्या था, यह उनके आकस्मिक आविर्भाव में ही प्रगट हो गया था। अतः महन्थों को इस सम्मिलित अनुरोध को टालने का उपाय अब नहीं रहा।

अभीतक ताराकिशोर ने कौपीन धारण कर विधिवत् संन्यास नहीं लिया था। अभी भी वह गृहस्थाश्रमी रूप में ही परिचित थे। किन्तु उपस्थित साधु महन्थ इस पर भी निश्चय से विमुख नहीं हुए। उसी समय उन्हें वैष्णव प्रथा के अनुसार संन्यास लेने के लिए विवश किया गया। संन्यास का विधान अगौण रूप से तत्काल हो विधिवत् अनुष्ठित हुआ। और फिर महन्थी विधि के अनुसार पुष्प-माला और नई चादर में उन लोगों ने ताराकिशोर का अभिनन्दन

किया। सभी महन्थ एकत्र मिलकर उन्हें यह वैराग्य आश्रम प्रदान किया और उनका नाम संस्कार हुआ–संतदास। १३२८ साल के इस शुभ दिन में ताराकिशोर के जीवन में यह नया अध्याय उन्मोचित हुआ।

महंथ पद को प्राप्ति के बाद संतदासजो के जीवन में बिलकुल नवीन प्रकार के कार्यों का उत्तरदायित्व आ पड़ा। आश्रम के अतिथि-अभ्यागतों की सेवा, व्रत, परिक्रमा एवं कुम्भ-मेला के अवसर पर वैंष्णव–मण्डली का नेतृत्व प्रभृति अनेकों उत्तरदायित्व ग्रहण किये बिना कोई उपाय नहीं था।

१६२२ ई० में संतदासजो नासिक कुंभ-मेले में सम्मिलित हुए। संपूर्ण भारतवर्ष की वैंष्णव मंडलियों में उनकी प्रधानता उसी समय प्रतिष्ठित हुई। निबार्क, श्री, विष्णुस्वामी और माध्व—इन चारों वैष्णव संप्रदायों में अपने-अपने महन्थ रहते और वे सब मिलकर पुनः इन चारों संप्रदायों के एक सर्वप्रधान के रूप में एक व्यक्ति को वरण करते हैं। इस परम मम्मानास्पद पद पर साधारणतया वृन्दावन के व्रजविदेही महन्थ ही अधिकृत किये जाते। संतदास महाराज इस बार व्रजविदेही महन्थ के रूप में ही नासिक कुंभ-मेला में उपस्थित हुए थे। वैष्णव समाज के सभी महंथों ने मिलकर उस समय उन्हें विराट् संवर्धना और पदमर्यादा प्रदान की। चारों संप्रदायों के प्रधान महन्थ के रूप में उन्हें वरण किया गया।

इस नेतृत्व ग्रहण के बाद चिर-प्रचलित परंपरा के अनुसार विभिन्न साधु मंडलियों को भंडारा देना होता था। महन्थ लोगों की परितृप्ति एवं भेंट-उपहार की झंझट भी कम नहीं थो। प्रयोजन के अनुरूप यहाँ की व्यवस्था और आवश्यक कार्य आदि अच्छी तरह सम्पन्न हुए। संपूर्ण मेला-क्षेत्र में संतदास महाराज की ख्याति और प्रतिपत्ति तत्काल ही परिव्याप्त हो चली। अर्थ संगति के अभाव में भी नये महन्थ ने अपना भंडारा और ये सब व्ययबहुल अनुष्ठान किस प्रकार पूर्ण किये, यह सोचकर सभी विस्मित थे।

संतदासजी द्वारा परिचालित वृन्दावन के निंबार्क-आश्रम की मर्यादा भी इस समय क्रमशः खूब बढ़ उठी। अतिथि–अभ्यागत एवं साधु-संन्यासियों की यहाँ बराबर भीड़ लगी रहती और संतदास महाराज बड़ी उदारता एवं एकांत निष्ठा से इन लोगों के भोजनाच्छादन एवं आदर-सत्कार की व्यवस्था किया करते। कभी-कभी तो काम इतना बढ़ जाता कि महंथ संतदासजी को स्वयं अपने हाथों आश्रम के बहुत से दैनंदिन काम सम्हालने पड़ते ! श्रीविग्रह की पूजा–आरती से लेकर, पानी भरना, भोग-राग बनाना, बर्तन धोना आदि कोई काम बाकी न बचता।

आश्रम मे कुछ भी जमा धन न था और न नियमित अर्थागम की ही कोई व्यवस्था थी। फिर भी प्रतिदिन इतने वैष्णव एवं अभ्यागतों के प्रसाद—भोजन का प्रबंध जुटाना ही होता। आश्चर्य की बात थी कि एक दिन के लिए भी कभी न तो अन्न-धन का टोंटा पड़ा, न भोगराग या पाक-प्रबंध में कभी त्रुटि हुई और न अतिथि-सेवा में ही कभी कुछ बाधा पड़ी।

आश्रम में स्थापित श्रीविग्रह की कृपा की कथा का उल्लेख करते हुए संतदासजी बहुधा कहा करते, "मैंने गृहस्थाश्रम त्यागकर वृन्दावन-वास के प्रसंग मन में सोच रखा था कि वानप्रस्थाश्रम अवलंबन पूर्वक श्रीवृन्दावन में वास करूँगा और भिक्षान्न द्वारा उदर-पूर्ति कर लूँगा। किंतु श्रीठाकुरजी की ऐसी कृपा रही कि मुझे एक दिन के लिए भी भिक्षा के लिए बाहर जाने की जरूरत नहीं पड़ी। वृन्दावन में वास करते हुए भी मुझे कोई पाँच तो कोई दस—इस प्रकार रुपये भेजने लगे, उसी से साधु-सेवा का व्यय एक प्रकार से चलने लगा। उसके बाद समागम जितना बढ़ने लगा उसी अनुपात से अर्थागम भी अधिक होने लगा।

आश्रम में नियमित रूप से साधुसेवा का कार्य चले, इसमें सन्त-दासजी को अत्यधिक उत्साह था। कहना व्यर्थ होगा, इसलिए

अतिथि–अभ्यागतों का सिलसिला दिन-दिन बढ़ता ही जाता। एक समय अभ्यागत सेवा के कठोर परिश्रम एवं दैनंदिन के कार्य-भार से आश्रम के शिष्य लोग अत्यंत क्लांत हो उठे। उनमें कुछ तो यह भी सोचते कि संसार और आत्मपरिजनों को छोड़कर साधन-भजन के लक्ष्य से तो यहाँ आये थे। किंतु यहाँ तो साधु-सेवा एवं अतिथि-अभ्यागतों के पीछे ही सारा-का-सारा समय चला जाता है। इस परिस्थिति में आध्यात्मिक-साधना का अवसर कैसे मिले!

सभी लोग मिलकर एक दिन सन्तदास बाबाजी के पास पहुँचे और उनके सामने यह सारी अभियोग-समस्या रखी। उत्तर में उन्होंने कहा, "बाबा, तुम लोग यह निश्चय रूप से जान लो, बड़े भाग्य से साधु-सेवा का यह सुयोग तुम्हें मिला है। भगवत्-सेवा के द्वारा मन का मैल दूर होता है, और तब इसके बाद भजन-साधन का अधिकार स्वयं आप-ही-आप प्राप्त हो जाता है। सेवानिष्ठा छोड़कर केवल भजन करने के लिए बैठो भी तो तुम चित्त को स्थिर नहीं कर पाओगे। क्रिया-कर्म के पूरा करने पर थोड़ा-बहुत जो समय मिले, उपदेशानुसार भजन-साधन करते जाओ। प्रसन्न चित्त से ठाकुरजी एवं साधु-महात्माओं की सेवा परिचर्या करते चलो, इसीसे तुम्हारा यथार्थ कल्याण होगा। श्रीगुरु को तुमने आत्मसमर्पण कर दिया है, विचार-बुद्धि और साधनाभिमान का त्याग करके आदेश पालन करते जाना क्या तुम्हारा कर्तव्य नहीं है?" सन्तदासजी की बात ने उस दिन आश्रम के शिष्य एवं सेवकों के मन के भ्रांति दूर कर दी।

हरिद्वार के कुम्भमेला से दो मास पहले ही वृन्दावन में अर्धकुम्भ मेला लगता है। भारतवर्ष के विभिन्न भागों से सहस्र-सहस्र वैष्णव साधु यमुना के तट पर जमाजूट होते हैं। यमुना के पवित्र जल में स्नान-अवगाहन करते और विस्तृत तटभूमि पर आनन्द-उत्सव के साथ निवास करते। इस तरह वहाँ एक विराट मेला लग जाता है।

प्राचीन प्रथा के अनुसार इस स्थान में समवेत चारों वैष्णव संप्रदायों के साधु लोग व्रजविदेही महंथ के अतिथि होते हैं। उन लोगों के भोजन का सारा भार इन्हीं पर रहता है।

सन् १९२६ ई० में वृंदावन का मेला। साधुओं की जितनी भी जमातें आई थीं उनके सेवा-सत्कार में संतदास बाबाजी परम निष्ठा के साथ संलग्न थे। यमुना की इस चढ़ाई में महंथ लोग अपने सारे अनुयायी साधुओं एवं चेलों को लेकर आ जुटे थे। सर्वत्यागी महंथ संतदास बाबाजी किस प्रकार इस बहव्यय साधु-सेवा का कार्य सम्हाल सकेंगे, इस प्रश्न को लेकर आश्रमवासियों की जल्पना-कल्पना का कोई अंत नहीं था। किन्तु आश्चर्य की बात, प्रतिदिन के इस साधुसेवा-कार्य में कभी कोई कमी नहीं आई। सहस्र-सहस्र वैष्णवों के भोजन की सामग्री जैसे किसी अदृश्य हाथ के इशारे आश्रम के भंडार में ढेर-की-ढेर जमा हो जाती! दैनिक साधु भोजन का यह विराट् पर्व अनायास ही सम्पन्न होता, और इसमें कभी कोई बाधा नहीं पहुँची।

पंचक्रोशी परिक्रमा के दिन से ही संतदास महाराज फिर भी बड़ी विपत्ति में पड़ गये। वैष्णव महंथगण आ-आकर उन्हें पकड़ने लगे कि वह उनके नेता हैं, बड़े आडम्बर के साथ उन्हें हाथी पर चढ़ाकर, सबसे आगे रखकर, परिक्रमा की उत्सव-विधि का वे सब उद्यापन करना चाहते हैं। सभी को मालूम था कि काठियाबाबा महाराज के मानस-पुत्र इस महापुरुष को महंथी जैसा कोई मनोवृत्ति नहीं और न आयोजन उपकरण भी कुछ उनके पास है। यद्यपि संप्रदाय के महंथ यह सब बहुत कुछ यथेष्ट मात्रा में अपने पास रखते हैं। बड़े उत्साह के साथ वे सब अपनी ओर से सुन्दर-सुन्दर हाथी, किनखाब मढ़े हौदे और छत्र-चामर आदि लेकर उपस्थित हो गये। राजसी ठाठ से व्रजविदेही महंथ महाराज उन सभी समवेत साधुओं का जमातों का नेतृत्व करें, यही उनकी एकांत इच्छा थी।

किन्तु इस प्रस्ताव पर बाबाजी महाराज किसी तरह राजी नहीं

हुए। इष्टदेव श्रीराधाबिहारीजी और श्रीगुरुदेव—ये दोनों इस धाम में साक्षात् विराजमान हैं—फिर तो इस स्थान में हाथी पर सवार होना संतदासजी को स्वीकार कैसे हो? संतदासजी अड़े रहे, अन्ततोगत्वा पैदल चलकर ही साधुओं को परिक्रमा के लिए विवश होना पड़ा। उत्तर भारत के साधु-समाज की दृष्टि में उस समय वह केवल काठियाबाबा के शिष्य अथवा व्रजविदेही महंथ के रूप में ही संमानास्पद नहीं थे, अपितु एक शक्तिमान महापुरुष के रूप में भी उनकी ख्याति-प्रतिपत्ति असीम थी। इसी से अन्यान्य महंथगण भी बाध्य होकर उस दिन हाथी-हौदे को छोड़कर पैदल परिक्रमा को निकले। पुरातन आडंबरपूर्ण राजसी ठाठ की परिक्रमा के स्थान में इस बार भक्ति-विनम्र शोभायात्रा का विधान समग्र साधुसमाज और व्रजमंडल के जनगण के मानस को भाव-विभोर किये बिना नहीं रह सका।

उस बार हरिद्वार में कुंभमेले का अनुष्ठान चल रहा था। सौम्य-दर्शन, तेजःपुंज-कलेवर संतदास महाराज शिष्य एवं भक्त-मंडली के साथ कनखल के गंगा-तट पर आसन जमाये विराजमान थे। इस मेले में वास करते समय, न केवल भारतीय वैष्णव साधु-समाज के बीच, अपितु संन्यासी संप्रदाय के बीच भी उनकी प्रतिष्ठा और मर्यादा असाधारण रूप से बढ़ती गई।

इसी समय भोलानंदगिरि महाराज के आश्रम में साधु-संन्यासियों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ। गिरि महाराज के साथ संतदासजी का सौहार्द्र सम्बन्ध बहुत पहले से चला आ रहा था। संतदास महाराज को उन्होंने इस सम्मेलन में योगदान के लिए बड़े आदर के साथ आमंत्रण दिया। गिरि महाराज के कतिपय शिष्य आकर उन्हें अभ्यर्थनापूर्वक लिवा ले गये। सम्मेलन के निकट पहुँचकर देखा गया कि भोलानंदजी अपने हाथ में पुष्पमाला लिए संतदास महाराज के स्वागतार्थ प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनके पहुँचते ही गिरि महाराज ने माल्य अर्पण कर उनकी संवर्धना की।

सभा के मध्य भाग में मूल्यवान् वस्त्रमण्डित एक चौकी सजी थी; इसके पास ही दो आसन लगे थे। गिरिमहाराज और संतदासजी दोनों उस पर जा विराजे। उसके बाद उपस्थित साधुओं एवं संन्यासियों ने एक मत से संतदास महाराज को सभापति के पद के लिए निर्वाचित किया। विभिन्न मंडलियों एवं संप्रदायों के निकट भारतीय अध्यात्म जीवन की बहुमुखी धारा की प्रशस्ति में बोलते हुए संतदासजी ने जो कुछ कहा उससे शांति एवं आनंद की सरस्वती प्रवहमान हो उठी।

संतदासजी साधुओं को संबोधित करते हुए बोले, "हम देखते हैं कि शिशिर के बीतने पर वसन्त के उन्मेष से पूर्व आम्रमंजरियाँ फूट उठती हैं। चारों ओर प्रकृति के अन्तराल में लक्षित हो उठता है कि वसन्त के आविर्भाव में अब और विलम्ब नहीं, उसी प्रकार वर्तमान में जो नानाविध धर्म-सम्प्रदाय अपने-अपने विविध आदेशों एवं कर्म-पद्धतियों को लेकर जन-कल्याण के पथ को प्रशस्त करने के व्रती बने हैं, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत का शुभ दिन आने को ही है। आप लोग अपनी-अपनी साधन-प्रणाली और आदर्श के प्रचार के लिए जुटे रहें, लोक-मंगल की चेष्टा में लगे रहें, किंतु जो कुछ कोई किया करें भगवत्-उपासना को सामने केन्द्रित रखकर ही। मानव के प्रत्येक अनुष्ठित कर्म की प्रकृतसिद्धता भागवत जीवन के ऊपर ही निर्भर है, इस बात को हम कभी भूलें नहीं।

व्रजविदेही महन्थ सन्तदासजी को भोलागिरि महाराज बहुत दिनों से अत्यन्त प्रीति-सम्मान के साथ देखते आ रहे थे। इस बार कुम्भमेले से लौटते समय सन्तदास बाबाजी गिरिमहाराज से मिलने गये। बाबाजी महाराज के जीवनी-लेखक धनंजयदासजी इस अवसर का एक मनोज्ञ चित्र अंकित कर गये हैं—"वह एक अपूर्व दृश्य था! वह आ पहुँचे हैं, यह संवाद पाते ही गिरिमहाराज अपने गुफा-गृह से बाहर आ निकले और उन्हें देखते ही प्रेमावेश से दोनों भुजाओं में भर लिया। फिर दोनों ही उस तपस्या-गृह में प्रविष्ट हो

गये। उसके बाद उस स्थान में क्या सब हुआ, उसे हम क्या बतला सकते हैं? कुछ क्षणों के बाद जब वे बाहर निकले तब उन दोनों में जो परस्पर व्यवहार देखा वह अति घनिष्ठ मित्र जैसा था। प्रस्थान के समय नवीन टसर की धोती और चादर भेंट देकर, भोलागिरि महाराज ने स्वयं द्वार तक पहुँचाकर उन्हें विदा किया।"

बहुलब्धप्रतिष्ठ साधु लोग सन्तदासजी को उच्च कोटि का सिद्ध पुरुष कहकर मान्यता देते, श्रद्धा व्यक्त करते। तिरहुत के रामानन्दी-संप्रदाय के प्राचीन साधु स्वामी रामदास उनमें अन्यतम थे। भगवत् प्रेम में तन्मय यह साधु प्रायः प्रतिदिन सन्तदास महाराज के निकट आकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम करते, फिर एकांत भक्ति-भाव से उन्हें पंखा झेला करते। और कभी-कभी यह भी देखा जाता कि प्रेमाविष्ट नेत्र से सन्तदासजी की ओर निहारकर विनय-भरे स्वर से न मालूम क्या-क्या प्रार्थना किया करते और गुनगुना कर कुछ अस्फुट गीत गाते रहते।

कृष्णदासजी नाम के निंबार्क सम्प्रदाय के एक प्राचीन महात्मा जयपुर में वास करते थे। जन-समाज में वह 'सिद्धबाबा' कहकर प्रसिद्ध थे। सन्तदास बाबाजी के प्रति इनका अनुराग असाधारण था। केवल उनके दर्शन के लिए बड़े व्याकुल भाव से बीच-बीच में जयपुर से वह वृन्दावन पहुँच जाते। दूर से ही संतदासजी के दर्शन करते ही यह वृद्ध साधु 'जय हो महाराज, जय हो महाराज' की पुकार लगाते दौड़ पड़ते और उनके चरणों पर आ गिरते। दोनों के प्रेम-मिलन का यह दृश्य देखकर उपस्थित व्यक्तियों के आनंद की सीमा नहीं रहती।

समग्र भारतवर्ष के वैष्णव महंथ-गण सन्तदास बाबाजी को जिस श्रद्धादृष्टि से देखते उसकी अन्यत्र तुलना कठिन थी। १९२२ ई० के कुम्भमेले में बाबाजी महाराज अस्वस्थता के कारण सम्मिलित तो नहीं हो सके, किन्तु अपने कितने ही विशिष्ट शिष्यों को उज्जयिनी के मेला-क्षेत्र में उन्होंने भेज दिया था। उन लोगों को निर्देश दिया गया था कि मेले में आगत महन्थ लोगों को संतदासजी का दण्डवत् पहुँचा

दें। यह सुनते ही महंथ लोग ससंभ्रम बोल उठे, "संतदास महाराज हमारे गुरुतुल्य हैं, वे हमलोगों को दंडवत् कहें, यह कैसी बात? आप जब आश्रम लौटें, प्रत्युत हमारा साष्टांग प्रणाम उन्हें निवेदन करें।"

गुरु-भाइयों के बीच संतदास बाबाजी का प्रभाव कितना अधिक था, एक घटना से यह जाना जा सकता है। एक बार कलकत्ता आकर वह अपने बड़े गुरुभाई श्रीयुत अभयनारायण राय के साथ भेंट करने गये। कथा-वार्ता सम्पन्न हो चुकने पर संतदास महाराज अब विदा लेने को हैं, हठात् इस समय अभयबाबू भूमिस्थ होकर साष्टांग प्रणाम कर बैठे। संतदास अत्यन्त व्यग्र होकर उन्हें रोक रहे थे, पर उन्हें रोकना सम्भव न हो सका। अभयबाबू फिर उठकर खड़े हुए और बोले, "मैंने ठीक ही किया है। आप छोटे रहते हुए भी हमसे बहुत बड़े हैं। मैंने अंतःकरण से अनुभव किया है कि आपने श्रीगुरुदेव काठियाबाबा के स्वरूपत्व को प्राप्त कर लिया है। आप का बाहरी रूप भी तो ठीक बाबा के चेहरे से मिल-जुल गया है।"

गुरु के साथ उनकी एकात्मकता संतदासजी के एकांत आत्म-निवेदन का परिणाम था। अपने एक शिष्य के निकट इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था, "बाबा, मैं तुम्हें वास्तविक कथा बतलाता हूँ कि मुझे अपनी कोई सिद्धि-शक्ति नहीं। फिर भी। सद्‌गुरु ने मुझे अपना कर आत्मसात् कर लिया है। वे ही इस घटना में भी स्थित होकर तुम लोगों के गुरु बने हैं, एवं वे ही तुम सबों के कल्याण विधायक हैं, इस विषय में कोई संशय न रखना।"

गुरुशक्ति शिष्य के जीवन में किस प्रकार, किस पथ से संचारित होती है, इस विषय में उनका विचार अत्यन्त दृढ़ और असंदिग्ध था। उनके मत में शिष्य जितना अधिक आज्ञानुवर्ती और आत्म-समर्पण वाला होगा उतना अधिक उसके अन्दर गुरु-प्रदत्त अध्यात्म-शक्ति का विकास होगा। अहंभाव के प्राचीर को जितना ऊँचा करो उतना ही अध्यात्म साधन में विलम्ब होगा।

परंमपरागत गुरुशक्ति का मूल्य और मर्यादा सन्तदास महाराज

की दृष्टि में अत्यधिक थी। वह प्रायः कहा करते, "जगत की रचना के साथ-साथ परब्रह्म स्वयं ब्रह्मविद् गुरु के इस रूप में आविर्भूत होकर ब्रह्मविद्या का उपदेश स्वरूप प्राप्ति के लिए किया करते हैं। इस उपदेश को उपयुक्त शिष्यों के बीच स्फुटित करने की शक्ति वही गुरु में संचारित करते हैं। यह शक्ति परम्परा-क्रम से अविच्छिन्न रूप में आ रही है। इस परम्परागत शक्ति का लाभ जो नहीं कर सके वे चाहे कितने ही शक्तिधर और ज्ञानी क्यों न हो, शिष्य को मोक्ष-लाभ नहीं करा सकते।"

दीक्षाप्रदान और दीक्षाप्राप्त शिष्यों के साधन-जीवन को सुधारने में सन्तदास महाराज की कृपा की कोई सीमा नहीं थी। भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के सहस्र-सहस्र नर-नारी इस महापुरुष का आश्रय-लाभ कर धन्य हुए हैं।

बाबाजी महाराज ने फिर भी बहुधा ऐसे बहुत से व्यक्तियों को भी दीक्षा प्रदान की है जिन्हें साधारण बुद्धि से देखने पर अवांछनीय कहे बिना नहीं रहा जा सकता। इस विषय को अब कभी कोई आलोचना कर बैठता तो वह उत्तर देते, "देखो बाबा, किसी के हाथ में यदि अन्न-पात्र हो तो उस पर जो जितना भूखा होगा उसी का सर्वाधिक अधिकार होना चाहिए। पापी जब व्याकुल होकर शुद्धतर एवं महत्तर जीवन की आशा से आश्रय खोजने चले तो आध्यात्मिक कृपा का प्रयोजन उसे उस समय सबसे बढ़कर नहीं होना चाहिए क्या?"

इस प्रसङ्ग में काठियाबाबाजी को करुण-गाथा, अयोग्य पापी-तापी के उद्धार की कथा कहते-कहते सन्तदास महाराज के दोनों नेत्रों में आंसू भर आते। गुरुदेव की चर्चा करते-करते कहने लगते, "हमारे बाबा ने तो अयोग्य समझकर मेरा प्रत्याख्यान नहीं किया! यह बात जब मन में आती है, तो मैं इन लोगों को कैसे लौटा दे सकता हूँ?"

एक बार कोई दुश्चरित्र व्यक्ति व्याकुल भाव से प्रार्थी हुआ और सन्तदासजी को उस पर दया आ गई और उन्होंने उसे दीक्षा दी। उसके

बाद भी उसके चरित्र में अनेक स्खलन-पतन देखे गये। नव-दीक्षित शिष्य ने बड़े कातर-भाव से गुरु के सामने यह बात प्रगट की। करुणामय संतदास महाराज बोले, "बाबा, यह सब घटित हो रहा है तुम्हारे पुरातन कर्म के कारण। भय का अब कोई कारण नहीं है। मैं तो हूँ ही। मैंने तो तुम्हारी सारी त्रुटि-विच्युति की बात जान कर ही तुम्हें दीक्षा दी है।" आत्म-शुद्धि के लिए व्याकुल इस शिष्य ने एक दिन आँखों में आंसू भरकर सब के सामने गुरुदेव के निकट अपने सारे कुकर्मों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया। सब कुछ सुनने के बाद भी गुरुदेव में कोई भावांतर नहीं देखा गया। प्रशांत कंठ से उन्होंने केवल उससे कहा, "भय मत करो, नाम जप किया करो। सब कुछ ठीक हो जायगा।" यही दुश्चरित्र शिष्य आगे चलकर उनकी कृपादृष्टि-संप्राप्त से एक भक्त साधक के रूप में परिणत हो गया।

नाम की शक्ति अमोघ है—यह कथा बहुधा संतदास बाबाजी के मुख से सुनी जाती। अयोग्य शिष्य को क्यों आश्रय देते हैं, इस प्रश्न को सुनकर वह कहा करते, "देखो, इस समय नाम-स्मरण बहुत कम लोग किया करते हैं। यह व्यक्ति किस सूत्र के योग से यह कहकर कि 'मैं भगवान का नाम लिया करूँगा' मेरे निकट आकर उपस्थित हुआ है और मैंने भी शिष्य के दो-एक लक्षण उसमें पाकर उसे फिर भगवान के चरण में अर्पित कर दिया। यह तो अब उनका विषय हो गया, वही इसे शुद्ध कर लेंगे।"

संतदास महाराज का स्वास्थ्य एक बार बहुत गिर गया था। वृद्ध और अपटु शरीर से कोई परिश्रम सह्य नहीं होता, फिर भी इस भग्न स्वास्थ्य को लेकर भी मोक्षार्थियों को दीक्षा प्रदान के कार्य क्षण-पल के विश्राम का भी ठिकाना नहीं था। एक-एक दिन शरीर की क्रमिक अवसन्नता देखकर शिष्यों की चिंता बढ़ने लगी। इस समय दीक्षा-दान के कार्य को स्थगित रखने का अनुरोध बहुत से शिष्यों एवं

भक्तों ने उनसे किया। इस बात को सुनते ही तत्क्षण महापुरुष का करुणामय रूप प्रगट हो पड़ा। स्नेह-सजल नेत्रों से शिष्यों की ओर देखते हुए बोले, "बाबा, ऐसा होने पर यह शरीर लेकर ही क्या होगा, क्या यह बात कहनी पड़ेगी ?" विस्मय-विमुग्ध शिष्यों के मुँह से फिर कोई बात न निकली।

किन्तु जहाँ पर संन्यासी शिष्यों के चरित्र-गठन अथवा साधन-भजन का मौलिक प्रश्न जड़ित होता, वहाँ संतदास महाराज की सतर्क दृष्टि की कोई इयत्ता नहीं थी। उनके वज्र-कठोर शासन का निष्करुण रूप वहाँ दंडायमान रहता।

वृन्दावन-आश्रम में एक दिन निशीथ रात्रि में संतदासजी शय्या पर लेटे थे। एक सेवक-शिष्य चुपचाप उनके पाँव दबा रहा था। रात को आश्रम में बहुत से साधु-अतिथियों का आगमन हुआ। प्रसादान्न वितरण में इसके कारण अत्यधिक विलंब हो गया था। थके-माँदे शिष्य लोग खा-पीकर विश्राम करने चले गये थे। सारे काम पूरे हो चुके थे, केवल रसोई-घर की सफाई बाकी रह गई थी—यह बात कान में पड़ते ही तुरत वृद्ध महाराज शय्या पर उठ कर बैठ गये और कहने लगे, "तुम सब थक गये हो। आज तुम्हारा यह काम मैं ही कर लूँगा। ठाकुरजी के भोग-राग के घर का काम—इसमें कभी नियम की ढिलाई नहीं चलेगी।" शिष्य लोग अत्यंत लज्जित थे। सबों ने मिलकर यह काम तुरत पूरा कर लिया।

विग्रह-सेवा का भार जिस शिष्य पर निहित था, एक दिन ठीक समय पर उसकी नींद नहीं टूटी। यमुना-स्नान कर ठाकुरजी की सेवा पर बैठने में उसे विलंब हो गया। किन्तु मंदिर में प्रवेश करते ही उसने देखा, अस्वस्थ अपटु शरीर लेकर भी सन्तदास महाराज इस बीच सेवा-कार्य में जुट पड़े थे। शिष्य ने अपनी त्रुटि की मार्जना के लिए बारंबार क्षमा चाही।

सन्तदासजी आसन छोड़ कर हठात् उठ खड़े हुए। उसके बाद उसके गाल पर जोर की चपत लगाते हुए कहने लगे, "इतनी देर तक ठाकुरजी को जगाया नहीं जा सका! तुम्हारी यदि पूजा करने की इच्छा नहीं हो तो मुझसे कह तो देते। ठाकुरजी ने अभी भी मुझे इतना असमर्थ नहीं बना दिया है जो मैं उनकी सेवा न कर सकूं।" उस दिन के इस कठोर शासन से आश्रमवासियों को और अधिक सतर्क रहने की चेतना मिली।

कड़ाके के जाड़े में भी शिष्यों को कपड़े का जोड़ा-जूता तक पहनने की छूट सन्तदासजी नहीं देते थे। इस विषय में शिष्यों के प्रति यदि कोई सहानुभूति दिखलाता तो वे उत्तर देते, "नहीं बाबा, यह ठीक नहीं। मेरा शरीर वृद्ध और शिथिल पड़ गया है, इससे मैं कपड़े के जूते पहन लेता हूँ। नहीं तो साधू होने के बाद इस बीच तक मैंने कभी कोई जूता नहीं पहना। साधु के लिए जूता पहनना सङ्गत नहीं।"

साधु शिष्यों के नियन्त्रण में उनकी कठोरता की कोई अवधि नहीं थी। कोई भी त्रुटि देख पाते, तो लाठी, सोटा, जलावन की लकड़ी, जो कुछ मिलता उसी का प्रहार कर बैठते। दण्ड और तिरस्कार के बाद फिर हठात् शांत होकर उन लोगों का स्नेहादर से आप्यायित करने में भी कोई कसर नहीं रखते। स्नेह-मधुर कण्ठ से क्षुब्धचित्त शिष्यों को समझाने लगते, "जिससे अहंकार-अभिमान दूर हो, कल्याण-पथ पर आगे बढ़ सको, इसीलिए तो इतनी डांट-फटकार दिया करता हूँ। जब कभी डांट मिलेगी तो समझ सकोगे कि इसमें कुछ विशेष उद्देश्य है और फिर उसे प्रसन्नता से ग्रहण कर सकोगे। परिणाम यह होगा कि चित्त का मल दूर होगा, भगवद्दर्शन का अधिकार जगेगा। स्मरण रखना, जो आश्रय में आये लोगों को अभिमान बढ़ने का अवसर देते हैं, कभी वास्तविक गुरु होने की क्षमता नहीं प्राप्त कर पाते।

एक किशोर व्रजवासी ने बाबाजी के शिष्यत्व-लाभ का सौभाग्य अर्जित किया। उस शिष्य पर उनकी अहेतुकी कृपा थी, उसके साथ अत्यन्त प्रीतिमय व्यवहार करते, मानो वह उनका कोई सखा-साथी हो। इस सम्बन्ध में पूछे जाने पर सन्तदासजी ने दूसरे-दूसरे शिष्यों को बतलाया, "देखो बाबा, किसका कल्याण कैसे होगा, उसका कैसा क्या प्रयोजन है, यह सब बात तुम कैसे समझ पाओगे? यह तरुण माँ-बाप का बड़ा ही दुलारा था। बहुत छोटेपन में अपना घर-संसार त्याग कर यह यहां चला आया। यदि इसे आदर ममत्व न मिले तो इस वयस में आश्रम की कठोर जीवन-यात्रा में यह कहाँ तक टिक सकेगा? इसी से इसके प्रति इस रूप का व्यवहार मुझे रखना पड़ता है। जान लो, योगी किसी के वशीभूत नहीं होता।"

आश्रम के मेहतर तक को नित्य प्रसादान्न दिया जाता। एक दिन पंगत के समय अकस्मात् बहुत से साधु-अतिथि आ गये। फलतः खाने-पीने की सामग्री कुछ नहीं बची। भंगी को इसी से उस दिन खाना नहीं दिया जा सका, किन्तु यह बात बाबाजी की दृष्टि से छिपी नहीं रह सकी। उन्होंने इस सम्बन्ध में पूछताछ की तो शिष्यों ने बताया कि असमय में अनेक अभ्यागतों के आ जाने के कारण मेहतर को प्रसाद नहीं दिया जा सका।

सन्तदासजी यह सुनकर आगबबूला हो उठे और कहा, 'तुम लोगों की कोई बात मैं नहीं सुनना चाहता। आज से मेहतर के लिए पहले ही प्रसाद अलग रख दिया करो। उसके बाद ही किसी और को बाँटना। खबरदार! फिर आगे कभी दुबारा ऐसी घटना नहीं घटित होने पावे।" फिर मेहतर को सीधा देकर विदा किया गया। इसके बाद शान्त एवं स्निग्ध कंठ से वह बोले, "देखो, माता जिस प्रकार किसी प्रकार की घृणा न रखकर हम लोग का मल-मूत्र धोती-पोंछती है, क्या ये लोग भी उसी प्रकार हमारी सेवा नहीं करते? क्या उन्हें मुट्ठी-भर प्रसाद मिलने में कोई त्रुटि रहे, यह उचित है?"

अपने आचरण के माध्यम से ही बहुधा बाबाजी महाराज शिष्यों

के समक्ष प्रकृत आदर्श का बीज वपन करते। आश्रम के सारे-के-सारे कर्म-कलाप श्रीराधाबिहारीजी के लिए हैं, इसकी धारणा शिष्यों में सर्वदा बनी रहे, इसके लिए बाबाजी महाराज सतत जागरूक रहते। एक बार सन्तदासजी किसी कार्य के उपलक्ष्य में मथुरा गये थे। संध्या को उनके लौट आने की बात थी। किन्तु रात को नौ बज गये। वृंदावन आश्रम के व्यक्ति बड़े उद्विग्न हो रहे थे। हठात् देखा गया, वृद्ध बाबाजी महाराज एक बहुत बड़ा कद्दू कन्धे पर लिए मन्द-मन्द चले आ रहे हैं।

चिन्ताकुल शिष्यों ने जब विलंब के कारण की जिज्ञासा की तो वह कहने लगे, बाबा, सन्ध्या के समय मथुरा में एक इक्के का भाड़ा तय करना चाहा तो उसने रात हो जाने की बात बनाकर अधिक भाड़ा-प्रायः एक रुपया ऐंठना चाहा। ठाकुरजी के पैसे को इस तरह खर्च किया जाय, मन ने यह माना नहीं और इसी से पैदल चला आया। इसमें वैसा कुछ कष्ट भी नहीं मालूम पड़ा। स्मरण रखो, ठाकुरजी के पैसे का कोई अपव्यय नहीं होने पावे।"

सन्तदासजी एक बार श्रीहट्ट अंचल में भ्रमण कर रहे थे। अपने दूसरे बहुत से निजी शिष्यों के सिवा एक सम्प्रदाय का तरुण साधु भी उस समय उनके साथ था। एक दिन देखा गया, बाबाजी महाराज को प्रणामी में मिले रुपयों में से कुछ उसने चुरा रखे। उनके कान तक भी यह खबर पहुँची। क्रोध में तुरत उबल पड़े और उसे पीटने लगे। तरुण साधु उस समय बार-बार गिड़-गिरा कर क्षमा माँगता, किंतु इस घटना को लेकर सन्तदास के क्रोध का कोई ठिकाना नहीं था।

साधु से उसी समय उन्होंने इकरारनामा लिखा लिया। उसके बाद क्रोधावेश में उससे कह दिया—"देखो, अब ऐसा अपराध फिर तुमने कभी किया तो तुम्हें उल्टा बांध कर बाहर कर दिया जायगा। साथ-ही-साथ एक शिष्य को उन्होंने आदेश किया कि यह कागज पूरी सावधानी से उनकी झोली में अभी रख देना होगा।

मतलब यह कि यह एक महत्त्व का कागज है। इसे किसी प्रकार हाथ से जाने देना ठीक नहीं होगा।"

रात में बाबाजी महाराज शय्या पर लेटे विश्राम कर रहे थे। साथ के सेवक शिष्य इस अवसर पर उनसे अनुरोध कर बैठे, दुष्कर्म करने वाले इस नवागत साधु को शीघ्र वृन्दावन भेज दिया जाय नहीं तो उसको ले कर एक झंझट खड़ी होगी; इसके सिवा दुर्नाम भी कम नहीं फैलेगा। मुहूर्त भर में सन्तदासजी के भीतर से एक करुणामयी मूर्ति फूट निकली। आवेग-जड़ित कंठ से वह कहने लगे, "बाबा, ऐसा होने से तो इसके लिए कोई आशा नहीं रह जायगी। उससे तो यही अच्छा होगा कि तुम लोगों के सत्संग में रहकर कदाचित् इसका सुधार हो जाय। क्या ऐसा करना उचित नहीं?"

अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित होकर भी यह महापुरुष बाह्य जीवन के प्रत्येक कार्य को सुदक्ष अभिनेता के समान दिन-दिन संपन्न करते जाते। आश्रम की घास चुराते कोई पाया गया तो उस समय बाबाजी महाराज क्रोध से जैसे विक्षिप्त होकर उसे लात-घूंसे जमाते देखे जाते। और ठीक उसके दूसरे ही क्षण शिष्यों के सम्मुख परम शांति-भाव से भगवत्-तत्त्व की व्याख्या करते वह दृष्टिगोचर होते। आश्रम की धन-सम्पत्ति को लेकर विषयी लोगों के साथ कौड़ी-कण का हिसाब निकालते तो तुरत भक्तिगद्गद कंठ से शास्त्र की व्याख्या में मस्त होने में उन्हें एक क्षण भी देर न लगती। द्वैतसत्ता की यह विचित्रता बाहर के लोगों को भले ही देखने में भी नहीं आती हो, किंतु अंतरंग शिष्यों के साधन-जीवन के सम्मुख यह आदर्श रूप परिलक्षित हुए बिना नहीं रहता।

सद्गुरु के रूप में सन्तदासजी की लीला अत्यंत विस्मयजनक थी। शिष्यों के जीवन में उनकी नाना भोग-विभूतियाँ प्रकट होती देखी गईं। आश्रित शिष्य-जनों के साधारण-से-साधारण आचरण और कर्मानुष्ठान इस शक्तिमान् महापुरुष की सतत-सतर्क दृष्टि से कभी ओझल नहीं रहने पाया।

सन्तदास महाराज एक समय भुवनेश्वर में टिके थे। शिष्य निर्मल मित्र महाशय अन्य अनेक गुरु-भाइयों के साथ उनके दर्शन के लिए जा रहे थे। रास्ते में भुवनेश्वर का मन्दिर पड़ता था। वहाँ मन्दिर के सामने उन्होंने देखा कि बहुत से साधु एकत्र बैठे हुए हैं। निर्मलबाबू आदि सभी सज्जनों ने हाथ उठाकर दूर से ही उन्हें करबद्ध नमस्कार किया और आगे गंतव्य स्थान की ओर बढ़े।

सन्तदासजी के साथ उन लोगों का साक्षात्कार तो हुआ, किन्तु सबको अवहेलना करते हुए वह बोल उठे, क्यों जी, तुम्हारा यह व्यवहार कैसा है? साधु-संन्यासियों को देखकर साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। ऐसा कुछ तुमने किया नहीं। क्यों? सभी विस्मय से सोचने लगे—क्या गुरु महाराज की दृष्टि इस प्रकार उनके पीछे सर्वत्र सब कुछ देखती-सुनती तथा उनकी चौकसी करती रहती है?

उज्जयिनी का कुम्भमेला। इस बार सन्तदासजी उसमें उपस्थित नहीं हो सके। शिष्य अनन्तदासजी प्रतिनिधि-रूप में वहाँ गये थे। छत्र के नीचे बाबाजी महाराज का आसन सुरक्षित था। उनके पास ही अनन्तदासजी बैठे। मेला-क्षेत्र में आगत अन्यान्य लोगों के साथ-साथ भक्त श्रीसुरेन्द्र बसु सपत्नीक वहाँ उपस्थित हुए। हठात् एक समय ऐसा देखा गया कि सुरेन्द्रबाबू की स्त्री बाबाजी महाराज के छत्र के नीचे बैठकर बड़ी आकुलता से रो रही हैं। सभी लोग व्यस्त होकर उन्हें घेर बैठे। महिला किसी प्रकार शान्त हुई और फिर सब से कहने लगी—"बाबाजी महाराज का आसन शून्य देखकर मेरा मन अत्यन्त विह्वल हो उठा। मैं सोच रही थी कि बाबा इस समय यहाँ होते तो कितना आनन्द होता! मेरे मस्तक पर अपना वरद हस्त रखकर स्नेहपूर्वक आशीर्वाद से कृतार्थ करते। इतना सोचते ही मेरा हृदय और मस्तक जैसे क्षोभ एवं व्याकुलता एवं मूक वेदना से फटने सा लगा। सहसा मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि सन्तदासजी महाराज अपने निर्दिष्ट आसन पर साकार विराजमान हैं और मुझे

पास बुलाकर मस्तक पर हाथ रखकर, आशीर्वाद दे रहे हैं। यह दृश्य देखकर ही मैं जोर से चिल्ला उठी हूँ।"

और भी एक शिष्या को जो अलौकिक दर्शन प्राप्त हुआ, वह भी कम विस्मयजनक नहीं। यह थी सन्तदासजी के शिष्य धीरेन्द्रदास गुप्त की स्त्री। इनकी एक कन्या एक समय मरणासन्न पड़ी थी। महिला उस समय एकांत भाव से गुरुदेव का स्मरण कर प्रार्थना निवेदन कर रही थी। अकस्मात् उन्होंने देखा सन्तदासजी की ज्योतिमय मूर्ति सामने खड़ी है।

घटना का विवरण देते हुए लिखती हैं, "कितने क्षणों तक मैंने बाबा के दर्शन किये, उसका अंदाजा नहीं लगा सकती। कुछ काल के बाद वह मेरी कन्या के सिरहाने खड़े होकर अमृतभरी दृष्टि से हमारी ओर देखते क्रमशः घर की दीवाल में विम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विलीन होने लगे। वह दृष्टि, वह रूप-छाया मेरे अंतर में गँथ-गुँथ गई। उसे स्मरण करते ही सर्वांग शरीर आनंद से पुलकित हो उठता है। मेरी कन्या तो क्रमशः रोगमुक्त हो गई।"

इसके बाद महिला भक्त सन्तदासजी के दर्शन को गई। भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम कर उठ खड़ी हुई कि बाबाजी महाराज ने कोमल स्नेह-भरे स्वर से कहा—"बाहर की ओर अधिक खोज न करना, अन्तर की ओर देखने से ही सब कुछ प्राप्त होगा। मैं जो सब समय तुम्हारे समीप रहा करता हूँ।

बाबाजी महाराज की जीवन-लीला का शेष अध्याय इस बार समाप्ति पर आ पहुँचा। क्रमिक रूप से वह और अन्तर्मुखीन हो उठे। इस समय एक बार अपने शिष्यों एवं भक्तों के अनुरोध से गौहाटी आये। स्थानीय हरिसभा में उनको लेकर आनंदोत्सव की धूम मची थी। इस समय प्रसंगक्रम से बहुत से लोगों ने उनसे सानुरोध निवेदन किया, "आप कृपा कर आज भारत के सर्वद्रष्टा ऋषि-मुनियों की महिमा के सम्बन्ध में कुछ कीर्तन करें। आप जैसे महापुरुष के मुख से हमलोग कुछ श्रवण करना चाहते हैं।"

बाबाजी महाराज सहमत हो गये। भावतन्मयता की अवस्था में उनके दोनों नेत्र मुंद गये। सभा में अनेकानेक भक्त, शास्त्रज्ञ, पंडित एवं आधुनिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति आ जुटे थे। सबों की दृष्टि इस जटाजूट-मंडित तेजःपुंज-कलेवर महासाधक की ओर केन्द्रित थी। किन्तु आग्रह-व्याकुल श्रोताओं को विस्मित करते हुए बाबाजी महाराज इस समय एक कांड उपस्थित कर बैठे। कुछ भी बोलने की उनकी सारी चेष्टा व्यर्थ हो उठी। ऋषि-मुनियों के स्मरणमात्र से मुह्यमान महापुरुष अबोध बालक की भाँति जोर-जोर से रोने लगे। समग्र समवेत जनता विस्मय-विमुग्ध थी। बहुतों की आँखों में प्रेमाश्रु भर आये। सभी एक स्वर से बोले उठे, "अब आपको और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, हमलोगों के प्रश्न का उत्तर मिल गया है। हम लोगों ने आज जिस तथ्य को, जिस प्रकार, विलक्षण रूप में समझा है, वैसा शब्दालापों के द्वारा किसी प्रकार नहीं समझा जा सकता।"

बाबाजी महाराज के अन्दर इस बीच बाल-सुलभ स्वभाव बढ़ता जा रहा था। स्वभाव-गांभीर्य के स्थान में उद्‌गत थी, आनंदघन रसायित भाव-भंगी। उनके अन्तर-बाहर सर्वत्र धारा-प्रवाह आनन्द की स्रोतस्विनी प्रवाहित थी। बीच-बीच में मन के आनंदोच्छ्वास में वे गाने लगते—

तोरा के यात्रिरे आय रे भाई,
सबे मिले प्रेमधामे भाई।
तथाय प्रेममयेर प्रेम मुख—
एसो, देखे प्राण जुड़ाई॥

कलकत्ता शहर में उस बार उनकी अन्तिम आगमनी थी। सुप्रसिद्ध कानूनवेत्ता एवं सन्तदासजी के पुराने घनिष्ठ मित्र श्रीयुत व्रजलाल शास्त्री उनसे मिलने आये। बाबाजी महाराज ने उनसे कहा, "मैं जिस दिन सांसारिकता को त्याग कर श्रीवृन्दावन की यात्रा पर चला, उस दिन आप ने जिस प्रकार मेरे सहायक बनकर प्रकृत बंधुता का कार्य किया, इस बार भी उसी प्रकार सहायक बनकर मुझे वृन्दावन की गाड़ी

में बैठा दें। मेरा शरीर अब और चलने वाला नहीं। श्रीगुरुदेव का आश्रम मुझे अत्यन्त उग्रता से अपनी ओर खींच रहा है। यह शरीर जिससे उस स्थान पर पहुँच सके, ऐसी व्यवस्था करें और उसी दिन की तरह प्रकृत-बंधु का कार्य करें।

किसी को समझने में कसर नहीं रही कि बाबाजी महाराज शीघ्र ही लीला-संवरण करने वाले हैं। १३४२ साल का २२ कार्तिक। इसी दिन शिष्यों एवं सेवकों के साथ सन्तदासजी ने श्रीवृन्दावन धाम की यात्रा की। महाप्रयाण का लग्न इस बार आ पहुँचा। मरणशील जीवन के लीला-व्यापार का संवरण कर महापुरुष अमृतमय नित्यलीला में लीन हो गये। देह-मात्र गुरुधाम वृन्दावन में जब पहुँचा तो आश्रम-भवन लोगों से खचाखच भर गया। अत्यन्त समारोह के साथ यमुनाजी की युगलधार में उनका अग्नि-संस्कार सम्पन्न हुआ।

मथुरा के बनवारीलाल भटनागर सन्तदासजी के एक अनुग्रहभाजन शिष्य थे। बाबाजी महाराज की अंत्येष्टि के बाद उन्हें यह दारुण संवाद मिला। भक्त बनवारीलाल के समग्र अन्तर्मानस को मथित कर यह करुण वाणी निःसृत हुई—बाबाजी महाराज के अन्तिम दर्शन का सौभाग्य मुझे मिल सके, यह मेरे भाग्य में नहीं लिखा था। मथुरा में अपने भवन मे बैठकर सारा दिन वे अश्रुधारा बहाते रहे।

संध्या के बाद एक अलौकिक दृश्य देखकर भक्त बनवारी लाल की घिग्घी बँध गई। उन्होंने देखा, बाबाजी महाराज उनके सम्मुख प्रकट होकर स्नेह-भरे कंठ से कह रहे हैं, "बेटा, केवल लौकिक दृष्टि से ही यह मेरा शरीर विनष्ट हुआ है। तुम शांत रहो। तुम सदा मेरी दृष्टि में हो, यह समझ रखो। तुम बीच-बीच में वृन्दावन-आश्रम जाते रहो, और हमारे दर्शन कर आया करो।" अकेले केवल बनवारीलाल भटनागर ही नहीं, और भी बहुत से शिष्य उनके तिरोधान के बाद भी सन्तदास बाबाजी के प्रिय दर्शन से वंचित नहीं रहे।

श्री मधुसूदन सरस्वती

१६वीं शताब्दी के द्वितीय चरण की यह कथा है। दक्षिण बंगाल के चन्द्रद्वीप में (वर्त्तमान बारिशाल अंचल में) उस समय स्वाधीन राजा कन्दर्पनारायण का शासन चल रहा था। दिल्ली की सेना और राजा मानसिंह के प्रताप से समस्त बंगाल उस समय संत्रस्त था। आसन्न मुगल-आक्रमण की आँधी के सम्मुख यह क्षुद्र हिन्दू राज्य एक क्षीण प्रदीप-शिखा के समान जल रहा था।

दक्षिण बंग के नदी-नालों की प्राकृतिक परिखा के बीच बैठकर कन्दर्पनारायण किसी तरह से अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर रहे थे। उनका राज्य छोटा था, किन्तु राजधानी कचुआ में राज-गौरव और शान-शौकत की कमी नहीं थी। विद्योत्साही और वदान्य के रूप में उनकी ख्याति चारों दिशाओं में फैली थी। अनेक के वे आश्रय और आशा-भरोसा थे। उनकी राज-सभा में प्रार्थी, आश्रित और ज्ञानी-गुणी की सर्वदा ही भीड़ लगी रहती। गुण-ग्राही राजा कन्दर्पनारायण शास्त्रज्ञ पण्डितों, कवियों और विदग्ध जनों के प्रति सदा मुक्त-हस्त रहते।

कोटालिपाड़ा के उनसिया ग्राम के प्रसिद्ध पण्डित श्री प्रमोदन पुरन्दराचार्य एक दिन चन्द्रद्वीप की राज-सभा में उपस्थित हुए। वे प्रख्यात सुकवि और सर्वशास्त्रविद् थे। राजा और मंत्रियों ने सोत्साह उनकी अभ्यर्थना और सत्कार किया। पुरन्दराचार्य के संग उनके बालक पुत्र मधुसूदन भी आये थे।

आचार्य अपने पुत्र के सम्बन्ध में बहुत सचेत रहते थे। वे इस असामान्य प्रतिभाशाली बालक की मुक्तकंठ से प्रशंसा किया करते। वे बालक मधुसूदन को राजा की ओर आगे बढ़ाकर स्मित हास्य से बोले, "महाराज, यही है मेरा पुत्र मधुसूदन। अभी मात्र बारह वर्षों का ही है पर काव्य-रचना और शास्त्र व्युत्पत्ति में इसकी प्रतिभा असाधारण है। आठ वर्ष की आयु से ही इसकी असामान्य प्रतिभा पण्डितों के लिए विस्मय का कारण बन गई है। आप भी कुछ श्रवण करें।"

कन्दर्पनारायण ने प्रसन्नता की हँसी हंसकर उत्तर में कहा, "जी हाँ, यह तो बहुत अच्छा है। बालक की कविता जरूर सुनी जायगी। परन्तु आप लोग दीर्घ पथ अतिक्रमण कर यहाँ आये हैं, आज विश्राम करें। पीछे अवश्य ही हम लोग काव्य-चर्चा करेंगे।"

आचार्य ने इस अवसर पर एक और प्रार्थना की। अपने जिस ग्राम में वे सम्पत्ति का उ[illegible]। करते वह चन्द्रद्वीप राज के ही अधिकार में था। इस जमीन मे बड़े-बड़े आम्रवृक्षों का बाग था। पुरन्दराचार्य की सुविधा के लिए कन्दर्पनारायण उनके निकट से राजस्व के हिसाब में धान्य या अर्थादि नहीं लेते थे। वह प्रतिवर्ष केवल एक नाव आम कर के रूप में लेते थे। विद्योत्साही राजा के अनुरोध से यह फल-कर आचार्य स्वयं लेकर आते थे। इस उपलक्ष्य में सुकवि और शास्त्र-विशारद पुरन्दर के संग-लाभ से राजा और अनेक अमात्यों के आनन्द की सीमा न रहती। वे इस अवसर को अपना परम सौभाग्य मानते। किन्तु आजकल आचार्य बहुत वृद्ध हो गए हैं। दीर्घ पथ अतिक्रमण कर प्रतिवत्सर राज-सभा में आना अब उनसे पार नहीं लगता इसलिए इसका उन्होंने राजा के निकट निवेदन किया कि अब से वह स्वयं न आकर कोटालिपाड़ा के सरकारी कर्मचारी के निकट ही फल-कर जमा कर देंगे।

किन्तु यह आवेदन कन्दर्पनारायण के मनोनुकूल नहीं हुआ। उन्होंने कहा, "यह कैसी बात आचार्यदेव? इस उपलक्ष्य से, फिर भी राजधानी

में एक बार तो आपका पदार्पण हो जाता है—राजसभा में आनन्द तरंगायित हो जाता है। दया कर जब आप सर्वथा अशक्त हो जायें तभी दर्शन-दान से हमलोगों को वंचित करें।"

इस सुयोग को पाकर राजा से पुरन्दर ने फिर कहा—"महाराज, मेरे मधुसूदन की प्रतिभा का परिचय तो अभी आपको मिला नहीं। मेरे स्थान पर आपकी सभा में प्रतिवर्ष यही आ जाया करेगा। एक बार उसके स्वरचित रसमधुर पद तो सुनें।" यह असामान्य प्रतिभा-धर बालक पुत्र राज-सभा में अविलम्ब प्रतिष्ठा-लाभ करे और उन्हें स्वयं प्रतिवर्ष इतना कष्ट उठाकर आना न पड़े, यही उनकी आन्तरिक भावना थी। 'बहुत अच्छा, अवसर पर हमलोग आपकी और आपके प्रतिभाशाली बालक की काव्य-रचना का आनन्द-लाभ करेंगे" यह कहकर राजा उस दिन जल्दी ही सभा त्याग कर चले गये।

सब के साथ सम्भाषणादि के बाद पुरन्दराचार्य पुत्र के साथ राजा के अतिथि-भवन में गये। आचार्य वहाँ रहने लगे; लेकिन इस बार राजा कन्दर्पनारायण से पुनः साक्षात्कार करना मुश्किल हो गया। कई दिनों की अनवरत चेष्टा के बाद पण्डित ने अन्त में राज-दर्शन का सुयोग पाया। अपने और बालक मधुसूदन के सद्यः रचित कुछ चमत्कारपूर्ण श्लोक राजा कन्दर्पनारायण को सुनाये गये। किन्तु उस दिन राजा बड़े अन्यमनस्क और उदासीन थे। मधुसूदन की कई प्रतिभादीप्त कविताएँ श्रवण करने पर कन्दर्पनारायण ने साधारण-सी मौखिक प्रशंसा की, किन्तु उसके बाद ही द्रुत पद से चले गये।

अभिमानहत पुरन्दराचार्य विचारने लगे, इस तरह का अनमनाप और उपेक्षा तो कभी भी नहीं देखी थी। राजा का विद्योत्साह क्या आजकल शिथिल पड़ता जा रहा है? अथवा यह आचार्य के अपने ही ग्रह-वैगुण्य का फल है? किन्तु असल बात कुछ दूसरी ही थी। राजा कन्दर्पनारायण उस समय एक आसन्न राजनीतिक संकट के मुख में

थे। मुगल शक्ति उनके छोटे से राज्य को घेरती हुई अग्रसर हो रही थी। इसी से वह सम्प्रति अन्यथा चिन्ताकुल थे। काव्य, साहित्य, शास्त्रालोचना या सुधी-सज्जन-संग उनको नीरस जान पड़ता था। अतिथि-भवन मे निवास करते हुए पुरन्दराचार्य ने राजा से मिलने की और भी दो-चार बार चेष्टा की। वे अपने पुत्र की काव्य-प्रतिभा का प्रकृत स्वरूप उन्हे दिखलाने के लिए नितान्त उद्विग्न हो रहे थे। किन्तु आचार्य की चेष्टा व्यर्थ गई। साक्षात् तो हुआ, लेकिन उस समय राजा को अत्यन्त समयाभाव था। पण्डित के साथ कोई भी कथा-वार्ता उन्होने नहीं की। क्रुद्ध क्षुब्ध पुरन्दराचार्य घर लौटने के लिए अपनी नौका पर सवार हुए। कोटालिपाड़ा की चतुष्पाठी मे अध्यापन बन्द कर वे राज-दर्शन को आये थे--इसलिए वे यथाशीघ्र लौट जाने की चिन्ता में थे।

उनकी नौका चल रही थी। सौम्य-दर्शन बालक मधुसूदन छई के नीचे नीरव बैठे थे। वर्षा के जल से नदी-नाला घाट-बाट सब कुछ परिप्लावित था। कभी नहर-चौर से, कभी बांस-झाड़ के बीच से और कभी धान के खेत से होकर नौका बढ़ रही थी। बीच-बीच मे अचानक जल-जन्तु, फतिंगे धान के और पनडुब्बों के दल दिखाई दे जाते। धानी रंग के शीश से कूद-कूद कर नौका में आ जाते। किन्तु आज बालक मधुसूदन का मन इन सब की ओर कतई नहीं जाता। मौन, विक्षुब्ध बालक की दृष्टि केवल निःसीम आकाश के विस्तार की ओर स्थिर और निबद्ध थी।

अकस्मात् मधुसूदन उठे और पिता के चरण से लगकर बैठ गये। व्यर्थता की ग्लानि को अन्तर में अवरुद्ध कर वृद्ध पुरन्दराचार्य अबतक चुपचाप बैठे थे। पुत्र ने उनका ध्यान आकर्षित कर शान्त एवं दृढ़ कण्ठ से कहना शुरू किया, "पिताजी, मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अब मैं घर लौटकर नही जाऊँगा। आप अकेले ही देश वापस जायें। मैंने विचार कर देखा है, मनुष्य की आराधना न कर भगवान की ही आराधना करने में भलाई है और यही मैं अब से

एकान्त भाव से करूँगा। राजप्रासाद की अपेक्षा देवता के प्रासाद में ही मैं अपना जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। राजा की यह अवहेलना केवल मेरा ही अपमान नहीं, मेरे पिता का भी अपमान है। इससे समस्त ब्राह्मण, पण्डित-समाज और विद्या-वेत्ताओं की मर्यादा क्षुण्ण हुई है। केवल इतना ही नहीं, यह हमारे देश के शास्त्र और धर्म-संस्कृति का—ब्राह्मण-धर्म का अपमान है।" इन बातों को कहते-कहते तेजोदृप्त, अभिमान-हत बालक के होंठ रोष से काँपने लगे।

कुछ क्षण बाद शान्त और दृढ़ कण्ठ से मधुसूदन ने कहा, "पिताजी, मैंने यह संकल्प कर लिया है कि अविलम्ब संसार को त्यागकर संन्यास लूँगा। शास्त्रों में लिखा है—आप के मुख से भी सुना है, भक्त का भार भगवान ही वहन करते हैं। आशीर्वाद दें—अब से एकमात्र भगवान के ऊपर ही निर्भर होकर मैं चलने में सक्षम होऊँ। सुना है, नवद्वीप में श्री गौरांगदेव का आविर्भाव घटित हुआ है। मैं उनकी ही शरण लूँगा। आज आप कृपाकर गृहत्याग करने की अनुमति दें।"

वृद्ध पुरन्दराचार्य के मुख से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। बारह वर्ष का छोटा-सा बालक यह क्या प्रस्ताव कर रहा है? उसकी युक्ति अकाट्य है। राजानुग्रह की अपेक्षा राजाओं के राजा श्री भगवान की कृपा को भुलाया नहीं जा सकता। इसी श्रेय का पथ तो वह स्वयं भी आजीवन खोजते चले आ रहे हैं, किन्तु इच्छा रहने पर भी माया का बन्धन काटकर बाहर नहीं निकल पा सके हैं। ज्ञान-वृद्ध होकर भी वे जिस अभिलाषा को पूर्ण करने में सक्षम नहीं हो सके, उसे साधने के लिए यह दुग्ध-मुख बालक कटिबद्ध है।

मधुसूदन बार-बार विनयपूर्वक पिता की आज्ञा माँगने लगे। आचार्य पुरन्दर भी तर्कहीन भाव से बोल उठे, 'अच्छा बेटा, वही करो। आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी मनोकामना सिद्ध हो। तुम्हारे श्रेय के पथ में मैं बाधा नहीं दूँगा। परन्तु एक बात! तुम यहाँ से ही मत चले जाओ। पहले घर लौट चलो, वहाँ तुम्हारी माँ हैं। उनकी सम्मति भी

तो लेनी पड़ेगी !" वृद्ध पिता के नेत्रों में अश्रु-रेखा झलमला उठी। मधुसूदन ने उनके चरणों में प्रणाम कर भाव-गद्गद कण्ठ से कहा, "पिताजी, मैंने आपकी सम्पति पा ली, आज मेरा जीवन धन्य हुआ।"

घर लौटने के बाद मधुसूदन ने माँ के चरणों पर गिरकर कहा, "माँ, मुझे एक भीख माँगनी है। पहले मुझे वचन दो कि तुम मुझे दोगी।" आदर-भरे कण्ठ से माँ बोल उठी, "बोलो बेटा, तुम क्या चाहते हो ? तुम्हारे लिए मुझे अदेय क्या है ? जो चाहोगे, उसे निश्चय ही दूँगी।"

मधुसूदन ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि वे संन्यास लेना चाहते हैं और माँ को आज इसी की अनुमति देनी होगी। अचानक माँ के सिर पर जैसे वज्रपात हुआ। क्रन्दन और विलाप से उन्होंने घर-आँगन को डुबा दिया। किन्तु उसकी स्वीकृति तो मधुसूदन को मिल ही गई थी।

क्रन्दनरत जननी को आश्वस्त कर बालक मधुसूदन ने कहा, "माँ, तुम अधीर न हो। मैं गृह-त्याग कर एकदम ही निखोज नहीं हो रहा हूँ। सुना है, नवद्वीप में भगवान श्री गौरांगदेव सांगोपांग अवतीर्ण हुए हैं। संन्यासी होकर उनके ही चरण-तल में जीवन बिताने का मैंने निश्चय किया है। नवद्वीप कौन इतना दूर है ? मैं तो तुम्हारे निकट के ही अंचल में रहूँगा।"

वृद्ध पुरन्दराचार्य ने निकट आकर पुत्र से कहा, "बेटा, एक बात तुम स्मरण रखना—प्रकृत ज्ञान के उदय न होने पर केवल बाह्य दृष्टि से संन्यास-ग्रहण वृथा है। तुम नवद्वीप जा रहे हो, जाओ। वहाँ शास्त्र-ज्ञान लाभ करने का बड़ा सुयोग है। मेरा अनुरोध है कि पहले यथा-रीति ज्ञान प्राप्त कर पीछे संन्यास लेना। अभी शीघ्रता नहीं करना। पहले उस कठिन आश्रम की योग्यता अर्जित कर लेना, तभी उसमें प्रवेश करना।"

मधुसूदन इस बात पर राजी हो गए और उन्होंने जनक-जननी का आशीर्वाद लेकर शुभ लग्न में गृह-त्याग किया। छोटे से बालक के गृह-त्याग से पूर्व-बंग के कोटालिपाड़ा का समाज आलोड़ित हो उठा।

किन्तु, जो विपुल सम्भावनाएँ इसमें छिपी थीं उसका प्रकृत सन्धान उस दिन किसने पाया ? किसने कल्पना की कि फरीदपुर का यह विरक्त बालक आगे चलकर भारतवर्ष का अन्यतम श्रेष्ठ अद्वैतवादी होगा। परिणत वयस में यही बालक आचार्य शंकर और स्वामी विद्यारण्य की परम्परा का उत्तर साधक और उद्‌भट प्रतिभाशाली वेदान्तिक संन्यासी के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

मधुसूदन का साधक-जीवन बड़ा अपूर्व था। इसमें भक्तिवाद के साथ अद्वैत-ज्ञान का, विद्वता के साथ योग-साधन का अपरूप समन्वय था। उनका रचित दार्शनिक महाग्रंथ—"अद्वैतसिद्धि" विश्व के विद्वानों के लिए विस्मयकारी है। यह महान् ग्रंथ नव्यन्याय की विचार-प्रणाली सहित संन्यासी साधक की तपोज्ज्वला बुद्धि से समृद्ध है। इसमें अद्वैत तत्त्व का अन्यतम प्रकाश है। शास्त्र-ज्ञान, देवो-मनीषी और अध्यात्म-शक्ति के बल से मधुसूदन सरस्वती सम-सामयिक भारत के सर्वश्रेष्ठ अद्वैतवादी संन्यासी के रूप में उन दिनों प्रसिद्ध थे।

मधुसूदन की जन्म-भूमि ऊनसिया संस्कृति-सम्पन्न, ब्राह्मण-प्रधान ग्राम था। यह प्राचीन विक्रमपुर का अंश-विशेष था तथा वर्तमान फरीदपुर जिला के कोटालिपाड़ा परगना के अन्तर्भुक्त था। किसी समय यह कोटालिपाड़ा मदारीपुर का ही अंश माना जाता था।

हिमाचलोद्‌भूत गंगा और ब्रह्मपुत्र की बहुमुखी धाराएँ इस भूमि को अभिसिंचित करती हुई बहती हैं। इस अंचल में मनमौजी प्रकृति अपने लीला विस्तार से सृजन और विनाश के अनेक खेल खेलती रहती है। कभी तो ग्राम-नगर, खेत-पथार, नदी-गर्भ में पड़ जाते हैं; कभी जल-गर्भ से नयी भरी धरती निकल आती है। मधुसूदन को इस जन्म-भूमि से मिली थी मनीषा और पितृपक्ष से मिला था सृजनशील प्रतिभा का वरदान। बारहवीं सदी के शेष काल में एक समय कान्यकुब्ज अंचल शहाबुद्दीन गोरी के अत्याचार से विक्षुब्ध हो उठा। धर्मप्राण पण्डित श्रीराम मिश्र अग्निहोत्री स्वजनगण सहित नवद्वीप आकर बस

गये। इस वंश की ही एक शाखा काल-क्रम से कोटालिपाड़ा में जा बसी। इन लोगों के बीच से न्याय और वेद-वेदान्त में पारंगत अनेक विख्यात पण्डितों का आविर्भाव हुआ। वंग-देश मे वेद के प्रचार में उस समय राम मिश्र की सन्तानों को अशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसी वंश के थे प्रमोदन पुरन्दराचार्य के पुत्र श्री मधुसूदन सरस्वती। संस्कृत साहित्य और शास्त्र मे पुरन्दराचार्य की असाधारण व्युत्पत्ति थी। वे प्रतिभाधर कवि भी थे। इस धर्मनिष्ठ और मेधावी पण्डित के घर में, आनुमानिक १५२१ खृष्टाब्द में मधुसूदन का जन्म हुआ। वे पिता के चतुर्थ पुत्र थे।

मधुसूदन की विस्मयकर प्रतिभा का प्रकाश उनके बालक-वयस में ही घटित हुआ। मात्र आठ वर्ष की आयु में ही वे काव्य, अलंकार और न्याय-शास्त्र में पारंगत हो गए। इस छोटे से बालक की प्रतिभा और ज्ञान को देखकर सब चकित हो जाते थे। पुरन्दर आचार्य के घर में प्रायः ही पण्डित-मण्डली का समागम होता। कौतूहलवश वे बालक पुरन्दर को काव्य-रचना में प्रोत्साहित करते और तत्काल ही इस बालक के कंठ से सद्यः रचित उच्च श्रेणी की श्लोक-धारा निर्गत होने लगती। बारह वर्ष के होते-होते मधुसूदन ने अपनी प्रखर प्रतिभा से कोटालिपाड़ा के पण्डित-समाज को चमत्कृत कर दिया।

निःसंग और कपर्दकहीन अवस्था में मधुसूदन उस दिन घर से बाहर हो गये। नाना पथ-प्रान्तर पार करने के बाद सामने आयी मधुमती नदी की स्फीत धारा। पास में कहीं कोई घर नहीं। एक नौका भी कहीं नजर नहीं पड़ती। वे बड़ी दुश्चिन्ता में पड़ गये। पार होने का उपाय क्या? अन्त में लौकिक चेष्टा त्याग कर, निरुपाय भाव से, वे देवी जाह्नवी का स्मरण करने लगे। दीर्घ काल तक आवाहन करते रहने के बाद ध्यानाविष्ट बालक के सम्मुख देवी ने आविर्भूत होकर कहा, "वत्स, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। आशीर्वाद देती हूँ, तुम शीघ्र ही नदी पार करने में समर्थ होगे।"

मधुसूदन ने कहा, "करुणामयी जननी ! मुझे केवल इस नदी को पार करा देने से ही काम नहीं चलेगा, जिससे कि मैं भव-नदी पार हो सकूँ वह वर भी मुझे दो।" "तथास्तु" कहकर देवी अन्तर्हित हो गईं।

कुछ क्षण बाद ही भाटा के वेग से बहती हुई मछुओं की एक नौका द्रुत वेग से बहती हुई उनकी ओर चली आ रही है। असहाय बालक के ऊपर मछुओं को दया आई। उनकी सहायता से मधुसूदन नदी पार कर गये।

बहुत कष्ट के बाद नवद्वीप आकर मधुसूदन ने जो संवाद सुना उससे उनकी मर्मवेदना की सीमा न रही। प्रेमावतार श्री गौरांग चिरकाल के लिए नवद्वीप त्याग कर नीलाचल चले गये थे। गृह-त्यागी बालक के सम्मुख कठिन समस्या उपस्थित हो गई। कुछ दिन गौरांग–भक्तों के सान्निध्य में रहकर उन्होंने नाम–कीर्तन श्रवण किया और घूमकर सब पुण्य–स्थली देख ली। उसके बाद अन्तर में दुश्चिन्ता जागृत हुई—साधन-जीवन में इस समय वह कौन पथ, कौन-सा आश्रम ग्रहण करें ?

वैराग्य और मुमुक्षा का पथ चिर दिन के लिए उन्होंने चुन लिया है, संन्यास-ग्रहण उन्हें करना ही होगा। किन्तु पिता के निकट जो वचन दे आये हैं उसका भी तो पालन करना है। संन्यास की योग्यता उन्हें पहले अर्जित करनी ही होगी। शास्त्रोपलब्धि के मार्ग से ही धीरे-धीरे मोह-मुक्ति होती है और संन्यास की वृत्ति जगती है। अतः वे इसी पथ पर चलेंगे। अध्यात्म-शास्त्र के अध्ययन में वे शीघ्र ही कृत-संकल्प हुए, किन्तु भारत में कहाँ और किस केन्द्र में वह अपनी साधना शुरू करें—वाराणसी, मिथिला या नवद्वीप में ?

भारतीय शास्त्र-मंजूषा की एक बड़ी चाबी है न्याय-शास्त्र का अध्ययन। इसमें पारंगत न होने से शास्त्रों में प्रवेश पाना कठिन था। नवद्वीप उस समय नव्य-न्याय की तुमुल चर्चा से आलोड़ित हो रहा था। समग्र भारत से शिक्षार्थी इसी स्थान पर आकर न्याय का

अध्ययन करते। ख्यातनामा आचार्यों का भी इस स्थान पर कोई अभाव नहीं था। मधुसूदन ने स्थिर किया कि यहीं रहकर न्याय का अध्ययन करेंगे।

पण्डित मथुरानाथ वहाँ के अप्रतिद्वन्द्वी नैयायिक थे। रघुनाथ शिरोमणि के बाद ऐसे प्रतिभाधर पण्डित इस देश में पैदा नहीं हुए थे। मधुसूदन एक दिन उनके निकट उपस्थित हुए। द्वादश वर्षीय इस बालक शिक्षार्थी की कवित्व-शक्ति, विचार-बुद्धि और विद्यावत्ता देख पण्डित मथुरानाथ बहुत चमत्कृत हुए। प्रियदर्शन बालक को देखकर ही आचार्य के हृदय में जैसे एक सहज स्नेह जाग्रत हो गया। उस दिन से स्वयं ही उन्होंने उनकी शिक्षा का भार ले लिया।

कुछ दिनों के अध्यापन के बाद अध्यापक के विस्मय को सीम न रही। अलौकिक प्रतिभावान पर छोटा–सा बालक अविश्वास्य तीव्रता से एक के बाद दूसरे शास्त्रग्रन्थ को समाप्त करता जाता है और प्रत्येक में वह पारंगत हो उठता है। उसने शीघ्र ही नैयायिक-श्रेष्ठ गंगेश उपाध्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्व–चिन्तामणि' को समाप्त कर लिया। इसके बाद पक्षधर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि और मथुरानाथ की टीकाओं पर भी अधिकार करने में देर न हुई। स्वल्प काल में ही न्याय–शास्त्र में मधुसूदन का सहज और स्वाभाविक प्रवेश हो गया। आचार्य मथुरानाथ अपने शिष्य को दैवी प्रतिभा से स्तब्ध–विस्मित थे।

मधुसूदन ने न्याय-शास्त्र का पाठ तो कर लिया, किन्तु नवद्वीप के भक्तिमार्गीय साधकों के सान्निध्य से उनका अन्तर रसायित हो उठा। मर्म के मधुकोष में श्रीकृष्ण चैतन्य की ही वाणी भर रही थी। "ईश्वर परम कृष्ण" की रसोज्ज्वल मूर्त्ति का ध्यान इस वैरागी बालक को दिनानुदिन रसाविष्ट कर किसी अन्य लोक में पहुँचा देता है।

श्री गौरांगदेव एक अवतार पुरुष हैं—यह धारणा बाल्य-काल से ही मधुसूदन में बद्धमूल थी। महाप्रभु द्वारा प्रचारित तत्त्व और

और रस मधुर लीला-कहानियाँ भी उन्हें कम आलोड़ित नहीं करतीं। महाप्रभु ने दिग्विदिग् में भक्ति की धारा बहाकर भक्ति-पथ के अनुकूल माधुर्यमय द्वैतवाद का भी प्रचार किया था। मधुसूदन के हृदय में भी वही मधु-गुंजन बस रहा था। इधर नव्य-न्याय का अध्ययन करने के कारण बौद्धिक स्तर पर भी द्वैतवाद में उनकी आस्था दृढ़तर हो उठी। न्यायशास्त्र के मत में ईश्वर, जीव, जगत् सब कुछ ही पृथक् हैं। इसी से इस शास्त्र का सिद्धान्त द्वैत-परक है। मधुसूदन ने इस बार मन-ही-मन स्थिर किया कि अपनी प्रतिभा और विद्या के बल पर वह एक ऐसे अकाट्य द्वैतवादी ग्रन्थ की रचना करेंगे जो महाप्रभु के प्रचारित मत को दार्शनिक विचार की दृष्टि से अप्रतिहत कर देगा।

किन्तु इस कार्य का प्रधान अन्तराय था शंकर-मत। शंकर के अद्वैत मत का खण्डन किये बिना भक्तिवादी द्वैतमत को सर्वतोभाव से वह किस प्रकार स्थापित कर सकेंगे? इसलिए समग्र अद्वैतवाद का मंथन करना ही होगा। अद्वैतवाद की दुर्बलता जानकर उसके दुर्ग पर वे चरम आघात कर सकेंगे। मधुसूदन ने निश्चय किया कि इस बार उन्हें वेदान्त-विद्या के केन्द्र वाराणसी जाना होगा।

नवद्वीप से वाराणसी का पथ बहुत दिनों का था। उन दिनों हिंस्र जन्तु, दस्यु और सैनिकों के कारण यह मार्ग विपद-संकुल था। किन्तु किशोर अभियात्री का सङ्कल्प अटूट था उसे बाधा का कोई भय नहीं। कपर्दकहीन मधुसूदन एक दिन असीम साहस के साथ प्रिय ग्रंथों की झोली कंधे पर ले, पैदल चल वाराणसी जा ही पहुँचे।

उस समय काशीधाम में निरन्तर शास्त्र-चर्चा और विचार-द्वन्द्व चला करता। अनेक देश-विख्यात पण्डित वहाँ अपने शिष्यों के साथ निवास करते। रामतीर्थ, उपेन्द्र, तीर्थ नारायण, भट्ट, माधव सरस्वती, नृसिंहाश्रम, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ आश्रम, कृष्ण तीर्थ, विश्वेश्वर सरस्वती प्रभृति महापण्डितों की प्रतिभा की छटा से

चतुर्दिक् आलोकित था। इनके बीच वेदान्त-केशरी रामतीर्थ ही मधुसूदन को पसन्द आये। उन्हीं के निकट वेदान्त का उच्चतर अध्ययन करने लगे।

आचार्य रामतीर्थ के पास ऐसे शिक्षार्थी बहुत ही कम आये थे। वेदान्त अध्ययन के लिए जो कई प्रधान गुण हैं, मधुसूदन में वे जैसे पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। त्याग, वैराग्य और भक्ति के साथ उनमें थी कुशाग्र विद्याबुद्धि। उनकी लोकोत्तर प्रतिभा के साथ सम्मिलित हो गई थी श्रम-निष्ठा और दुस्तर तपस्या। कठोर-व्रती ब्रह्मचारी के जीवन में साधना और शास्त्रानुशीलन एक साथ ही अनुष्ठित होने लगे।

नितान्त अल्प समय में ही, अतिमानुषी प्रतिभा-बल से मधुसूदन ने अगणित दुरूह शास्त्र-ग्रंथों का अभ्यास कर लिया। नवद्वीप में ही उन्होंने न्याय-शास्त्र में असाधारण पाण्डित्य अर्जित कर लिया था। इस बार वेदान्त में भी वे पारंगत हो गये।

दाक्षिणात्य के अन्यतम श्रेष्ठ पण्डित नारायण भट्ट के साथ इसी समय एक दिन काशी के प्रसिद्ध वेदान्तिक नृसिंहाश्रम और उपेन्द्र सरस्वती का विचार-द्वन्द्व चल रहा था। इस विचार-द्वन्द्व में तरुण नैयायिक मधुसूदन का वेदान्तवादी पण्डितद्वय ने यथेष्ट सहायता की। किन्तु दक्षिणी पण्डित नारायण भट्ट थे एक धुरन्धर मीमांसा-शास्त्रविद्। इस विद्या की सहायता से उन्होंने इन दोनों प्रवीण वेदान्त-वादियों को सभा में निरुत्तर कर दिया। उस घटना से मधुसूदन सजग हो उठे। उनकी दृष्टि खुल गई। मीमांसा शास्त्र का भी अभ्यास करने के लिए वे कृत-संकल्प हो उठे। उस समय काशी में माधव सरस्वती नैयायिक मीमांसक के रूप में खूब प्रख्यात थे। मधुसूदन ने इस बार उनकी ही शरण ली। थोड़े समय में मीमांसा-शास्त्र में भी उन्होंने प्रगाढ़ व्युत्पत्ति लाभ की।

प्रारम्भ से ही न्याय-पीठ की दृढ़ और परिमार्जित भित्ति पर मधुसूदन खड़े थे। इस बार एक के बाद एक समस्त दर्शन और अध्यात्मशास्त्र के ऊपर वे अपना अधिकार करने लगे।

एकनिष्ठ साधन और शास्त्रानुशीलन के फल से उनके जीवन में अपरूप तपोज्ज्वल बुद्धि विकसित हो उठी और उसी के संग-संग वेदान्त का निहितार्थ भी उनके अन्तर में उद्भासित होने लगा। मधुसूदन के तत्त्व-विचार और साधना के सम्मुख अद्वैत ज्ञान का प्रकृत रहस्य उद्घाटित हुआ। साथ ही, भक्तिवाद का जो बीज उनके जीवन में दीर्घकाल से अंकुरित हो रहा था, वह भी क्रमशः बढ़ने लगा।

मधुसूदन ने देखा कि भगवान को अन्तरात्मा के रूप में जाने बिना जीवन के लिए सच्ची भक्ति, सच्चा आत्म-समर्पण कभी सम्भव नहीं होता और इस आत्मस्वरूप का बोध ही साधक के समस्त भेद-ज्ञान को विलुप्त कर देता है—अभेद और अद्वैत-ज्ञान उसके मन में उद्भासित हो उठता है। अन्तरात्मा तो मैं स्वयं हूँ। भक्ति और आत्मसमर्पण में इसी से सामान्यतम भेद ज्ञान रहने से जीव का 'निजत्व' बचा रहता है—द्वैत वहाँ खड़ा हो जाता है। बृहदारण्यक में महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी परम अद्वैत ज्ञान को आत्मप्रीति के उदाहरण द्वारा उद्घाटित किया है—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति"—अर्थात् श्रुति कहती है, पति के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने लिए ही पति प्रिय होता है। इसका निहितार्थ प्रकृत प्रेम आत्मा से ही होता है एवं उसके साथ समन्वित हो यह दूसरे पर जन्मता है। पूर्णतम प्रेम इसी से केवल भगवान की—आत्मा की उपलब्धि करने से ही सम्भव हो सकता है। अर्थात्, पूर्ण अभेद ज्ञान में ही पूर्ण भक्ति निहित रहती है—अन्यत्र नहीं। मधुसूदन ने और भी समझा, सर्वापेक्षा प्रामाणिक शास्त्र एवं श्रुति प्रकृति पक्ष में अद्वैत ब्रह्म का ही तत्त्वनिर्देश करती है।

अद्वैत-सिद्धान्त की मौलिकता और सत्यता के सम्बन्ध में इस समय मधुसूदन के मन में कोई सन्देह न रहा। यह सत्य उनके जीवन में पूरा-पूरा उतर गया। किन्तु अब परिताप होने लगा कि क्यों भ्रांत

विषय-बुद्धि द्वारा परिचालित हो इस अद्वैतवाद का खण्डन यहाँ करने आये ? केवल यही नहीं, इसके लिए कपट आचरण करने से भी उन्होंने द्विधा नहीं की। शिक्षा-गुरु महान आचार्य स्वामी रामतीर्थ के निकट उन्होंने अपने वेदान्त-पाठ के प्रकृत उद्देश्य को गोपन रखा था। इस पाप का प्रायश्चित्त आज उन्हें करना ही होगा।

अनुतप्त मधुसूदन ने गुरु को निवेदन किया, "भगवन्, मैंने आपके चरणों में भयंकर अपराध किया है। आप कृपा कर मेरे इस पाप के लिए मुझे उपयुक्त दंड देने का विधान करें !"

स्वामी रामतीर्थ इस बात से आश्चर्यान्वित हो उठे और बोले, "यह क्या वत्स ! तुम्हारे समान सदाचारी गुरुभक्त विद्यार्थी तो मेरे यहाँ कभी आया नहीं।—कोई अन्याय आचरण भी तो मैंने तुम्हें आज तक करते नहीं देखा। तब तुम्हारे मुख से यह सब क्या सुन रहा हूँ ?"

मधुसूदन ने साश्रुचक्षु से निवेदन किया, 'भगवान्, मैं किस उद्देश्य से आपके निकट वेदान्त-शिक्षा लेने यहाँ आया था, यह आज मैं खोल कर कहूँगा। भय था, आगे यह बात खोलकर कहने से, आप अपनी श्रेष्ठ विद्या-सम्पदा मुझे नहीं देंगे। संसार त्याग कर श्री चैतन्यदेव का आश्रय ग्रहण करने के लिए मैं नवद्वीप आया। किन्तु उनका दर्शन-लाभ भाग्य में नहीं था। वह संन्यास ले श्रीक्षेत्र जा चुके थे। उसके बाद पिता के आज्ञानुसार नवद्वीप में शास्त्र-ज्ञान-संचय करने लगा। उद्देश्य था, शास्त्र-पाठ द्वारा मन को मोहमुक्त कर संन्यास लूँगा। अध्ययन-क्रम से नव्य-न्याय में मेरा प्रवेश हुआ तब मैंने संकल्प किया कि मैं श्री चैतन्यदेव के भक्तिवाद और द्वैत-वाद के अनुकूल एक श्रेष्ठ दार्शनिक ग्रन्थ की रचना करूँगा जिसमें अद्वैतवाद का खण्डन रहेगा। इसी गोपन उद्देश्य को लेकर मैं आपके निकट आया किन्तु धीरे-धीरे मैं स्वयं ही अद्वैत तत्व के परम रस में निमज्जित हो गया। आपकी कृपा के बिना प्रकृत सत्य और सिद्धान्त की खोज मैं नहीं पा सकता था। परन्तु कपट से विद्यार्थी

रूप में आकर मैंने एक महापाप किया है—इसका दण्ड मुझे आज आप दें।"

रामतीर्थ का हृदय हर्ष और विस्मय से भर गया। मधुसूदन का स्नेहालिंगन कर वे बोले, "वत्स, उस समय तुमने जिस तत्त्व को सत्य मानकर ग्रहण किया था उसके समर्थन के लिए इस कपटाचार का आश्रय लिए बिना रह न सके। किंतु आज तो तुम प्रकृत वस्तु को ही प्राप्त करने में समर्थ हुए हो। आज तो तुम सिद्ध-काम हो। अद्वैत तत्त्व के स्फुरण से तुम्हारा शास्त्रानुशीलन सार्थक हो चुका है। फिर भी, तुम्हारे अन्तर से यदि अनुताप नहीं जाता हो तो एक काम करो। तुम प्रायश्चित्त की दृष्टि से संन्यास लो। संन्यास से पुनर्जन्म होगा—पाप का भी मोचन हो जायगा। तुम मण्डलेश्वर विश्वेश्वर सरस्वती के निकट संन्यास ग्रहण करो।"

गुरु रामतीर्थ कुछ क्षण मौन रहकर फिर मधुसूदन से बोले, "वत्स, और एक बात सुन लो। मध्व-सम्प्रदाय के व्यास रामतीर्थ ने हमलोगों के अद्वैतवाद का खण्डन करने एक सुविस्तृत ग्रंथ–'न्यायामृत' लिखा है। इस ग्रंथ ने हमलोगों की अपूरणीय क्षति की है। तुम इसका खण्डन कर अद्वैत मत को सिद्ध करो, सुप्रतिष्ठित करो। नवद्वीप की असामान्य प्रतिभा तुम में है। नव्य-न्याय शास्त्र में तुम प्रायः अजेय हो। इसलिए यह महत्कार्य तुम ही कर सकते हो। इस दुरूह कार्य को सम्पन्न कर तुम मुझे सन्तुष्ट करो।" मधुसूदन सानन्द सम्मत हो गुरु-चरणों में प्रणत हुए।

इसके बाद वे विश्वेश्वर सरस्वती के आश्रम में जा उपस्थित हुए। सरस्वती महाराज ने कहा, "मधुसूदन, तुम्हारे समान सुयोग्य शिष्य ही तो मैं चाहता हूँ। किन्तु, वत्स! केवल पण्डित होने से ही संन्यास की योग्यता नहीं होती। इसके लिए प्रधानतः वैराग्य और भगवद्भक्ति की आवश्यकता होती है। मैं पहले यह देखना चाहता हूँ कि तुम्हारी संन्यास-ग्रहण की इच्छा प्रकृततः दृढ़ है अथवा केवल मन के आवेग से जाग्रत। मैं कुछ दिनों के लिए तीर्थ-पर्यटन में जा

रहा हूँ। वहाँ से लौटकर तुम्हें संन्यास-दीक्षा दूँगा। इस बीच तुम गीता पर एक टीका लिखो। उससे तुम्हारी योग्यता मैं समझ सकूँगा।"

सरस्वती महाराज के निर्देश से गीता की एक अपरूप टीका मधुसूदन ने रची जिसकी पंक्ति-पंक्ति में था तत्त्व-ज्ञान के साथ-साथ भक्ति-रस का अमृत-वर्षण! तीर्थ से लौटकर सरस्वतीजी ने यह टीका देखी और परम संतुष्ट हुए। इसके बाद ही उन्होंने मधुसूदन को संन्यास-दीक्षा दी।

शिक्षा-गुरु रामतीर्थ के निकट मधुसूदन ने अद्वैत-ग्रंथ की रचना की जो प्रतिज्ञा की थी, संन्यास-ग्रहण के उपरान्त भी वह उसे भूले नहीं। बहुत दिनों के परिश्रम से उन्होंने अपने महाग्रंथ 'अद्वैतसिद्धि' की रचना की। अद्वैतवाद के खण्डन के लिए मध्व-सम्प्रदाय के शास्त्रज्ञों ने अब तक जितनी तर्क-युक्तियों की उद्भावना की थी उन सबकी आचार्य-व्यास-तीर्थ ने अपूर्व नैपुण्य से न्यायामृत में सन्निविष्ट किया था और अपने तर्कों द्वारा उन्हें प्रायः अकाट्य कर दिया था, किन्तु मधुसूदन ने इस ग्रंथ की एक-एक पंक्ति का खण्डन किया और अद्वैतवाद को दृढ़तम भित्ति पर प्रतिष्ठित किया।

समग्र भारतवर्ष में मधुसूदन के इस महाग्रंथ की जयध्वनि गूँज उठी। समसामयिक अध्यात्म-पन्थियों में द्वैतवादियों का प्रताप बहुत बढ़ गया था, जिससे अद्वैतवादी मत अनेकांश में सीमित हो गया था। मधुसूदन की साधना-लब्ध प्रज्ञा और उनके महाग्रंथ 'अद्वैत-सिद्धि' ने उसमें नया प्राण फूँक दिया। और इस प्रकार उन्होंने समग्र भारत में ऐतिहासिक कीर्त्ति अर्जित की।

संन्यासी गुरु विश्वेश्वर सरस्वती के निकट इस बार वेदान्तिक मधुसूदन का साधन-भजन आरम्भ हुआ। कृच्छ्रव्रती नवीन संन्यासी इसी समय से सुनियन्त्रित पद्धति से आत्मसाधना में निमग्न हो गये। कुछ दिनों बाद मधुसूदन एक बार अपने गुरु विश्वेश्वर

सरस्वती और सहपाठियों के साथ तीर्थ-यात्रा के लिए निकले। यमुना तीर के एक विशेष स्थान पर पहुँचकर गुरु ने अपने प्रिय शिष्य मधुसूदन से कहा, "वत्स, यह स्थान तुम्हारे साधन-भजन के लिए बहुत अनुकूल है। यहाँ कुछ दिन रहकर तुम तपस्या करो। हम सभी तीर्थ-दर्शन कर लौटते समय तुमसे मिलेंगे।" मधुसूदन गुरु का निर्देश मानकर नदी-तट पर आसन लगाकर बैठ गये। शीघ्र ही एक अलौकिक घटना घटी। सम्राट् अकबर की अन्यतमा प्रिय महिषी उस समय कठिन शूलरोग से पीड़ित थीं। किसी भी औषधि से उनकी पीड़ा का शमन नहीं हो रहा था। हठात् एक दिन रात्रि में सम्राट्-पत्नी ने स्वप्न देखा कि यमुना-तीर पर एक शक्तिधर संन्यासी तपस्या-निरत है एवं उनके निकट से औषधि पाते ही जैसे वह रोग-मुक्त हो गई है।

साधु-संन्यासी और फकीरों के ऊपर अकबर की भक्ति और विश्वास बराबर ही था। इसलिए उन्होंने स्वप्न की बात की उपेक्षा नहीं की। स्वप्न की बात सत्य है या नहीं, यह देखने को भी सम्राट् उत्सुक थे। इसलिए उन्होंने आदेश दिया कि पहले तो यमुना-तीर पर कोई तपस्या-रत साधु है या नहीं, इसका अनुसंधान किया जाय। इस खोज के फलस्वरूप तपस्या-मग्न संन्यासी मधुसूदन की बात शीघ्र ही सम्राट् तक पहुँची।

सम्राट् अकबर छद्म-वेश में महिषी के साथ नदी-तीर पहुँचे। दोनों ने विस्मय से देखा कि एक कृच्छ्रव्रती तरुण तापस एकान्त भाव से भगवत् ध्यान में निविष्ट है। उच्च बालुका स्तूप ने चारों ओर से उनके शरीर को घेर लिया है। अपनी देह के प्रति ध्यान-मग्न साधु का कोई ध्यान नहीं था। बहुत दिनों के बाद देखा गया कि तरुण संन्यासी का ध्यान भंग हुआ है।

सम्राट्-पत्नी ने कातरता के साथ अपनी रोग-यंत्रणा की बात कही। मधुसूदन ने कृपापूर्वक कहा, "माँ, तुम घर जाओ, भगवत् कृपा से तुम शीघ्र ही रोग-मुक्त हो जाओगी।" और सचमुच सम्राट्-पत्नी शूल से शीघ्र ही निष्कृति पा गईं। अकबर ने उस दिन

अपना परिचय दिया और उस तरुण संन्यासी को बहुत-सा धन भेंट किया। परन्तु, निःस्पृह मधुसूदन ने सब कुछ को अस्वीकार कर कहा, "सम्राट्, आप प्रजा और धर्म के रक्षक हैं, इस कर्त्तव्य का आप पालन करते रहें, यही मैं चाहता हूँ।" तीर्थ से लौटकर विश्वेश्वर सरस्वती ने पूरी कहानी सुनी और परम आनन्दित हुए। उपर्युक्त घटना के बाद केवल जन-साधारण के बीच ही नहीं, साधु-संन्यासी और शास्त्रज्ञ पण्डितों के बीच भी मधुसूदन सरस्वती की ख्याति फैल गई।

इस प्रकार अनेक दिन बीत गये। गीता की टीका और 'अद्वैत-सिद्धि' के बाद महामनीषी मधुसूदन सरस्वती ने क्रमशः अनेक अमूल्य शास्त्र-ग्रन्थ तथा टीकायें लिखीं। केवल काशीधाम में ही नहीं, बल्कि समग्र भारत में उनकी प्रसिद्धि फैल गई थी। उन दिनों बाराणसी भारतीय साधक शास्त्रज्ञ पण्डितों का केन्द्र हो रही थी। और वहाँ के विद्वानों के अप्रतिद्वन्द्वी नेता थे वेदान्त-केशरी मधुसूदन सरस्वती। फरीदपुर, कोटालिपाड़ा के उन अज्ञात ब्राह्मण के हाथों ही आज वेदान्त धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरा रही थी। कन्दर्प-नारायण की राज-सभा में जो अवमानना मिली थी, उसकी उस तेजस्वी बालक ने पूरी-पूरी क्षति-पूर्ति कर ली। राज-प्रासाद के बदले भगवत् प्रसाद लाभ कर आज वह कृतार्थ था।

उनका आश्रम, काशी में, गंगा के योगिनी घाट पर था। भक्त तुलसीदास भी उन दिनों इसके पास ही हरिश्चन्द्र घाट के नजदीक रहते थे। तुलसीदास अपने इष्ट-मन्त्र 'राम नाम' में सदा तन्मय रहते। उनका पाण्डित्य और अलौकिक सामर्थ्य भी असामान्य था। मधुसूदन सरस्वती और तुलसीदास, इन दोनों के बीच बड़ा घनिष्ठ स्नेह-भाव था।

तुलसीदास अपनी शिक्षा और भजन का प्रचार संस्कृत भाषा में नहीं, बल्कि साधारण जनों को बोधगम्य 'अवधी' भाषा में ही करते थे। उनकी रामायण और अन्यान्य ग्रंथ इसी भाषा में रचित हैं। आचार्य और लोक-गुरु होकर भी यह कैसी निम्नस्तर की रुचि?

काशीधाम का पण्डित-समाज उनके प्रति क्रुद्ध हो उठा। उसने तुलसीदास को धर दबाया। भक्त-प्रवर ने हँसकर हिन्दी में कहा—

हरिहर यश सुरनर गिरा
बरणहि सन्त सुजान।
हाँड़ी हाटक चाक-चिक
राँधे स्वाद समान।

—अर्थात्, हरिहर यश-वर्णन साधुगण देवभाषा में करें अथवा जनसमाज की भाषा में, उसका फल एक ही है। चमकते हुए सोने के बरतन में रंधन कीजिए अथवा मिट्टी की हाँड़ी में, भोजन का स्वाद एक ही रहेगा।

विक्षुब्ध पण्डितगण इस दोहे को लेकर पण्डित-शिरोमणि मधुसूदन के निकट आये। अविलम्ब उन लोगों ने जानना चाहा कि उनके अभियोग के सम्बन्ध में सरस्वती महाराज का क्या मत है। परमभक्त तुलसीदास के अमृतमय काव्य के साथ मधुसूदन सरस्वती का पहले से ही परिचय था। उन्होंने तत्काल ही एक रसमधुर श्लोक की रचना की और पंडितों को उत्तर दिया—

परमानन्द—पत्रोऽयं
जङ्गमस्तुलसी—तरुः।
कविता मञ्जरी यस्य
रामभ्रमर—चुम्बिता॥

—अर्थात् तुलसीदास रूप चलमान तुलसीतरु के परमानन्दमय हैं, उस तुलसीदास की मञ्जरी है तुलसीदास की कविता और वह कविता-मञ्जरी भी है राम-भ्रमर द्वारा चुम्बित।

प्रवीण वेदांतिक का यह कैसा अपूर्व भक्ति-भाव और वैदग्ध्य! ऐसी उदारता और गुण-ग्राहकता सहज देखी नहीं जाती। अनुदार ब्राह्मण-गण बड़े विस्मित हुए। सर्वजन-पूज्य मधुसूदन के अकुंठित समर्थन के बाद वे तुलसीदास का विरोध न कर सके। इतना ही

नहीं, मधुसूदन के इस समर्थन ने वाराणसी के शास्त्रज्ञ पण्डितसमाज को तुलसीदास के गुणों के सम्बन्ध में सजग कर दिया। इससे तुलसीदास को भक्तिभाव के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

स्पष्टता ज्ञान और भक्ति की गंगा-यमुना मधुसूदन के जीवनदर्शन और साधना में सम्मिलित हो गई थी। द्वैतवाद के समस्त युक्ति-तर्कों का खण्डन कर जिन्होंने अद्वैतवाद को सिद्ध किया उन्होंने प्रेमभक्ति से सिक्त रसमय श्लोकों की रचना की। यथा,

> अद्वैत-साम्राज्य-पथाधिरूढा-
> स्तृणीकृताखण्डलवैभवाश्च ।
> शठेन केनापि वयं हठेन
> दासीकृता गोपवधू विटेन ॥

—श्रीकृष्ण के परम मधुर रूप और अपनी उपासना का उल्लेख करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है :—

> वंशी - विभूषित - करान्नवनीरदाभात्,
> पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
> पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
> कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

—श्रीकृष्ण तत्त्व से परे भी कोई तत्त्व है, यह मधुसूदन सरस्वती नहीं जानते। बाह्यतः यह बात अद्वैत-विरोधी लगती है परन्तु प्रकृत पक्ष में ऐसा नहीं। मधुसूदन जिस साकार कृष्ण की उपासना करने को कहते, वह है 'उपास्य परम तत्त्व'। उपास्य तत्त्व के बीच वे श्रेष्ठतम हैं, किन्तु उनका 'ज्ञेय-तत्त्व' अवश्य ही निर्गुण और निर्विशेष है। मधुसूदन के मतानुसार 'कृष्ण-तत्त्व' की इस बात से अद्वैत-तत्त्व खण्डित नहीं होता।

भगवद्गीता की टीका में भक्ति के सार-भेद की चर्चा करते हुए मधुसूदन ने जो कहा है, वह उनके ज्ञान-भक्ति-समन्वयवाद को अत्यन्त परिष्कृत रूप से स्पष्ट करता है। उनके मत से, प्रथम स्तर में

जीव अपने को भगवान का दास मानता है, द्वितीय स्तर में भावना करता है कि भगवान उसके भक्ति-प्रेम के अधीन हैं; तृतीय स्तर में वह अपने को भगवान से अभिन्न मानता है। यह अभेद उपासना हो भक्ति की चरम सीमा है।

मधुसूदन की विस्मयकारी बुद्धि और उनके महाग्रन्थ 'अद्वैत-सिद्धि' के कारण उन्हें समग्र भारत में प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी। ज्ञान और भक्ति को मिलाने वाले अपूर्व समन्वयवाद ने भी उनकी जन-प्रियता की अशेष वृद्धि की। किन्तु उनकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण था उनकी अलौकिक योगशक्ति। उनके वाराणसी आश्रम में शिक्षार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। उनके कृती शिष्यों में प्रमुख थे बलभद्र, शेष गोविन्द, पुरुषोत्तम सरस्वती प्रभृति। दो अद्वैतवादविरोधी महाप्रतिभाधर छात्रों ने भी मधुसूदन सरस्वती के निकट शिक्षा ग्रहण की थी। इनमें से एक व्यक्ति थे मध्व-सम्प्रदाय के पण्डित व्यासराम और दूसरे थे गौड़ीय वैष्णव-दर्शन के श्रेष्ठ प्रचारक श्री जीवगोस्वामी।

मधुसूदन की 'अद्वैत-सिद्धि' ने द्वैतवाद पर करारी चोट पहुँचाई। मध्व-सम्प्रदाय के पण्डितशिरोमणि व्यासराय का श्रेष्ठ अद्वैतविरोधी ग्रंथ 'न्यायामृत' इस आघात से निस्तेज हुए बिना न रह सका। व्यासराय ने अपने शिष्य व्यासराम को एक कूट परामर्श देकर कहा कि वह मधु-सूदन का कपट शिष्यत्व ग्रहण कर जैसे बने उनके समस्त तर्कों का रहस्य जान लें एवं 'अद्वैत-सिद्धि' के प्रतिवाद में एक ग्रन्थ की रचना करें। व्यासराम की छलना के विषय में सब कुछ जानते हुए भी परम उदार आचार्य मधुसूदन ने यथोपयुक्त भाव से शिक्षा-दान दिया। बाद में इस शिष्य की अद्वैतवादविरोधी पुस्तक देखने पर उन्होंने उससे सहास्य कहा, "वत्स, तुम द्वैतवादी मध्व-सम्प्रदाय-युक्त व्यासराय के आदेश से ही अद्वैतवाद के खण्डन के लिए ही गुप्त रूप से मेरे आश्रम में हो—यह सब मैं जानता था। तुमने मेरा शिष्यत्व ग्रहण कर लिया है, आचार्य होकर मैं तुम्हारे इस ग्रन्थ का प्रतिवाद नहीं

कर सकता। यह काम मेरा कोई शिष्य ही करेगा।" और मधुसूदन के प्रतिभाधर शिष्य बलभद्र ने अपनी 'सिद्धि व्याख्या' में व्यासराम के ग्रंथ का समुचित उत्तर दिया।

रूप सनातन के भ्रातृष्वपुत्र, श्रेष्ठ गौड़ीय पण्डित श्रीजीव भी मधुसूदन के निकट ही अद्वैत-वेदान्त अध्ययन कर कृतविद्य हुए थे। परवर्ती काल में षट्सन्दर्भादि बहुत से ग्रन्थों की रचना कर अद्वैतवाद के ऊपर उन्होंने प्रचण्ड आघात किया। उनका अभिप्राय जानते हुए भी मधुसूदन सरस्वती ने परम उदार भाव से श्रीजीव को शिक्षा-दान दिया।

उन दिनों एक बार वाराणसी अञ्चल के संन्यासियों पर धर्मान्ध मुसलमान मुल्लाओं का भीषण अत्याचार शुरू हुआ। ये मुल्ला दल बाँधकर, सशस्त्र चलते और संन्यासी को देखते ही आक्रमण कर बैठते। हत्या करने पर भी उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई करना बहुत कठिन था। प्रचलित कानून के अनुसार इन मुल्लाओं को दण्ड नहीं दिया जा सकता था। इस संकट में साधु-संन्यासीगण मधुसूदन सरस्वती के निकट आये।

अद्वैत चिन्ता में सदा निमग्न रहने पर भी मधुसूदन व्यावहारिक जीवन के कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं करते थे। संन्यासियों की रक्षा के लिए वे सचेष्ट हुए। सम्राट् अकबर उनके पूर्व-परिचित थे। एक समय साम्राज्ञी को उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से रोगमुक्त किया था। इसके अलावा मंत्री टोडरमल के साथ भी उनकी घनिष्ठता थी। कुछ दिनों पूर्व ही मंत्री टोडरमल के साथ एक पंडित-दल का तर्क-वितर्क हुआ था। पंडितों ने टोडरमल को क्षत्रिय न मानकर, कायस्थ कह उनका उपहास किया था। उस समय मधुसूदन के समर्थन से ही टोडरमल की मान-रक्षा हुई थी। पंडितों ने टोडरमल के झगड़े में मधुसूदन को अपना मत देने को कहा। मधुसूदन ने टोडरमल को क्षत्रिय-वंशीय ठहराया।

संन्यासियों की रक्षा के लिए मधुसूदन ने इस बार इन्हीं राजा टोडरमल से सहायता की याचना की। टोडरमल ने सारी बात सम्राट् के कानों में पहुँचाई। अकबर सुचतुर व्यक्ति थे। सहसा

मुसलमान मुल्लाओं को क्रुद्ध करना उन्हें युक्ति-युक्त न लगा। कौशल से कार्य के लिए उन्होंने सभी शास्त्रों की एक विचार-सभा दिल्ली में बुलवाई। हिन्दू शास्त्र-विदों के नेता के रूप में मधुसूदन इस राजसभा में उपस्थित हुए। उनकी दार्शनिक विचार-पद्धति, विद्या की गंभीरता एवं महान व्यक्तित्व को देखकर विपक्षी भी मुग्ध हो गये। मुसलमान शास्त्रज्ञों ने भी उस दिन मधुसूदन की प्रशंसा की। भारत के शीर्षस्थानीय पण्डितों ने उस समय मधुसूदन की प्रतिभा से मुग्ध होकर जिस श्लोक की रचना की वह आज भी अविस्मरणीय है :—

वेत्ति पारं सरस्वत्याः मधुसूदनसरस्वती।
मधुसूदन-सरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती॥

—अर्थात् ज्ञानाधिष्ठात्री देवी सरस्वती का ओर-छोर मधुसूदन ही जानते हैं और मधुसूदन की थाह केवल देवी सरस्वती ही पा सकती हैं।

मधुसूदन ने इस सुयोग से बादशाह के निकट संन्यासियों के रक्षार्थ निवेदन किया। मुल्लागण उस समय मधुसूदन की प्रतिभा, अध्यात्म-शक्ति और गंभीर विद्या से मुग्ध हो रहे थे। किसी ने उनका विरोध न किया। फिर भी चतुर अकबर ने मुल्लाओं के लिए स्पष्टतः कोई दमन-व्यवस्था नहीं की। उन्होंने इतना ही आदेश जारी किया कि संन्यासीगण भी आत्मरक्षा करते रहें, किन्तु संघर्ष उपस्थित होने पर मुल्ला या संन्यासी किसी भी पक्ष को विचारालय में खींचकर नहीं लाया जा सकेगा।

तत्पश्चात् मधुसूदन के समर्थन से नागा संन्यासियों को अस्त्र-शस्त्र से सज्जित किया गया। अस्त्र-व्यवहार में निपुण होने पर भी मुसलमानी शासन में वे उनका प्रयोग करने से डरते थे। इस बार मधुसूदन की कृपा से उन्हें सुविधा मिली। इसके अलावा बहुत से हिन्दू-योद्धाओं को भी इस समय मधुसूदन के निर्देशानुसार संन्यास मंत्र में दीक्षित किया गया। इसी प्रवीण वेदांतिक के नेतृत्व में संन्यासीदल आत्मरक्षा में और अन्याय के प्रतिरोध में तत्पर हो उठा।

× × ×

अनेक दिन बीत गए। मधुसूदन अब नितान्त वृद्ध हो चले हैं। इसी समय एक दिन महात्मा मधुसूदन के साथ महायोगी गोरक्षनाथ

की विदेहीसत्ता का साक्षात्कार हुआ। एक दिन जैसे ही गंगास्नान कर मधुसूदन तीर पर आये, गोरक्षनाथ ज्योतिर्मण्डित सूक्ष्म देह में उनके सम्मुख आविर्भूत हुए। आत्मपरिचय देने के बाद योगीवर ने प्रसन्नमधुर हँसी के साथ मधुसूदन के सम्मुख एक अमूल्य रत्न बढ़ा दिया और कहा, "वत्स, यह है चिन्तामणि-रत्न। इस परमवस्तु को मैं किसे दूँ, इसकी ही खोज कर रहा था। तुम्हीं इसे धारण करने के परम अधिकारी हो। यह तुम सदा अपने साथ रखो, जभी जिस वस्तु को चाहोगे, इसके प्रसाद से वह करतलगत हो जायगी।"

मधुसूदन ने प्रणति ज्ञापित कर शान्त कण्ठ से कहा, "योगिराज, मुझे तो किसी वस्तु का अभाव नहीं है। अतः चिन्तामणि का अपने लिए मैं कोई प्रयोजन ही नहीं देख पाता हूँ। आप योग्यतर पात्र ढूँढ़कर यह अमूल्य रत्न उसे दे दें।"

गोरक्षनाथ को बहुत आग्रह करते देख मधुसूदन ने कहा, "यदि एकदम ही मुझे छोड़ और किसी को यह नहीं देना चाहते हो तो दे दें; परन्तु पहले यह कह दें कि इसके अधिकारी रूप से मैं इसके साथ जो चाहूँगा, करूँगा। इसमें आप राजी हैं न?" योगीवर को स्वीकृति पाकर मधुसूदन ने उनके हाथ से रत्न ग्रहण कर लिया और तत्क्षण उसे गंगा में फेंक दिया। गोरक्षनाथ हँसते हुए बोले, "मधुसूदन, अब कहो, चिन्तामणि मैंने सच्चे अधिकारी को ही दी है अथवा नहीं?"

लगभग १६३२ ई० की कथा है। मधुसूदन की अवस्था उस समय १०७ वर्ष की हो चुकी थी। अंतिम-यात्रा पूर्ण करने के लिए वह हरिद्वार के गंगातीर पर आये हैं। सिद्ध पुरुष ने योगबल से जान लिया है कि उनके महाप्रयाण का लग्न अति सन्निकट है। बहिरंग जीवन के सभी कार्यों से उन्होंने अपने को हटा लिया है। शेष दिन की बात भी भक्तों और शिष्यों को पहले से ही बता रखी है। मोक्षदायिनी हरिद्वार की गंगा के तट पर निर्दिष्ट पुण्य लग्न में आप्तकाम महापुरुष समाधि-मग्न हो गए। यह थी उनकी महासमाधि।

●

आचार्य रामानुज

दक्षिण भारत के पार्थसारथि-मंदिर में उस दिन प्रातःकाल तीर्थ-यात्रियों की भीड़ लगी थी। समीप में ही कैरविणी सागर संगम तीर्थ है। चंद्र-ग्रहण के समय पुण्य-कामी नर-नारियों के सहस्र-सहस्र दल प्रतिवर्ष इस पावन तट पर स्नान करने आते हैं। स्नान कर सभी यात्री मंदिरस्थित देवता की मूर्त्ति के दर्शन करने जाते हैं। आज इस तीर्थ में पेरेमबुदुर के विख्यात पंडित आसुरि केशवाचार्य सपत्नीक उपस्थित हैं। इस द्राविड़ ब्राह्मण की असाधारण ख्याति यज्ञनिष्ठ और शास्त्रज्ञ के रूप में है। याग-यज्ञ मे निष्णात होने के कारण पांड्य-राज्य के ब्राह्मणों ने आपको 'पर्व ऋतु' की उपाधि से सम्मानित किया है।

पार्थ-सारथि की प्रतिमा के सम्मुख खड़े होकर ब्राह्मण-दपति ने अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई। अन्तर की निगूढ़ आशा और आकांक्षा भी भगवान् के चरणों में निवेदित हुई। विवाहित जीवन के दीर्घदांपत्य ने इनके प्राणों को अपने वरदान से पुलकित जो नहीं किया—ये पुत्र-मुख दर्शन से अब तक वंचित हैं। देव-प्रतिमा के पूजन के पश्चात् पंडित-प्रवर पति ने उसी दिन उस मंदिर के—'तिरुहल्लि केनि' [कुमुद-सरोवर] में परम श्रद्धा-पूर्वक पुत्रेष्टि-यज्ञ का अनुष्ठान किया।

यज्ञ शेष हो चुका है। दिन-भर के श्रम से क्लान्त-देह केशवाचार्य निद्रामग्न हो गए हैं। गंभीर निशीथ मे उन्होंने एक विचित्र स्वप्न देखा—'भगवान् श्री पार्थ-सारथि ज्योतिर्मय रूप में उनके सामने आकर खड़े हैं। प्रसन्न मधुर कंठ से भगवान कह रहे हैं—"सर्वक्रतु !

मैं तुम्हारी भक्ति, निष्ठा और शरणापन्नता से परम सन्तुष्ट हूँ। अब तुम दुश्चिंता मत करो। शीघ्र ही एक परम भागवत पुत्र-रत्न की प्राप्ति से तुम प्रसन्न होगे। दंभी पंडितों के दमन के लिए शक्तिमान् साधक और प्रवर्त्तक आचार्य के रूप में तुम्हारे पुत्र का आविर्भाव हो रहा है। तुम्हारा यह पुत्र इस युग में पृथ्वी तट पर ज्ञान–गूढ़ भक्ति की धारा को प्रवाहित करेगा।"

आनन्दतरंगित वर-वाणी को सुनाकर देवता अन्तर्धान हो गए। गद्-गद उच्छ्वास ने पंडित–प्रवर की नींद उचटा दी। निद्रिता पत्नी को उसी समय जगा कर उन्होंने यह अपूर्व वृत्तांत कह सुनाया।

अगले वर्ष श्री पार्थसारथि का स्वप्न-संभाषण सत्य हुआ। १०१७ ई० में पंडित केशवाचार्य के घर को अपनी दिव्य कांति से आलोकित करते हुए शुभ लग्न में एक महापुरुष ने जन्म लिया। आगे चलकर यही नव-जात शिशु आचार्य श्री रामानुज के नाम से विख्यात हुए। आचार्य रामानुज ने केवल दक्षिण भारत के इतिहास को ही आलोकित नहीं किया, अपितु समग्र भारतवर्ष के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को एक नूतन तरंग से हिल्लोलित किया। यह नूतन तरंग है उनका भक्ति-मार्गीय दार्शनिक तत्त्व–विशिष्टाद्वैतवाद।

बौद्ध और शांकर युगों के पश्चात् भक्तिवादी आचार्य के रूप में श्री रामानुज का उदय हुआ। उनके प्रतिपादित सिद्धान्त में ब्रह्म को उपासना और सेवा के योग्य माना गया है। उनके ही प्रयत्नों से ईश्वरानुराग और आत्म-समर्पण की यह विशिष्ट धारा इस युग में पहली बार चारों ओर फैल चली। उनका विशिष्टाद्वैतवाद शांकरमत के केवल प्रतिद्वन्द्वी के ही रूप में नहीं, 'अपितु उसके समकक्ष रूप में भी प्रख्यात हुआ।

भारतीय धर्म-जीवन और साधना के क्षेत्र में आचार्य रामानुज का प्रभाव दूर–दूर तक फैल गया। उनके आविर्भाव ने

वैष्णव धर्म के प्रसार में नवीन गति भर दी। मध्व, निंबार्क, वल्लभ, चैतन्य प्रभृत आचार्यों को उनकी वैष्णवीय उपासना और भक्ति आंदोलन ने अधिकांश में प्रभावित किया। रामानुज का धर्मान्दोलन इस दृष्टि से आधुनिक युग की भक्ति-पद्धति की गोमुखी है।

रामानुज की असाधारण मेधा और प्रतिभा का परिचय बचपन से ही मिलने लगा। दुरूह से दुरूह पाठों को वे जिस सहजता से अनायास ही हृदयंगम कर लेते उसे देखकर उनके अध्यापकगण दंग रह जाते। धर्म-कथा और साधु-सज्जनों के सत्सग के लिए बालक रामानुज की रुचि और उत्साह की सीमा न थी। इस प्रकार इनमें इस अल्प वयस से ही भावी धर्म-जीवन की असाधारण संभावनाएँ पूर्वाभास के रूप में स्पष्ट दीखने लगी थीं।

रामानुज के अध्यात्मिक जीवन के संगठन में दो धाराएँ काम कर रही थीं। शास्त्रज्ञ, नैष्ठिक और याज्ञिक ब्राह्मण केशवाचार्य के पितृत्व से बालक के जीवन में एक ओर ज्ञान और कर्म का स्रोत प्रवाहित हुआ तो दूसरी ओर भक्त और ममतामयी माता कांतिमती से शरणागति और भक्ति का। कांतिमती के पूर्वजों में भक्तिसंपदा की प्रचुरता थी। उनके भाई शैलपूर्ण परमभक्त और कठोर साधक थे। वे तत्कालीन वैष्णव नेता यामुनाचार्य के शिष्यों में श्रेष्ठ थे। माता और मातुल वंश की अतुलनीय भक्ति आचार्य रामानुज को बचपन में ही उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई।

उस दिन पेरेमबुदुर के पथ और प्रांतर में संध्या का अंधकार घनीभूत होने लगा था। बालक रामानुज अध्यापक के घर से अभी-अभी वापस लौटे हैं। सामने राज-पथ पर उनकी दृष्टि एक सौम्य साधु पर जा टिकी। वे व्यग्र आवेश में उनकी ओर दौड़ पड़े। उनकी दिव्य कांति और आनंद-ज्वलित दृष्टि ने मानो एक अज्ञेय आकर्षण से रामानुज के संपूर्ण चेतन-अस्तित्व को गतिशील कर दिया। साधु इस प्रदेश के लिए नवागन्तुक नहीं, इस पथ पर वे बहुधा आते-जाते

दिखाई पड़ते थे। देवाराधन के निमित्त उनके प्रतिदिन के कांचि से पुनामेलि ग्राम के आवागमन का मार्ग रामानुज के घर के सामने से होकर है। साधु इस प्रांतर में एक भागवत पुरुष के रूप में प्रसिद्ध है। नाम है श्री कांचिपूर्ण। विष्णुकांचि के जाग्रत विग्रह श्री वरदराज के परमभक्त और अनुगृहीत हैं। लोगों का सामान्य विश्वास है कि देव-विग्रह इस भक्त के मुख से अपनी अपार लीला का प्रकाशन और निर्देशन करते हैं। बालक रामानुज को इन सारी बातों का कोई पता नहीं। किंतु इस महासाधक की भावमयी दृष्टि और आनंदघन रूप से जैसे उसके मन-प्राणों को अज्ञात आकर्षण से अपनी ओर मोह लिया। संयोगवश आज कांचिपूर्ण के सम्मुख रामानुज का आवागमन हुआ।

श्रद्धाकुल कंठ से बालक ने अनुरोध किया कि उस रात्रि वे उसी के घर आतिथ्य ग्रहण करें और दूसरे दिन प्रातःकाल पुनामेलि जायँ। कैसा अमोघ बल है। केशवाचार्य के पुत्र—नन्हें बालक के इस तुतले आग्रह में, इसकी आँखों में, मुख पर महासाधक के सारे लक्षण सुस्पष्ट हैं और कांति की दिव्य ज्योति उसके सभी अंगों में फूट रही है। साधु कांचिपूर्ण उस दिन बालक के आग्रह को किसी प्रकार भी टाल नहीं सके। उस दिन उन्हें उसके घर आतिथ्य ग्रहण करना ही पड़ा।

पुत्र की इस करतूत ने पंडित केशवाचार्य के अंतर को तृप्ति के रस से लबालब भर दिया। उनके होंठों पर मुसकान की रेखा खिंच गई। वे स्नेह स्वर में बोले–"वत्स, कांचिपूर्ण इस अंचल के एक प्रसिद्ध साधु और परमभागवत व्यक्ति हैं। श्री वरदराज का निर्वाक् विग्रह अपने इस परमभक्त के मुख से ही बोलता है। इन्हीं के मुख से सभी को उस देवता का निर्देश प्राप्त होता है। पूर्ण श्रद्धा और आदर से तुम इनकी सेवा और अभ्यर्थना करो। देखना, किसी प्रकार की त्रुटि न हो।"

साधु को रुचिकर भोजन कराया जा चुका है। रात्रि में वे पलंग

पर विश्राम कर रहे हैं। बालक रामानुज उनके पद-प्रांत में बैठे हुए हैं। उनकी इच्छा है कि वे साधु की चरण-सेवा करें। किन्तु रामानुज के चरण-स्पर्श करते ही कांचिपूर्ण व्यग्र-भाव से शय्या पर उठ बैठे। कहने लगे—"यह क्या, वत्स! तुम कैसे मेरी चरण-सेवा कर सकोगे? तुम ब्राह्मण-पुत्र हो और मैं ठहरा नीच-कुलोत्पन्न शूद्र। नहीं-नहीं, ऐसा प्रस्ताव कभी भी समुचित नहीं होगा।"

किंतु रामानुज हार मानने वाले जीव तो थे नहीं। उन्होंने उत्तर दिया—"प्रभो! उपवीत धारण करने मात्र से क्या कोई ब्राह्मण हो जाता है? मेरी समझ से तो हरिभक्ति-परायण व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है। विख्यात भक्त तिरुप्पान आलोचार क्या चांडाल होकर भी ब्राह्मणों के पूज्य नहीं हुए? मालूम होता है कि मेरा अदृष्ट मंद है, तभी तो आपके समान परमभागवत की सेवा का अधिकार मुझे नहीं मिल रहा है।" बालक की बातें सुनकर महापुरुष कांचिपूर्ण के विस्मय की सीमा नहीं रही, उन्हें यह समझते तनिक भी देर नहीं लगी कि यह बालक भस्मावृत स्फुलिंग है। एक असाधारण आध्यात्मिक संभावना इसके अन्तर में प्रकाशन पाने के लिए निगूढ़ रूप से जोर मार रही है।

महज रात्रि-भर के लिए भी महापुरुष के सान्निध्य का सौभाग्य पाकर बालक रामानुज सदा के लिए कृतार्थ हो गया। बालक रामानुज के भावी जीवन पर इस साक्षात्कार का व्यापक और गंभीर प्रभाव पड़ा। जाग्रत देव-विग्रह श्री कांचिपूर्ण वरदराज के अत्यन्त असाधारण कृपा-भाजन थे। उनके पुण्य-स्पर्श और मधुर स्मृति ने बालक के आध्यात्मिक जीवन के मूल को उसी दिन निरूढ़ कर दिया।

अब बालक रामानुज सोलहवें वर्ष में पदार्पण कर चुके हैं। पिता केशवाचार्य ने एक सुन्दरी, सुलक्षणा कन्या के साथ इनका विवाह कर दिया है। पेरेमबुदुर के सर्वक्रतु पंडित का घर इस

उत्सव से आनंदोच्छल हो उठा है। किन्तु दुर्भाग्यवश यह आनंदधारा एक मास से अधिक देर तक बहती न रह सकी। पंडित केशवाचार्य इसी बीच अपने नन्हें परिवार को शोक-सागर में डुबोकर एक दिन अकस्मात् दिवंगत हो गए।

शोक-संताप का वेग कम होने पर रामानुज अपने पैरों पर उठ खड़े होने की चेष्टा करने लगे। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वे उच्चतर शास्त्रादि का अध्ययन कर प्रकांड पंडित होंगे। कांची नगरी में उस समय अद्वैतवादी अध्यापक आचार्य यादव प्रकाश का प्रचंड प्रताप फैला हुआ था। वटु शिष्यों से दिन-रात घिरे रहकर वे इस नगर में निवास करते थे। उनके पांडित्य से देश का जन-मण मुग्ध था। रामानुज ने उनके निकट ही सोत्साह शास्त्राध्ययन प्रारंभ किया। नवागत छात्र की प्रतिभा देख कर यादव प्रकाश के आनंद की सीमा नहीं रही। रामानुज कालांतर में उनकी चतुष्पाठी के उत्तम छात्र गिने जाने लगे।

एक दिन की घटना है। छात्रों का प्रभात-कालीन पाठ समाप्त हो चुका है। आचार्य यादव प्रकाश स्नान के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं। गुरु-सेवापरायण छात्र रामानुज उनके शरीर में तेल मालिश कर रहे हैं। सतत व्यस्त पंडितजी को शायद ही कभी अवकाश मिल जाता हो। अवसर देखकर एक जिज्ञासु छात्र को छान्दोग्य उपनिषद् के एक मंत्र की व्याख्या के संबंध में अपने अध्यापक की राय जानने की सूझी। "तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी"—इस मंत्र में आये 'कप्यासं' शब्द को लेकर ही सारा गोलमाल हो रहा था। सूर्य-मंडल में स्थित पुरुष के दोनों ही चक्षु रक्तवर्ण हैं, किंतु वे हैं किस रूप के ? क्या कपि के गुह्य द्वार-देश के समान ? अथवा लाल कमल के सदृश ? अध्यापक यादव प्रकाश ने मंत्र की बहु-प्रचलित व्याख्या ही दी—स्वर्ण-वर्ण पुरुष की आँखें बंदर के गुदा-प्रदेश के समान रक्तवर्ण थीं।

परमपुरुष श्री भगवान् के नयन-कमल के संबंध में यह कैसा

आचार्य रामानुज

अश्लील और हीन सादृश्य का प्रयोग ? भक्त-प्रवर रामानुज के व्यथित हृदय में तब से यह प्रश्न बार-बार आंदोलित हाने लगा। जो निखिल सौंदर्य के आकर, समस्त कल्याण और समग्र गुणों के उत्स, उनके दोनों नयनों की तुलना के लिए बंदर के गुदा-प्रदेश को छोड़ कर क्या और कोई वस्तु उपनिषद् के मंत्र-द्रष्टा ऋषि को नहीं मिली ? क्षोभ, दुःख और अभिमान के द्वद्वावेग से सहज भक्त और प्रेमी रामानुज रो पड़े। दोनों आँखों से अश्रुधारा झर-झर गिरने लगी और बार-बार भावावेग-पूरित अंतर से आवाज आने लगी —यह कभी नहीं हो सकता, कभी नहीं। ब्रह्मज्ञ ऋषियों द्वारा उद्‌गीथ इस वेद-मंत्र का निश्चित ही कोई अन्य निहित अर्थ है।

अध्यापक की अनावृत जांघ पर हठात् गरम आँसू को दो नरम बूँदें ढुलक पड़ीं। विस्मित आचार्य की आँखें सेवा-निरत रामानुज की ओर मुड़ गईं। शिष्य की दोनों आँखें छल-छला आई थीं। वे समझ नहीं पाये कि किस वेदना के आवेग से उनका प्रिय शिष्य विचलित हो उठा है। व्याकुल होकर उन्होंने अपने शिष्य से उनकी वेदना का कारण पूछा। उत्तर ने उन्हें और भो विस्मयाभिभूत कर दिया। वेदनाहत कंठ से रामानुज ने निवेदन किया—"प्रभो, आपके समान महानुभाव के मुख से उपनिषद् की ऐसी व्याख्या सुनकर मैं मर्माहत हो गया हूँ। सच्चिदानंद विग्रह के नयन-कमल के साथ बंदर के अपान-देश की तुलना केवल अशोभन हो नहीं, नितांत पापजनक भी है। आपके समान प्रज्ञ महापुरुष के मुख से ऐसे कदर्थ की आशा मुझे कभी नहीं थो।"

पंडित यादव प्रकाश ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया, "वत्स, तुम्हारी धार्मिकता ने आज मुझे भी मर्माहत किया है। इससे अधिक उत्कृष्ट व्याख्या क्या तुम दे सकोगे ?"

"प्रभो, आप के आशीर्वाद से सब कुछ संभव हो सकता है।"

"बहुत अच्छा, अपनी अनोखी, नई व्याख्या दे ही डालो। मालूम होता होता है तुम शकराचार्य से आगे बढ़ कर ही रहोगे।"

रामानुज ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया, "जी हाँ, आपके आशीर्वाद से यह भी परे नहीं है। प्रभो, मैं इस मंत्र को प्रचलित अर्थ की अश्लीलता से मुक्त करना चाहता हूँ। 'कप्यास' पद के 'क' का अर्थ जल, 'पि' का पीना, आकर्षण करना, 'आस' का 'आस'-धातु संबंध निहितार्थ विकसित होने वाला संभव है। इस प्रकार संपूर्ण पद का ध्वन्यर्थ कमल—'जल को आकृष्ट करने वाले सूर्य द्वारा खिलाये जाने वाला हुआ। अर्थात् सूर्य-मंडल के मध्य में स्थित पुरुष की दोनों आँखें सूर्य द्वारा विकसित किये गये कमल-युगल की तरह हैं।"

व्याख्या सुनकर अध्यापक ने रुष्ट स्वर में कहा, "तुमने जो कुछ कहा वह प्रधान अर्थ नहीं है, गौण अर्थ हो सकता है। फिर भी तुम्हारी व्याख्या-चातुरी प्रशंसनीय है।"

इस प्रसंग का अन्त इतने में ही नहीं हुआ। सुचतुर आचार्य यादव प्रकाश ने उसी दिन समझ लिया कि उनका शिष्य रामानुज केवल भगवद्भक्त और सुपण्डित के रूप में ही नहीं, अपितु एक तीव्रबुद्धि द्वैतवादी दार्शनिक के रूप में प्रौढ़ होता जा रहा है। शुद्धाद्वैतवादी पंडित यादव प्रकाश आज तक अपने इस प्रतिभाशाली छात्र के प्रति प्रगाढ़ स्नेह और अनुग्रह करते रहे, किन्तु आज की इस घटना ने उनके मनोभाव को बदल दिया। भीतर-ही-भीतर वह बहुत ही क्रुद्ध हुए, किंतु, अनुकूल अवसर के अभाव में इस क्रोध को उन्होंने उस दिन प्रकट नहीं होने दिया।

आचार्य यादव प्रकाश केवल शास्त्रज्ञ के ही रूप में प्रसिद्ध नहीं थे, तांत्रिक के रूप में भी उनकी यथेष्ट ख्याति थी। एक बार कांची की राजकन्या किसी दुष्ट प्रेतात्मा की छूत में पड़ गई। बहुत तरह की चिकित्साओं के बावजूद वह चंगी नहीं हुई। निदान, निरुपाय होकर राजा ने मंत्रविद्या में निपुण तांत्रिक यादव प्रकाश के पास दूत

भेजा। वे शिष्य-समेत राज-प्रासाद में हाजिर हुए। रोगिणी के निकट उन्होंने मंत्रपाठ किया।

मंत्र-प्रेरित प्रेत ने राजकुमारी को मुक्त कर दिया किन्तु एक निराली बात कहकर। उसने अनुरोध किया—"पंडित महाशय, मैं राजकुमारी को छोड़कर तो चला जाऊँगा, किंतु इसके पहले, सामने खड़े अपने शिष्य रामानुज को मेरे शिर पर चरण-स्पर्श करने दो। तुम्हारे इस शिष्य की देह बड़ी पवित्र है। यह एक अद्भुत विष्णुभक्त ब्राह्मण है।"

पं० यादव प्रकाश के आश्चर्य की सीमा नहीं रही, किंतु प्रेत के अनुरोध की रक्षा करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। अतः प्रेत की इच्छा के अनुसार रामानुज ने सबके सामने राजकुमारी के प्रेतग्रस्त मस्तक पर चरण-स्थापन किया। राजकुमारी पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गई।

घटना तो साधारण थी, किंतु इसको लेकर कांची की राजसभा और जन-साधारण में रामानुज की असाधारण ख्याति फैल गई। एक तरुण अध्यात्मा साधक के रूप में समाज शनैः शनैः उन्हें जानने लग गया।

अध्यापक और रामानुज के बीच दृष्टिकोण की मौलिक दूरी थी जो समय की गति के साथ धीरे-धीरे बढ़ती ही चली गई। रामानुज आप ही कर्मकांडी थे और जन्म भी था प्रसिद्ध वैष्णव-वंश में। बचपन से ही उनके हृदय में परम भागवत कांचिपूर्ण की प्रपत्ति के कारण शुद्ध भक्ति का पावन प्ररोह था। इसके विपरीत अध्यापक यादव प्रकाश एक शुद्धाद्वैतवादी पंडित थे। शंकरमत से भिन्न एक स्वतंत्र अद्वैत के भी वे प्रतिपादक और प्रवर्तक थे। अहंभाव से फूल कर वे धरती को अपनी मुट्ठी में समझकर जैसे फटते जा रहे थे।

अध्यापक और छात्र का मत-विरोध अब तक प्रच्छन्न था। किंतु उपर्युक्त घटना के बाद से वह यदा-कदा प्रकट होने लगा। अपने असाधारण तर्क के द्वारा रामानुज प्रायः यादव प्रकाश के मत का खंडन करते रहते। युक्ति और तर्क के द्वारा प्रत्युत्तर देने में असमर्थ

होने के कारण आचार्य का अंतर्दाह और भी बढ़ जाता। एक दिन उनका क्रोध सबके सामने ही उफान में आ गया। फल-स्वरूप उस दिन उन्होंने रामानुज को अपनी भरी चटसार में केवल अपमानित ही नहीं किया, उन्हें अपने यहाँ से निष्कासित भी कर दिया। गुरु की चरण-वंदना कर नत-मस्तक रामानुज आश्रम से चले गए। घर वापस होने पर एकांत-निष्ठा के शास्त्राध्ययन में वे निरत हो गए।

शिष्य को आश्रम से निकाल देने के बाद यादव प्रकाश की चिंता और भी बढ़ गई जो विपुल आध्यात्मिक शक्ति रामानुज में थी उससे वे अपरिचित नहीं थे। राजकुमारी की रोग-मुक्ति में उस दिन हठात्, इसका कुछ अंश प्रकाशित हो गया था। इस घटना को लेकर राजसभा में भी यादव प्रकाश की कम अप्रतिष्ठा नहीं हुई। आश्रम में भी अद्वैत और वेदांतवाद के वितर्क प्रसंग में रामानुज ने उन्हें अनेक बार चुप कर दिया था। अन्य शिष्यों के सामने, ठीक ही, अध्यापक ने कभी हार कबूल नहीं की थी, किंतु रामानुज की युक्तियों की प्रबलता छात्रों से छिपी नहीं रहती थी। रामानुज के चटसार से चले जाने मात्र से, इसीलिए यादव प्रकाश की समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। वे सोचने लगे, यदि रामानुज ने अपने आसाधारण पांडित्य के बल पर द्वैतवाद की स्थापना की तो फिर वे कहाँ के रह जायँगे। तब वे कांची में मुख दिखाने योग्य भी नहीं रह जायँगे।

आहत अभिमान ने यादव प्रकाश को हिंस्र बना दिया। जो कुछ सद्वृत्तियाँ उनमें बच रही थीं वे भी जैसे आज विलीन हो गईं। इस विकृत मन को लेकर वे कई शिष्यों के साथ एक जघन्य षड्यंत्र में संलग्न हो गए। उन्हें लगा कि रामानुज के जीवित रहते अध्यापकों और आश्रमिकों की मर्यादा किसी तरह भी कायम नहीं रह सकती। उनकी धारणा हो गई कि इस अंचल में अद्वैतमत का प्रचार भी अब निर्विघ्न नहीं हो पायगा। यह सब सोच-विचार कर यह तय किया गया कि सुदूर तीर्थ-यात्रा के छल से रामानुज का प्राणसंहार ही कर दिया जाय।

अध्यापक यादव प्रकाश ने एक दिन रामानुज को बुला पठाया। स्नेह का अभिनय करते हुए कहा—"गुरु और शिष्य का सम्बन्ध क्या कभी टूट सकता है?" रामानुज को गुरु के इस व्यवहार से कोई संदेह नहीं हुआ। अपनी मेधा और शास्त्रज्ञता के लिए तो उनके कृपापात्र और प्रिय थे ही। फिर उन्हें आश्रम में सादर ग्रहण किया गया। इसी के कुछ दिन बाद आचार्य यादव प्रकाश ने घोषणा की कि वे शिष्यों के साथ तीर्थ-दर्शन और गंगा-स्नान के लिए बाहर जायँगे। भीतर ही-भीतर षड्यन्त्र था कि किसी गहन पथ में रामानुज की हत्या कर दी जायगी।

रामानुज इन बातों से अनजान थे। सोत्साह वे अध्यापक के साथ तीर्थ-यात्रा को निकल पड़े। उस मंडली में रामानुज के एक साथी तथा मौसेरे भाई गोविंद भी थे। वे सभी यात्राक्रम से विंध्य प्रदेश के गोंडा अरण्य में पहुँचे। इस गहन वन में जनवास का चिह्न तक न था। चारों ओर खूंखार वनैले जानवर भरे थे। कुचक्रियों ने विचार किया कि रामानुज की हत्या के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थान यही है। काम-तमाम हो जाने पर यह बात फैला दी जायगी कि किसी वनैले जानवर की चपेट में वे पड़ गये। एकांत में बैठकर कुचक्रियों में गुपचुप बातें हो रही थीं। हठात् रामानुज के मौसेरे भाई के कानों में इस कुचक्र की भनक पड़ गई।

दिनांत वेला में रामानुज निकट के एक सरोवर में हाथ-पैर धोने गये। यह सुयोग पाकर गोविंद ने षड्यंत्रकारियों की पूरी बातें उनसे खोलकर कह दीं। भाई ने उनसे कहा कि वे उस स्थान से अविलम्ब प्रस्थान कर दें, नहीं तो उसी रात उनकी हत्या का आयोजन किया जा चुका है। उसके प्रबल हठ के कारण रामानुज को गुरु का संग उसी घड़ी छोड़ देना पड़ा। जंगल की लौटती राह से व दौड़ पड़े। कांची नगरी दक्षिण दिशा में थी—उसी दिशा का लक्ष्य कर द्रुतगति से चलने लगे।

इधर रात होने पर दल में रामानुज की तलाश होने लगी। गहन वन में उस समय सघन अंधकार फैल चुका था। हिंसक

जंतुओं से भरे इस वन-प्रदेश में अकेले चल सकना नितांत असंभव था। यादव प्रकाश और उनके शिष्यों ने मान लिया कि रामानुज निश्चय ही किसी नर-भक्षी जन्तु के हवाले हो चुके हैं। दूसरे दिन वे निश्चिन्त मन से गंगा-तीर के तीर्थ की ओर चल पड़े।

इधर रामानुज इस भयंकर वन-मार्ग में तेजी से बढ़े चले जा रहे थे। हिंस्र जन्तुओं की भरमार थी। ऐसी स्थिति में रामानुज के एक-मात्र आश्रय ईश्वर ही थे। उन्हीं का नाम लेते-लेते वह दुर्गम पथ पार करने लगे। काफी दूर चलने पर एक विशाल वृक्ष मिला, जिसकी शाखा पर बैठ कर उन्होंने रात बिताई। दूसरे दिन गहन जंगल से होकर फिर यात्रा शुरू हुई। मध्याह्न पर्यन्त वे लगातार चलते ही रहे। अब उनका शरीर नितांत अवसन्न होने लग गया। प्यास के मारे कंठ सूखने लगा। अन्त में वे एक वृक्ष की छाया में रुक गये और कुछ ही क्षणों के बाद वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े।

बाह्य-ज्ञान लौट आने पर रामानुज ने देखा, बेला ढल चुकी है। हठात् विस्मित होकर उन्होंने अनुभव किया कि उनकी थकावट गायब हो गई। इतना ही नहीं, उन्होंने पाया कि सिरहाने में बैठे एक व्याध-दंपति उनकी परिचर्या कर रहे हैं। इस निर्जन गंभीर अरण्य में मनुष्य मूर्तियों को देखकर वे आश्वस्त हुए। रामानुज के धीरे-धीरे उठ-बैठने पर व्याध-पत्नी ने स्नेह-मिश्रित स्वर में उन्हें कहा—"बाबा, तुम कौन हो? इस घोर अरण्य प्रवेश करने में तो चोर-डकैतों को भी भय होता है। तुम किधर से यहाँ आ गये? तुम्हें, आखिर, जाना है कहाँ?"

रामानुज ने कहा—"माँ, मैं विद्यार्थी और ब्राह्मण-सन्तान हूँ। तीर्थ-यात्रा के उद्देश्य से साथियों के साथ घर से निकला था, किन्तु उनकी शत्रुता को देखकर उनका साथ छोड़ देना पड़ा। मुझे दक्षिण के कांची नगर में जाना है। दया कर आप लोग मुझे पथ दिखला दीजिए।

व्याध बोला—"अच्छा भाई, हम तो काँची ही जा रहे हैं। चलो, सब एक साथ ही चल चलें।"

साधारण फल-मूल आहार कर रामानुज ने उनके साथ फिर चलना शुरू किया।

सूर्य बहुत देर पहले ही डूब चुके थे। वन में रात की गहरी अँधियाली धीरे-धीरे उतर रही थी। उस दिन के लिए रास्ता चलना समाप्त कर वे लोग विश्राम की व्यवस्था में लग गए। रामानुज सोने ही जा रहे थे कि उनके कानों में निकट ही लेटे हुए व्याध-दंपति की बातचीत पड़ी। दिन-भर चलते रहने के कारण व्याध-पत्नी को प्यास लग गई थी। वह अपने पति से कह रही थी—"देखो, निकट ही तो एक प्रसिद्ध कूप है। वहाँ से ठंढा जल ले आते तो जरा मैं पी लेती।" स्वामी उसे समझा रहा था,—"इस अंधियारी रात में इस वन-प्रदेश में क्यों दौड़ा-दौड़ी कराना चाहती हो? किसी तरह रात काट लो, सबेरे ही जल ला दूँगा।"

रामानुज हड़बड़ा कर उठ बैठे। जिस स्नेहमयी नारी ने दुर्गम पथ में उनकी सेवा-शुश्रूषा की थी, आश्रय देकर, राह दिखा कर उसके प्राण बचाये थे, उसे भला बिना पानी के रात बितानी पड़ेगी! नहीं, वे स्वयं जल लाने जायँगे। घन-अंधकार रात्रि है तो हो। व्याध-दंपति के निकट जाकर उन्होंने कूप की राह पूछी। किन्तु वे उस समय उन्हें वन-पथ होकर कहीं भी जाने देने को राजी नहीं हुए। दोनों ही बोल उठे—"बाबा, तुम्हें इतना घबराने की आवश्यकता नहीं। कल खूब सबेरे ही उठकर पानी भर लाना।"

दूसरे दिन तड़के उठकर व्याध-पत्नी रामानुज से बोली—"बाबा, कल रात तुम जल लाने के लिए बहुत उत्कंठित हो उठे थे। अत्यंत निकट ही वह कूप है। चलो, उसी दिशा में हमलोग एक साथ ही चल चलें।" वन से बाहर आकर उनलोगों ने देखा कि पास के ही शालकुंज में एक बड़ा-सा कूप है। उसकी सीढ़ियों से उतर कर नर-

नारी समुदाय जल ले रहे थे। रामानुज ने सानंद उनके निकट जाकर हाथ-मुँह धोया और अँजुरी भर-भर कर व्याध-पत्नी को पानी पिलाने लगे। तीन बार इस तरह जल पीने पर भी जैसे व्याधपत्नी की प्यास नहीं मिटी। रामानुज जल लाने को चौथी बार चले। इस बार लौट कर उन्होंने देखा, न जाने कहाँ व्याध-दंपति घड़ी-भर में ही गायब हो गये। दौड़ कर चारों ओर खोज करने लगे, पर कोई पता नहीं लगा।

विस्मित रामानुज ने इस बार कूप के निकट इकट्ठे लोगों से पूछा—"भाई, इस अंचल का नाम क्या है? कांची यहाँ से कितनी दूर है?" रामानुज की बात से अकचका कर लोगों ने उन्हें घेर लिया। एक ने उन्हें पहचान कर दिल्लगी की—"यह क्या जी? क्या तुम्हें भूत ने घेर लिया है? अपनी चिरपरिचित कांची नगरी को भी तुम नहीं पहचान रहे हो! तुम तो यादव प्रकाश के छात्र हो न? इतने ही दिनों में इस स्थान को भूल बैठे? देखते नहीं, पास ही श्रीवरदराज के मंदिर का शिखर दीख रहा है? यह कूप—महातीर्थ शाल-कूप—यह भी याद नहीं है तुम्हें?"

यह कैसा विचित्र इंद्रजाल! रामानुज के गद्गद कंठ की बोलती बंद हो गई। उनके सर्वांग शरीर में रोमांच हो आया, आँखों से आनंदाश्रु बह चले। बार-बार केवल यही विचारने लगे कि मध्य प्रदेश के वनांचल से मात्र एक अपराह्न चल कर, वे सुदूर कांची नगरी में किस प्रकार पहुँच गये। न जाने कैसे, उन्हें यह भी लगा कि व्याध-दंपति के वेश में, हो-न-हो, स्वयं वैकुंठपति और लक्ष्मी ही आज उन्हें परमाश्रय दान कर हठात् इस प्रकार अलक्षित हो गई हैं। तीव्र भावावेग के कारण रामानुज शाल-कूप के सम्मुख ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

मूर्च्छा भंग होने पर उन्होंने देखा, उनके चारों ओर जाने-अनजाने बहुत से लोगों की भीड़ लगी हुई है। किसी के भी किसी प्रश्न का कोई उत्तर दे सकना रामानुज के लिए उस समय संभव

नहीं था। उनकी दोनों आँखों से केवल अजस्र आँसू बहते चले जा रहे थे। जीवन के मर्म-मूल में प्रविष्ट हो गया था प्रपत्ति और भगवद्भक्ति का परमबोध। रामानुज के जीवन-देवता अपनी इस अलौकिक लीला के द्वारा ही क्या उस दिन उनके जीवन-पथ का इङ्गित दे गए ? उनके जीवन के सम्मुख एक नया अध्याय खुल गया।

घर लौट कर रामानुज एकाग्रचित्त से शास्त्राध्ययन में लग गये। इसी समय कांचि-पूर्ण एक दिन उनसे मिलने आए। श्रीविष्णु के दास्य भाव से वह सदा भावित रहते। उनके दर्शन से रामानुज का आनंद उमड़ पड़ा। विंध्यारण्य में जो कुछ हुआ था वह सब उन्होंने उस महा-पुरुष के निकट निवेदित कर दिया। इतने निग्रह और पीड़ा के बीच किस तरह व्याध-दम्पति के छद्म-वेश में लक्ष्मीनारायण ने उन पर अहेतु-की कृपा की थी, यह कहते-कहते वे रोमांचित हो उठे।

सिद्ध भक्त कांचि-पूर्ण थे वरदराज के विग्रह के नित्य-दास। प्रभु के ध्यान में वे सदा ही विभोर रहते। भावावेश में महापुरुष कभी रोते, कभी हँसते, कभी उनके साथ संभाषण करने लगते। आनन्दमय श्रीहरि के इस परमभक्त में आनन्द विच्छुरण का जैसे विराम ही नहीं था। मधु ऋतु की तरह उनका आविर्भाव और अवस्थान होता। कांची नगरी के जिस भाग में, जिस घर में, वह चले जाते, वहाँ ही एक अपार्थिव आनन्द का स्रोत उमड़ चलता।

कांचिपूर्ण पूरी कहानी सुनकर भाव-मग्न हो गए और रामानुज से कहने लगे—"वत्स ! भगवान् श्रीवरदराज तुम्हारे ऊपर कितने प्रसन्न हैं ! इसी कारण तुम्हारी प्राण-रक्षा हो सकी। तुम उनके अत्यन्त प्रिय हो, इसमें कोई सन्देह नहीं। छद्मवेश में लक्ष्मीनारायण ने तीन-तीन बार तुम्हारे हाथों माँग-माँग कर जल पीया है। तुम्हारे जीवन की सभी पिपासाओं को तृप्त कर देने के ही लिए तो जल से अपनी प्यास मिटाने का भान उस दिन उन्होंने कराया था। तुम आज से प्रभु की

सेवा के व्रती हो जाओ। शालकूप का जल रोज ढोकर श्रीवरदराज के लिए ले जाया करो। श्री विग्रह को स्नान कराओ। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि शीघ्र ही तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी, तुम्हारी परम प्राप्ति तुम्हें प्राप्त होगी।"

कांचि-पूर्ण के प्रति बचपन से ही जो स्वाभाविक श्रद्धा और प्रीति का आकर्षण रामानुज अनुभव करते वह आज और भी तीव्र हो उठा। यह परम भागवत उन्हें दीक्षा देकर कृतार्थ करे, इसके लिए वह कातर प्रार्थना करने लगे। किन्तु कांचिपूर्ण थे दास्य भाव के जीवन्त विग्रह। दीक्षा-दान के लिए प्रस्तुत होने वाले पुरुष वे नहीं थे। कांचीपुरी के लोग उनकी चाहे जितनी भी सेवा करें, उन्हें वे वरदराज का मुख-स्वरूप मान कर जितनी भी मर्यादा दें, पर परम दीन-भाव में मग्न इस भक्त ने अपने को शूद्राधम व्यक्ति कह कर सदा के लिए जनता और अपने बीच एक दूरी बना ली थी। दीक्षाभिलाषी रामानुज से भी वे उसी तरह कतरा कर निकल जाना चाहते। किंतु रामानुज अपने को उस महाभक्त के चरणों में सदा के लिए समर्पित कर बैठे। पवित्र दास्य-भक्ति का बीज उनके जीवन में कांचिपूर्ण के प्रसाद से ही धीरे-धीरे अंकुरित हो फैलने लगा।

तीर्थ-पर्यटनादि समाप्त कर यादव प्रकाश लौट आये हैं। लोगों के मुँह से हठात् एक दिन उन्हें संवाद मिला कि रामानुज जीवित और सानंद हैं। विन्ध्यारण्य से वे सकुशल घर लौट आए हैं। आँखें चार होने पर आचार्य यादव प्रकाश ने कपट-संवेदना से कहा—"वत्स रामानुज, विन्ध्यारण्य में खो जाने पर मैं कितनी दुश्चिता में पड़ गया, यह कैसे बताऊँ? पथ भूलकर तुम हिंस्र पशुओं के मुख में पड़ गये हो, यही आशंका सदा बनी रहती थी। अब तुम्हें सकुशल पा कर जान-में-जान आई। तुम युग-युग जीते रहो बेटे!"

आचार्य के चरण छू कर रामानुज ने विनयपूर्वक केवल इतना ही कहा—"प्रभो, यों तो उस हिंस्र-जन्तु-संकुल अरण्य से प्राण बचा

कर लौट आना असंभव ही था, पर केवल आपके आशीर्वाद और अनुग्रह से किसी तरह जीवित लौट आया।"

शिष्य में श्रद्धा और सौजन्य का पूर्ववत् भाव देखकर आचार्य बहुत दूर तक निश्चिन्त हो गये। निःश्वास छोड़कर वे मन-ही-मन विचार करने लगे—इससे तो लगता है कि रामानुज को मेरे कपट और कुचक्र की गंध तक नहीं लगी है। किन्तु आचार्य भी मन ही-मन अपने उस उद्देश्य को लेकर लज्जित नहीं हुए हों, ऐसी बात नहीं। दूसरे दिन से रामानुज को उन्होंने अपनी चटसार में फिर पूर्ववत् आने-जाने के लिए कहा। यादव प्रकाश की टोल में रामानुज फिर आने-जाने लग गए।

कुछ दिन बाद सुप्रसिद्ध विष्णुभक्त श्री रंगनाथ के एकान्त सेवक यामुनाचार्य कांची पहुँचे। जाग्रत-विग्रह श्रीवरदराज के दर्शन और आराधना के लिए ही उनका यह आगमन था। श्रीमन्दिर से लौटते समय यामुनाचार्य वेदान्त-केशरी आचार्य यादव प्रकाश के साथ मिलने उनकी टोल की ओर चले। सौ वर्ष के वृद्ध, इस श्रद्धेय वैष्णव महापुरुष को देखने के लिए उस दिन रास्ते के दोनों ओर भीड़ लग गई। आश्रम के तरुण शिक्षार्थी भी राजपथ पर यामुनाचार्य की संवर्द्धना करने आये। रामानुज के कंधों का सहारा लेकर वृद्ध महापुरुष ने धीरे-धीरे यादव प्रकाश की चतुष्पाठी में प्रवेश किया।

रामानुज की ओर सहसा उनकी दृष्टि आकृष्ट हुई। दिव्य-कांति युक्त तेजपुञ्ज कलेवर यह तरुण शिक्षार्थी कौन है?—वृद्ध वैष्णव के मन में जिज्ञासा हुई। उनके प्रश्न के उत्तर में कांची के एक भक्त ने बताया—"महात्मन्, यह युवक कांची का एक रत्न है। श्रीवरदराज के परम भक्त तथा महापुरुष श्री कांचिपूर्ण ने इन्हें अनुगृहीत किया है। यह प्रतिभावान् शास्त्रवेत्ता भी हैं। आजकल में 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' इस मंत्र की एक भक्ति-प्रधान, विस्तृत व्याख्या कर इस तरुण ने यहाँ के सुधीसमाज में तहलका मचा दिया है।

यामुनाचार्य दाक्षिणात्य भक्ति-धर्म के श्रेष्ठ साधक और वाहक थे। इस समाचार से वे पुलकित हो उठे। उनके मन में ऐसा आया कि यह कांतिवान् पुरुष निश्चय ही श्रीहरि का चिह्नित सेवक है। विराट् सम्भावना इसके भीतर निहित है। साथ ही वह, चिन्ता करने लगे, शुष्क, तार्किक और अद्वैतवादी पंडित यादव प्रकाश के अभि-भावकत्व में यह तरुण रह रहा है। वह तो इसके विकास में बाधक ही होगा। किन्तु उस दिन उत्सुकता रहने पर भी जनता की भीड़ के कारण उन्हें रामानुज के साथ बातचीत करने का कोई सुयोग नहीं मिला। जन-समूह के घेरे से होकर वे चटसार में आए और आचार्य यादव प्रकाश के साथ शिष्टाचार-पूर्वक सम्भाषण करने के पश्चात् लौट गये। हठात् देखे हुए इस तरुण भक्त की स्मृति, दीर्घकाल के पश्चात् यामुनाचार्य के स्मृति-पट से मिट नहीं सकी। देह-त्याग के पूर्व, वैष्णव जनता के भावी दिक्पाल के रूप में रामानुज को वह भक्तजनों के समक्ष चिह्नित कर गए। भक्ति-रस के श्रेष्ठ रसज्ञ के कंठ से उसी समय विष्णु-सेवकों के उस भावी नेता का मंगल आरम्भ हुआ। यामुनाचार्य के उस समय स्फुरित श्लोकों में से अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

'लक्ष्मीश, पुण्डरीकाक्ष, कृपां रामानुजे तव
निधाय, स्वमतेनाथ, प्रविष्टः कर्त्तुमर्हसि।'

अर्थात्, "हे कमलनयन श्रीपते, श्रीरामानुज के ऊपर अपनी कृपा करो। नाथ, उसे अपने मत में ले आओ।"

रामानुज यादव प्रकाश की चटसार में पूर्ववत् शास्त्र-अध्ययन करते रहे। असाधारण मेधा और प्रतिभा के बल से जैसे एक दिशा में शास्त्रसागर का मंथन हो रहा था, वैसे ही दूसरी ओर जन्मजात भक्ति और भावुकता उनके भावनीय मन को परिष्कृत करती हुई, प्रभु के चरणों में, शनैः शनैः उसका पूर्ण अर्पण करती चली आ रही थी। श्रीहरि के दास्यभाव से ओतप्रोत महापुरुष कांचिपूर्ण के सान्निध्य ने भी इसी समय उनके साधक-जीवन को कुछ कम रस से स्निग्ध कर ऊपर नहीं उठाया।

एक दिन यादव प्रकाश उपनिषद् की व्याख्या कर रहे थे। मन्त्रों की अपूर्व पारदर्शी व्याख्या में मग्न थे। वे इतने पर भी चरम अद्वैत मन का—जीव और ईश्वर के सेवक-सेव्य भाव का वहाँ चिह्नमात्र भी नहीं था। भक्त रामानुज को यह स्थिति नितान्त असह्य हो गई। विनय के साथ उन्होंने शिक्षा-गुरु की शास्त्र-व्याख्या के प्रति आपत्ति प्रकट कर दी। यादव प्रकाश भी हार माननेवाले जीव नहीं थे। दोनों में तुमुल तर्क-युद्ध प्रारंभ हो गया। अपूर्व प्रतिभाबल से रामानुज आचार्य की व्याख्या का खण्डन कर अपना मत स्थापित करना चाहते हैं और द्वैतवादी सिद्धान्त के समर्थन में श्रुति से नाना युक्ति और प्रमाण उद्धृत कर दिखाते हैं। आचार्य यादव प्रकाश आज के दिन किसी तरह भी शिष्य के तर्क-जाल को छिन्न नहीं कर पा रहे हैं। अन्त में आग-बबूला होकर वे चीत्कार कर उठे—"रामानुज, तुम्हारी धृष्टता आज सीमातिक्रमण कर रही है। तुम यदि शास्त्र में ऐसे पारंगत हो हो चुके हो तो मेरी चटसार में अध्ययन करने की तुम्हें आवश्यकता ही क्या है। तुम्हें पहले ही दो-दो बार क्षमा कर चुका हूँ, किन्तु अब नहीं। तुम्हारे समान उद्धत शिष्य को मैं देखना भी नहीं चाहता। अविलम्ब यहाँ से दूर हो जाओ तुम।"

रामानुज ने टोल जाना बन्द कर दिया। मन में सोचा—जिसके निकट रहने से भगवद्-भक्ति में बाधा पड़े, ऐसे आचार्य से अलग करा-कर श्रीवरदराज ने उनका कल्याण ही किया है। घर वापस आकर वे एकांतभाव से भक्तिवादी शास्त्र-चर्चा में डूबे रहने लगे। इसके अतिरिक्त वे प्रतिदिन निष्ठापूर्वक पवित्र शालकूप से घर में जल भर कर कंधे पर ढो लाते और श्रीवरदराज को स्नान कराते। परम भाग-वत श्री कांचिपूर्ण के निकट सम्पर्क के लाभ द्वारा इस बार उनका आध्यात्मिक जीवन भी धीरे-धीरे परिस्फुटित होने लगा।

वृद्ध यामुनाचार्य कुछ समय के बाद अस्वस्थ हो गये। उनकी अन्तिम घड़ी धीरे-धीरे निकट आने लगी। विस्मय की बात थी कि

वृद्ध ने चाह कर भी रामानुज को अभी तक भूलने में सफलता नहीं पाई थी। कांची से आए हुए ब्राह्मणों से उन्हें पता चला कि रामानुज ने अध्यापक यादव प्रकाश के साथ अपना समस्त सम्पर्क तोड़ लिया है और साधु कांचिपूर्ण के निर्देश में उन्होंने अब भक्ति-साधना के पथ पर अग्रसर होने का संकल्प कर लिया है। यह संवाद सुनकर यामुनाचार्य के आनन्द की सीमा न रही। उसी समय उन्होंने अपने अन्तरंग शिष्य महापूर्ण को निर्देश दिया कि वह अविलम्ब कांचीनगरी जाकर रामानुज को उनके निकट ले आवें।

कांची के वरदराज मन्दिर की ओर महापूर्ण चल पड़े हैं। खोज करने से पता चला कि रामानुज प्रतिदिन इसी पथ से शालकूप का पवित्र जल लेकर श्रीमन्दिर जाते हैं और प्रभु को स्नान कराकर फिर उसी पथ से घर लौटते हैं। कुछ क्षणों के बाद ही महापूर्ण ने देखा, भक्तप्रवर रामानुज धीरे-धीरे पाँव रखते मन्दिर की ओर आ रहे हैं। उनके सिर पर प्रभु के स्नान-जल का भांड है। रामानुज के सम्मुख जाकर वह मधुर कंठ से एक श्लोक की कुछ पंक्तियाँ गाने लगे—

धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं
परम पुरुष, योऽहं योगिवर्य्याग्रगण्यः
विधि शिव सनकाद्यै ध्यातुमत्यंतदूरम्
तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः।

अर्थात् "हे प्रभो, मुझ अपवित्र, अविनीत, निर्दय और निर्लज्ज को धिक्कार है। पुरुषोत्तम, योगियों में अग्रगण्य, विधि–शिव–सनक आदि भी जिसे ध्यान में पाने के समर्थ नहीं हैं, उस तुम्हारे दास्यभाव का मैं कामप्रकृत प्रार्थी हूँ।"

रामानुज राजपथ पर थमक कर खड़े हो गए। कैसी अपूर्व स्तोत्रावली ! ऐसे कर्णामृत से तो इसके पहले वे कभी तृप्त नहीं हुए ! उन्होंने आगे बढ़कर उस गेरुआ वस्त्र-धारी वैष्णव साधक महापूर्ण से पूछा—
"प्रभो, दयाकर मुझे बतावें, इस मधुर रसमयी स्तुति की रचना करने वाले कौन महापुरुष हैं ?

"भाई, इनके रचयिता हैं मेरे प्रभु महामुनि यामुनाचार्य, रंगनाथजी के नित्य सेवक, तथा दाक्षिणात्य के विष्णुभक्तों के मध्यमणि। प्रभु श्रीयामुनाचार्य तो दास्यभाव के महातत्त्व पर आश्रित शुद्ध भक्ति का वितरण दाक्षिणात्य प्रदेश में सुदीर्घ काल से करते आ रहे हैं। क्या अब तक तुमने उनकी अपूर्व स्तोत्रावली नहीं सुनी है?"

"तव दास्यसुखैक सङ्गिनां
भवनेषु भवतु कीट जन्म मे
इतरावस्थेसु मास्मभूत
अपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना।"

अर्थात् "हे प्रभो, एकमात्र तुम्हारे दास्य-भाव के सुख में जो आसक्त हैं, उनके भवन में कीड़ा होकर जन्म लेना भी मेरे लिए सुखद है, किन्तु सांसारिक विषय–बुद्धि में आसक्त व्यक्तियों के घर में चतुर्मुख ब्रह्मा होकर जन्म ग्रहण करना भी मुझे पसन्द नहीं।"

भक्त रामानुज की आँखों से प्रेमाश्रु-धारा बहने लगी, शरीर रोमांच से कंटकित हो गया। कुछ देर के बाद स्थिर हो उन्होंने महापूर्ण से कहा, "महात्मन्, आपको यहाँ किसके पास जाना है? क्या अनुग्रह करके इस दीन के घर पर भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते?"

महापूर्ण ने स्मित हास्य से कहा, "मैं तो भाई, तुम्हारे पास ही आया हूँ। मेरे प्रभु यामुनाचार्य के शरीर-त्याग का समय निकट आ गया है। वह अविलम्ब तुमसे मिलने के लिए व्यग्र हैं। तुम्हें ले जाने के लिए ही आज मेरा कांची आना हुआ है।"

यह कैसा कल्पनातीत प्रस्ताव? वैष्णव-जगत् के मुकुट-मणि और श्रेष्ठ महापुरुष स्वयं यामुनाचार्य ने उनके समान नगण्य व्यक्ति को आज स्मरण किया है? स्नानाभिषेक के जल को झटपट मन्दिर पहुँचा रामानुज लौट आये। उसी क्षण महापूर्ण के साथ वे श्रीरंगम् की ओर विदा हुए। घर जाकर माता और पत्नी को संवाद देने का विलम्ब भी उन्हें सह्य नहीं हुआ।

दोनों ही द्रुतगति से श्रीरंगम् की दिशा में चले जा रहे हैं। चार दिनों तक लगातार चलते रहने के बाद कावेरी के दूसरे तीर पर श्रीरंगनाथजी का मन्दिर दिखाई पड़ा। इसके निकट ही विराट् जन-समूह को एकत्र देखकर दोनों ही चौंक उठे। आगे बढ़ने पर जो देखा, वह अत्यन्त ही हृदय-विदारक दृश्य था। वैष्णव गुरु श्री यामुनाचार्य आज शिष्य-मण्डली को शोक में निमग्न कर परलोक चले गये।

महापुरुष की मृत देह को घेर कर अपार जनराशि उमड़ती चली जा रही है। शव की ओर एकटक देखते रहकर रामानुज ने देखा, यामुनाचार्य के दाहिने हाथ की तीन उँगलियाँ बद्धमुष्टि हैं। विनि-विष्ट मन से वे विचार करने लगे, देह-त्याग के समय महापुरुष के अंतर में क्या किसी संकल्प का उदय हुआ? इस बद्धमुष्टि के द्वारा आचार्य की देह उसी संकल्प का संकेत-वहन तो नहीं कर रही है? विचार-मग्न रामानुज शनैः शनैः भावाविष्ट हो गये। पवित्र शव को लक्ष्य कर उन्होंने उच्च-कण्ठ से सद्यःरचित एक श्लोक में अपना संकल्प घोषित किया। श्लोक का आशय है :—

'वैष्णव मत में दृढ़ रहकर मैं अज्ञान-मुग्ध जनता को पंच-संस्कार-युक्त द्रविड़ वेद मे शिक्षित और नारायण-शरणागत कर, उसकी सर्वदा रक्षा करूँगा।"

यह कैसा अलौकिक चमत्कार? मृत शरीर की बँधी मुट्ठी की तीन उँगलियों में से एक उँगुली खुल कर सीधी हो गई। यह दृश्य देखकर उपस्थित जनता विस्मित और हतवाक् हो गई। भावतन्मय रामानुज ने फिर दूसरे श्लोक की रचना कर कहा :—

"लोक-रक्षा के उद्देश्य से मैं सर्वार्थ-संग्रह, कल्याणकर और तत्त्व-ज्ञानमय श्रीभाष्य की रचना करूँगा।"

तत्क्षण यामुनाचार्य की मृत देह ने दूसरी उँगली खोल दी। रामानुज ने अपने संकल्प का तीसरा श्लोक पढ़ा—

"जो कृपा-मय पराशर मुनि जीवों के उद्धार के लिए ईश्वर-तत्व और साधन-पद्धति को सरलता से समझानेवाले पुराण–रत्न विष्णु-पुराण की रचना कर गये हैं, मैं किसी महापंडित वैष्णव को उन्हीं के नाम से अभिहित करूँगा।"

भीड़ ने आश्चर्य के साथ देखा कि पवित्र शव की तीसरी उंगली श्लोक के उच्चरित होते-होते खुल कर सीधी हो गई है।

रामानुज के तीन संकल्प-श्लोकों के उच्चरित होने से उस दिन मृत यामुनाचार्य की बँधी मुट्ठी की तीन उंगलियाँ खुल गईं। यह अलौकिक दृश्य देखकर भक्तों और दर्शनार्थियों के कुतूहल की सीमा नहीं रही। चारों ओर से जिज्ञासुओं ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी—कौन हैं—ये अलौकिक शक्ति वाले ब्राह्मण युवक? इनका, रंगनाथजी के कृपापात्र और सेवक, समग्र वैष्णव समाज के नेता, चिरनिद्रा में निद्रित यामुनाचार्य के साथ यह कैसा दिव्य अलौकिक सम्बन्ध है?

रामानुज थोड़े ही दिनों में समग्र अंचल में प्रसिद्ध हो उठे। एक तो यामुनाचार्य के भक्त और शिष्यों की संख्या प्रचुर थी। फिर श्रीरंगनाथ के मन्दिर में तीर्थ-यात्रियों की भीड़ भी कम नहीं रहती थी। रामानुज का नाम उस अलौकिक घटना से सम्बन्धित होकर चारों ओर फैल गया। किन्तु रामानुज उस दिन, इस घटना के उपरान्त, श्रीरंगम् में क्षणभर भी नहीं रुके। इतने व्याकुल-भाव से दौड़े आकर भी यामुनाचार्य की जीवितावस्था में दर्शन नहीं कर सके, इसकी वेदना से उनका अंतस्तल भर आया। व्यथित हृदय से वे सीधे अपने घर पर लौट आये। इस बार कांचीपुरम् में वापस लौटने पर उनके समग्र जीवन में एकबारगी परिवर्तन हो गया। अल्पभाषी और गंभीर रूप उनमें निखर रहा था और इसके साथ ही उनके अन्तर में जाग्रत हुई परमतत्त्व-लाभ की सुतीव्र आकांक्षा। इस बार अविलम्ब दीक्षा ग्रहण के लिए भी उनकी व्यग्रता की सीमा नहीं रही।

कांचिपूर्ण के दिव्य संस्पर्श और स्वाभाविक भक्ति के प्रभाव से उनके साधक-जीवन की भित्ति मुख्यतः गठित हुई। श्रीहरि के इस सेवक और सिद्ध भक्त के लिए रामानुज की श्रद्धा असीम थी। उनसे ही दीक्षा ग्रहण करने की प्रबल अभिलाषा उनके अन्तर में इन दिनों जगी रहती थी। किन्तु कांचिपूर्ण को इसके लिए तैयार करा सकें, यह किसी के वश की बात नहीं थी। सदा दास्य-भाव से भावित, यह महापुरुष, रामानुज को टालने के लिए कहते रहते, "वत्स, मेरे समान शूद्राधम को पाप में लिप्त नहीं करो। तुम्हारे समान पुण्यशील ब्राह्मण-संतान का गुरु होना तो दूर की बात है—किसी के भी गुरु होने की योग्यता मुझ में नहीं है।"

रामानुज ने सोचा; बिना कौशल किये यह काम नहीं होनेवाला है। बहुत सोच-विचार कर उन्होंने निश्चित किया कि कांचिपूर्ण को निमन्त्रित कर अपने घर ले जाऊँगा और उनके असावधान होते ही उनका प्रसादान्न ग्रहण कर लूँगा। ऐसा हो चुकने पर वह फिर ब्राह्मण होने के बहाने रामानुज को दूर रखने में समर्थ नहीं होंगे। दीक्षा-ग्रहण करना संभवतः तब सहज हो जायगा। इसी उद्देश्य से एक दिन उन्होंने कांचिपूर्ण को अपने यहाँ मध्याह्न-भोजन का निमंत्रण दिया।

श्रद्धेय अतिथि के लिए उस दिन विस्तृत आयोजन किया गया। रामानुज के आदेश से उनकी पत्नी जमाम्बा अनेक तरह के स्वादिष्ट भोजन तैयार करने लगीं। रसोई तैयार हो जाने पर रामानुज कांचि-पूर्ण को बुलाने उनके आश्रम की ओर चले। इसी बीच कांचिपूर्ण ने एक लीला की। वे दूसरे मार्ग से रामानुज के घर पहुँच गये और उनकी पत्नी से शीघ्र ही भोजन देने को कहा।

जमाम्बा ने व्यग्र होकर कहा, "प्रभो, वह तो आपको ही बुलाने के लिए बाहर गये हैं। आपको आश्रम में न पाकर वह निश्चय ही तुरत लौट आवेंगे। थोड़ी देर में ही भोजन परोसकर मैं लेती आ रही हूँ।"

कांचिपूर्ण ने बहाना किया कि प्रभु वरदराज की सेवा में आज

फिर उन्हें उसी समय बाहर जाना होगा। उसी मुहूर्त में भोजन पर नहीं बैठने से उनका काम नहीं चल सकता। विवश होकर रामानुज की पत्नी ने भोजन परोस दिया।

शीघ्र आहारादि सम्पन्न कर कांचिपूर्ण ने उच्छिष्ट अन्न को दूर फेंक दिया। श्री वरदराज के सेवक और परम सम्मानित भक्त होने पर भी जाति के शूद्र थे। ब्राह्मण-परिवार में भोजन करने में वे अत्यन्त सतर्क रहते। थाली धो, भोजन-स्थान को गोबर से लीप, वह उठकर खड़े हुए, इसी समय श्रांत-क्लांत देह रामानुज घर लौटे। कांचिपूर्ण की लीला देख, उनकी आंखें स्थिर खुली रहीं। पलभर में उन्होंने समझ लिया कि अपनी थाली का प्रसाद देने को, सदा दास्य-भावयुक्त कांचि-पूर्ण तैयार नहीं हैं, इसी से सर्वज्ञ महापुरुष ने उनके साथ यह छलना की है।

कांचिपूर्ण के प्रति रामानुज की अनुरक्ति दिन-दिन बढ़ती ही गई। उनके निकट दीक्षा-ग्रहण करने की आकुल इच्छा अधीरता में परिणत हो गई। किन्तु कांचिपूर्णजी प्रत्येक बार केवल यही कहते—"वत्स, तुम इतने व्याकुल न हो। तुम हो ब्राह्मण और मैं हूँ शूद्र। व्यावहारिक पक्ष भी तो देखना ही होगा? तुम तो जानते ही हो, ब्राह्मण को मन्त्रदान का अधिकार शूद्र को नहीं है। श्रीविष्णु ही तुम्हारे निकट तुम्हारे निर्धारित गुरु को नियत समय पर प्रेरित करेंगे।"

कुछ दिन बाद रामानुज ने कांचिपूर्ण को फिलकर पकड़ा। वे थे श्री वरदराज-विग्रह के एक परम अनुगृहीत भक्त। श्री वरदराज उनके मुँह से ही अपनी वाणी प्रेरित करते हैं, यह सर्वजन विदित था। भावा-विष्ट कांचिपूर्ण के मुख से जो प्रत्यादेश प्रकट होता, साधु-सज्जन और जन-साधारण, सभी उसे ही श्रीहरि का आदेश-वाक्य मानते थे। रामानुज ने उन्हें बाध्य किया कि वे उनके गुरु और अध्यात्म-साधना के सम्बन्ध में श्री वरदराज का आदेश अविलम्ब ला दें। कांचिपूर्ण ने विवश होकर कहा, "अच्छा भाई, मैं इस विषय में प्रभु को निवेदन करूँगा।"

अभिलषित वाणी मिल गई। गम्भीर रात्रि में कांचिपूर्ण ध्यान-तन्मय हो रहे हैं। ऐसे समय में श्री वरदराज उनके सम्मुख आविर्भूत हुए। प्रभु के श्रीमुख से जो श्लोक उस दिन उच्चरित हुए, उनका आचार्य रामानुज के जीवन पर और उनके द्वारा प्रचारित दर्शन-तत्त्व पर अशेष प्रभाव पड़ा। श्री वरदराज की वाणी का आशय निम्नलिखित था :—

"तुम शीघ्र रामानुजाचार्य को मेरे विशेष तत्त्वों का उपदेश दो। मैं ही जगत् का कारण हूँ, प्रकृति-कारण और परब्रह्म हूँ। जीव और ईश्वर का भेद स्वतः सिद्ध है; मोक्षार्थियों की मुक्ति का एकमात्र उपाय है मेरे पाद-पद्मों पर आत्मसमर्पण; अन्तिम समय में मेरा स्मरण करने में असमर्थ होने पर भी उनका मोक्ष अवश्यम्भावी है; देह-त्याग होते ही मेरे भक्तगण परमपद को प्राप्त होते हैं। हे रामानुज, तुम सर्वगुणान्वित महात्मा महापूर्ण का आश्रय ग्रहण करो।"

इन प्रत्यादेशों को सुनकर रामानुज आनन्द से फूले नहीं समाये। जो कई आध्यात्मिक तत्त्व अब तक इनके हृदय को आलोड़ित कर रहे थे, श्रीवरदराज की वाणी में उन्हीं का रूप स्पष्ट हो गया। दीक्षा-ग्रहण के लिए त [illegible] उनकी व्याकुलता और [illegible] बढ़ गई। परमाश्रयदाता दीक्षागुरु का नाम भी वह परम प्रभु की कृपा से जानने में समर्थ हुए। आनन्द-अधीर रामानुज निषेध रहते हुए भी उस दिन कांचिपूर्ण के चरणों पर दण्डवत् प्रणाम कर बैठे। उसके बाद यामुनाचार्य के शिष्य महात्मा महापूर्ण की खोज में वह श्रीरंगम् के पथ पर उन्मत्त की तरह दौड़े।

यामुनाचार्य के शरीर त्यागने के बाद श्री तिरुवरांग श्रीरंगम् मठ के अध्यक्ष हुए हैं। परम दास्य भाव में वे सदा मग्न रहते। शास्त्र-व्याख्या की अपेक्षा भगवान् की आराधना में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होता। मठ के नेतृत्व का भार वहन करना उनके लिए कठिन हो रहा था। यामुनाचार्य के जीवित रहने के समय शास्त्र-व्याख्या के लिए मठ की जो प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि थी, वह क्रमशः

लुप्त होने लगी। तिरुवरांग ने एक दिन मठ-वासियों को बुलाकर सरल भाव से अपना मनोभाव व्यक्त करते हुए कहा, "तुम्हें संभवतः स्मरण होगा कि प्रभु यामुनाचार्य ने अपने देहत्याग के पूर्व कांची नगरी के तरुण साधक और शास्त्रविद् रामानुज को बुलाने के लिए एक शास्त्रविद् को भेजा था। यह तरुण आचार्य असामान्य प्रतिभा से युक्त, शुद्ध सात्त्विक वैष्णव है। साधना-संपत्ति भी इन्हें प्रचुरता से प्राप्त है। दाक्षिणात्य के वैष्णवों के नेतृत्व की योग्यता इसी व्यक्ति के पास है। महात्मा कांचिपूर्ण की शुभकामना और पथ-प्रदर्शन में इस वैष्णव आचार्य का अध्यात्म-जीवन संघटित हुआ है। प्रभु यामुनाचार्य इन्हें एक प्रकार से चिह्नित भी कर गए हैं। इसके अतिरिक्त महामुनि की मृत्यु के पश्चात् जो अलौकिक घटना इस नवीन आचार्य के संकल्प-वाक्य से घटी, वह भी सर्वविदित है। यामुन मुनि के मतवाद के प्रचार का ही संकल्प रामानुज ने उस दिन किया था, और विगत-प्राण महामुनि ने मुट्ठी खोल कर उसका समर्थन भी प्रकट कर दिया था। इस समय श्री रामानुज ही विशिष्टाद्वैत मत के प्रचार की शक्ति रखते हैं। अतः मेरे विचार से, उन्हीं को बुला कर इस मठ का नेतृत्व दे देना संगत और आवश्यक हो गया है।"

इस प्रस्ताव का सभी ने एक मत से समर्थन किया। स्थिर हुआ कि महात्मा महापूर्ण स्वयं अविलम्ब कांची जाकर रामानुज को दीक्षा-दान करेंगे। श्री तिरुवरांग ने महापूर्ण को और भी कहा—"लगता है दीक्षा-दान के साथ ही रामानुज श्रीरंगम् आने में समर्थ नहीं होंगे। प्रयोजन होने पर तुम वहाँ एकाध वर्ष रह जाना और इसी बीच में उन्हें अच्छी तरह द्रविड़-आम्नाय की शिक्षा दे देना। यह भी संभव है कि वहाँ तुम्हें स्थायी रूप से कुछ दिन वास करना पड़े। इसलिए अपनी पत्नी को भी साथ लेते जाओ।" मठाधीश के निर्देशानुसार महापूर्ण सपत्नीक कांची चल पड़े।

इधर रामानुज भी द्रुतगति से श्रीरंगम् चले आ रहे हैं। राह में

ही पड़ता है मादुरांतक का श्रीविष्णु मन्दिर। सामने के सरोवर में स्नान कर रामानुज विग्रह-दर्शन करने जायँगे। किन्तु इसके तीर पर आते ही उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। उन्होंने देखा कि जिन महापूर्ण के परमाश्रय ग्रहण का निर्देश श्री वरदराज ने उन्हें दिया है वे स्वयं ही सस्त्रीक वहाँ उपस्थित हैं। उन्हें देख कर रामानुज हर्षातिरेक से पुलकित हो उठे।

सरोवर में स्नान करने के बाद रामानुज ने महापूर्ण के निकट वैष्णव-मन्त्र की दीक्षा ग्रहण की। यज्ञ, अंकन, ऊर्ध्वपुंड्र और दास्य नाम के द्वारा वे संस्कृत किए गए। तत्पश्चात् वे गुरु और गुरुपत्नी को सादर कांची ले आए। रामानुज के अनुरोध से महापूर्ण ने उनकी पत्नी जमाम्बा को भी दीक्षा प्रदान की। अपने घर के एक हिस्से में गुरु-दम्पति के आवास की व्यवस्था कर नव-दीक्षित शिष्य सयत्न उनकी सेवा करने लगे। महापूर्ण के निकट नियमित रूप से भक्ति-शास्त्र का अध्ययन करने के कारण वैष्णव शास्त्र पर रामानुज का पूर्ण अधिकार हो चला।

भक्ति शास्त्र, द्रविड़ आम्नाय या तामिल वेद में चार हजार भक्ति रसात्मक श्लोक हैं जो तिरुवाईमुड़ि के नाम से इस अंचल में प्रसिद्ध हैं।

छह मासों के ही भीतर रामानुज का उन पर अधिकार हो गया। अब श्लोकों का पाठ समाप्त हो चुका है। रामानुज को गुरु-दक्षिणा चुकाने की उत्सुकता ने उतावला कर दिया है। उस दिन प्रातःकाल उठ कर, फल, फूल पूजा की सामग्री और नवीन वस्त्रों को जुटाने के उद्देश्य से बाजार चले गये। इसी बीच में उनके घर पर एक विचित्र घटना घट गई।

रामानुज सर्वदा भक्ति-साधना और भक्ति-शास्त्र के अध्ययन में निरत रहते। गुरु तथा गुरु-पत्नी की सेवा में आनन्द-विभोर रह कर संसार के शेष आकर्षणों से वे विरत हो चुके थे। जमांबा अपने पति की इस दशा से अप्रसन्न हो चली थीं। उन्हें ऐसा लगता था कि

उसके पति उनसे निरन्तर दूर होते जा रहे हैं। धर्म की चर्चा और गुरु की सेवा में लीन रामानुज को पत्नी की खोज-खबर लेने का अवकाश नहीं था। इसलिए जमांबा का दबा क्रोध धीरे-धीरे और घनीभूत होने लगा। संयोग पाकर उस दिन उनका यह क्रोध भभक उठा।

उस दिन सूर्योदय के पहले ही जमांबा कुएँ पर पानी भरने गई थीं। गुरुपत्नी भी बगल में कलशी दबाये वहाँ जा पहुँचीं। संयोगवश दोनों ने अपनी-अपनी कलशी एक ही समय कुएँ में डालीं। गुरुपत्नी की कलशी का पानी जमांबा की कलशी पर छिलक कर गिर पड़ा। जमांबा क्रोध से आग हो गईं। उन्होंने चीखकर कहा—"आँखें फूट गई हैं, क्या? मेरी कलशी का सारा जल खराब कर दिया। गुरुपत्नी हो गई तो क्या माथे पर चढ़ कर बैठोगी? जानती नहीं हो कि तुम्हारा कुल हमारे कुल से कितना हीन है? छोटे कुलवालों की छूत से अपवित्र जल का भला मैं किस तरह व्यवहार करूँगी।"

गाली का अध्याय समाप्त कर रामानुज की पत्नी दोनों पाँव फैला कर वहीं बैठ गईं और जोर-जोर से रोने लगीं। रोने के साथ ही बीच-बीच में कहे जाती थीं—"यह सब मेरे भाग्य का दोष है, नहीं तो ऐसे मूर्ख पुरुष के हाथ में पड़कर मैं क्यों इतनी दुर्गति भोगती।"

महापूर्ण की पत्नी स्वभाव से ही शान्त और धार्मिक थीं। घर लौट कर अपने पति से सारी घटना उन्होंने कही। दुःख से उनकी आँखें छलछला रही थीं। महापूर्ण ने कुछ क्षण तक चुप रह कर कहा—"जो हो गया सो हो गया, तुम इसके लिए अब दुःख मत करो। इस घटना के पीछे मैं श्रीनारायण का ही संकेत देख रहा हूँ। अब उनकी इच्छा नहीं है कि हमलोग यहाँ और अधिक समय तक रहें। प्रभु जो कुछ करते हैं सो मंगल के ही लिए। बहुत दिनों से हमलोगों ने श्रीरंगनाथ के चरण-कमलों की पूजा नहीं की है, चलो हमलोग अविलम्ब श्रीरंगम् को चल चलें।

दोनों उसी समय कांची से बाहर निकल पड़े। महापूर्ण समझते थे कि रामानुज के लौट आने पर वे लोग कांची छोड़ने नहीं पावेंगे, इसीलिए चलने में उन्होंने शीघ्रता की।

इधर रामानुज कुछ देर बाद घर लौटे तो गुरु और गुरु-पत्नी के चले जाने की बात सुनकर दुःख से व्याकुल हो उठे। जमांबा ने असली बात छिपाकर कहा,—"देखो, आज भोर को गुरु-पत्नी के साथ मेरी कुछ कहा-सुनी हो गई। किन्तु मैंने उन्हें पूज्या समझकर कोई कटु वाक्य नहीं कहा। इस सामान्य घटना की बात सुनते ही महापुरुष को इतना क्रोध हुआ कि वह पत्नी के साथ, घर छोड़कर चले गये। लोग कहते हैं कि साधु-महात्मा क्रोध नहीं करते। पर ये तुम्हारे साधु, पता नहीं, किस धातु के बने हुए हैं! ऐसे साधुओं को तो दूर से ही प्रणाम करना चाहिए।"

असल बात समझते रामानुज को जरा भी देर नहीं लगी। धार्मिक जीवन के प्रति पति का अनुराग पत्नी को खटकता था। गुरु और गुरु-पत्नी को घर में रहने देना उसे कभी नहीं सुहाया। किसी तिल का ताड़ बनाकर, इसी से, उसने अपने पति की अनुपस्थिति में, उन्हें भगा दिया है। इस तथ्य के सम्बन्ध में, अब रामानुज को कोई संदेह नहीं रहा। क्रोध और क्षोभ के आवेग में रामानुज जमांबा की भर्त्सना करते-करते घर से बाहर निकले और श्री वरदराज के मन्दिर में जाकर वे अपना सन्ताप शान्त करने के लिए बैठ गये।

स्त्री की विपरीत रुचि और मनोवृत्ति के कारण रामानुज को इस प्रकार के ताप और ग्लानि प्रायः बराबर भुगतनी पड़ती थी। दुःख की मात्रा बहुधा सहन की सीमा पर पहुँच जाती। एक बार रामानुज के घर पर एक दरिद्र ब्राह्मण उपस्थित हुए। गृहिणी जमांबा के निकट वे कातर स्वर में भोजन की याचना करने लगे, किन्तु बदले में मिली कठोर भर्त्सना। ब्राह्मण महाशय निराश होकर लौट गये।

राह में रामानुज ने उन्हें देखा। ब्राह्मण की दशा पर उन्हें बड़ी दया आई। उन्होंने उन्हें अपने घर में भोजन करने के लिए बुलाया। ब्राह्मण के उत्तर से उन्हें पता चला कि वह क्षुधार्त्त ब्राह्मण उन्हीं के घर से फटकार खाकर आ रहे हैं। जमांबा की खरी-खोटी बातों को याद उन्हें इस तरह खल रही थी कि बार-बार अनुरोध करने पर भी वे वहाँ लौटने को तैयार नहीं हुए।

पूरी बात जानकर रामानुज के क्रोध और क्षोभ की सीमा नहीं रही। भूखे ब्राह्मण को द्वार से भगा देने से बड़ा पाप और क्या होगा! जमांबा बार-बार इस प्रकार के निष्ठुर काम करती रहती और रामानुज चुप-चाप सब कुछ सहते जाते। पर इस तरह कब तक चलता? उन्होंने अन्त में समझ लिया कि धर्म-पराङमुख पत्नी के साथ अधिक दिनों तक और रहना संभव नहीं है। चिरदिन के लिए संसार-त्याग करने की इस बार उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली।

इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए पत्नी को कांची से दूर पठा देना जरूरी हो गया। इसके लिए रामानुज ने एक कौशल का अवलंबन लिया। सामने खड़े ब्राह्मण को लेकर वह एक दूकान में जा घुसे। वहाँ से फल-मूल, पान और कपड़े खरीद कर उन्होंने एक पत्र के साथ ब्राह्मण के हाथ में धर दिये। पत्र रामानुज के नाम लिखा गया था और उसके लेखक थे उनके ही श्वशुर महोदय!

निर्देशानुसार ब्राह्मणदेवता जमांबा के समक्ष उपस्थित हुए। उनके हाथ में पत्र देकर उन्होंने कहा—"मैं तुम्हारे मायके से आ रहा हूँ। तुम्हारी छोटी बहन का विवाह तय हो गया है, इसी से तुम्हारे पिता ने तुमलोगों को लिवा लाने के लिए मुझे पठाया है। यह देखो, रामानुज के नाम का पत्र है।" जमांबा आनन्द से खिल उठीं। ब्राह्मण के स्नान और भोजन की व्यवस्था में इस बार जरा भी विलंब नहीं हुआ।

थोड़ी देर बाद रामानुज घर पहुँचे। श्वशुर का पत्र पत्नी के द्वारा

पाकर, जैसे उनके आनन्द और उत्साह की सीमा नहीं रही। पत्नी से कहा—"देखो जी, शुभ कार्य में विलंब करना ठीक नहीं। तुम इस ब्राह्मण महाशय के साथ शीघ्र चली चलो। मुझे एक-दो काम अभी और करने हैं, उन्हें कर चुकने पर पीछे से मैं भी आ रहा हूँ।" जमांबा खुशी से फूली नहीं समाई, अपना सामान सम्हाल कर शीघ्रता से रवाना हो गई।

इस बार रामानुज निष्कंटक हुए। द्रुतगति से वे श्री वरदराज के मंदिर में जाकर उपस्थित हुए और सद्गुरु श्री वरदराज-विग्रह के सम्मुख उस दिन उन्होंने संन्यास-दीक्षा पूरी की। परम भागवत कांचिपूर्ण भी दीक्षा के समय वहाँ भावाविष्ट बैठे थे। अनुष्ठान के अन्त में रामानुज को उन्होंने 'यतिराज' कहकर सम्बोधित किया। दिव्य कांति, तेजोमय शरीर इस नवीन संन्यासी को देखने के लिए उस दिन मंदिर के आंगन में जनता की भीड़ लग गई।

रामानुज की प्रतिभा, विद्वत्ता और पवित्रता की बात और उनके प्रति यामुनाचार्य तथा कांचिपूर्ण के गभीर स्नेह की बात वैष्णव समाज को पहले से ही सुविदित थी। तरुणी-सुन्दरी-पत्नी और संसार को त्याग कर उनके संन्यास-ग्रहण करने की बात ने आम लोगों में उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ा दी। अविलम्ब ही वह कांची के वरदराज मठ के नेता निर्वाचित हो गये।

रामानुज के निकट सबसे पहले उनके भानजे—श्री दाशरथि (आंडान) ने दीक्षा ग्रहण की। इस नवीन शिष्य में हरिभक्ति और वेदांत-ज्ञान का अद्भुत मिलन था। रामानुज के दूसरे शिष्य हुए श्री कुरेश (आलोचान)। अतुलनीय स्मरण-शक्ति और प्रकांड शास्त्र-ज्ञान के लिए कुरेश-स्वामी पहले से ही प्रसिद्ध थे। गृहस्थ के रूप में भी इनकी पर्याप्त प्रसिद्धि प्रतिष्ठित जमींदार और दानवीर के रूप में थी। मठ के प्रांगण में अपने प्रतिभाशाली शिष्यों के साथ बैठे ऊर्ध्वपुंडधारी रामानुज जब शास्त्र-चर्चा में लीन रहते तो मुमुक्षु

नर-नारियों की मंडली उनके चारों ओर आप ही आप इकट्ठी हो जाती। रामानुज का आचार्य रूप में अभ्युदय अब शुरू हुआ।

रामानुज के पूर्वगुरु यादव-प्रकाश की माता एक दिन वरदराज के मंदिर में दर्शन करने के लिए आईं। देवोपम इस नवीन सन्यासी को देखकर वह मुग्ध हो गईं। रामानुज की बात-चीत और शास्त्रालोचना को सुनकर उनके हृदय में एक विचित्र आलोड़न पैदा हो गया। घर वापस जाकर भी वह अपने पुत्र यादव प्रकाश के निकट रामानुज की ही बातें बार-बार कहती रही।

जननी जानती थीं कि यादव-प्रकाश ने रामानुज के साथ तरह-तरह के असद् व्यवहार किये थे। पूर्वकृत पापों की स्मृति के मारे आचार्य यादव-प्रकाश के मन में शान्ति नहीं थी। वृद्धा जननी पुत्र से अनुरोध करने लगीं कि जैसे बने, सभी प्रकार के अहंकार को छोड़कर वे इस देवतुल्य संन्यासी का शिष्यत्व ग्रहण करें! गुरु अपने छात्र का शिष्यत्व ग्रहण करें? असंभव! यादव-प्रकाश क्षुब्ध कण्ठ से प्रतिवाद करने लगे—"यह कभी सम्भव नहीं हो सकता।" अपना उग्र अभिमान, निरपराध शिष्य के प्राण-हरण की चेष्टा, सब एक-एक कर स्मरण आए। हृदय में पश्चात्ताप की तीव्र ज्वाला सुलगने लगी। अन्त में पण्डितजी ने एक दिन मां के सामने यह बात स्वीकार की कि रामानुज को कम-से-कम एक बार वे अवश्य देखने जायेंगे।

उस रात को आचार्य यादव-प्रकाश ने एक अद्भुत स्वप्न देखा। एक दिव्य पुरुष जैसे उनके सामने प्रकट होकर कह रहे हैं,—"यादव, तुम अविलम्ब नवीन संन्यासी रामानुज के निकट सन्यास-दीक्षा ग्रहण करो। जो महापाप तुमने किया है, उसका यही प्रायश्चित्त है।" प्रातःकाल उठकर आचार्य भाराक्रांत हृदय से इस घटना पर विचार कर रहे थे कि हठात् महापुरुष कांचिपूर्ण के साथ उनका साक्षात्कार हो गया। यादव-प्रकाश ने उनसे अनुरोध किया,

'देखिये," मेरे हृदय में भयानक अशान्ति की अग्नि जल रही है। सुना जाता है कि आप वरदराज के मुखस्वरूप हैं—सर्वज्ञ महापुरुष हैं। दया करके मुझे बताइये कि मेरी यह अशांति किस तरह दूर होगी।"

कांचिपूर्ण ने अपनी स्वाभाविक नम्रता के साथ कहा, "महात्मन्, मैं तो अत्यन्त सामान्य व्यक्ति हूँ। किन्तु जब आप आदेश देते हैं तो प्रभु से पूछकर कल आपको इस विषय में कहूँगा।" दूसरे दिन कांचिपूर्ण ने बतलाया, प्रभु वरदराज ने कहा है—"यादव प्रकाश रामानुज से ही शिष्यत्व ग्रहण करे, इसी में उसका कल्याण निहित है।"

इसके बाद एक दिन यादव-प्रकाश धीरे-धीरे पाँव बढ़ाते हुए मठ में आकर उपस्थित हुए। स्वप्न के निर्देश या कांचिपूर्ण द्वारा प्राप्त प्रत्यादेश—किसी को भी अन्तिम निश्चय के रूप में ग्रहण करनेवाले पात्र वे नहीं थे। रामानुज का नव-रूपान्तर वे स्वयं ही परीक्षा करके देखेंगे, यह उनकी मनोगत इच्छा थी। अपने पिछले शिक्षागुरु को देखकर रामानुज ने ससम्मान अभ्यर्थना प्रकट करते हुए आसन प्रदान किया। यादव-प्रकाश कहने लगे, "वत्स! देखता हूँ कि संन्यास ग्रहण करने के बाद भी तुमने माथे पर ऊर्ध्वपुण्ड्र और दोनों बाहुओं में पद्म तथा चक्र धारण कर रखा है। मालूम होता है कि सगुण ब्रह्म की आराधना के प्रति अभी भी तुम एकान्त भाव से अनुरक्त हो। किन्तु इसका सैद्धान्तिक आधार क्या है? अपने मत का सार मुझे बताओ तो पता चले।"

रामानुज शान्त और विनयपूर्ण कण्ठ से कहने लगे, "प्रभु! ब्रह्म को मैं सगुण या सविशेष कहकर अभिहित करता हूँ क्योंकि जिसमें कोई विशेष नहीं, जो अद्वितीय तथा एकरस हो—उससे सब की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? नामरूपमय वैचित्र्य की उपस्थिति कैसे होती है? फलतः जो द्वैतहीन सत्ता है वह द्वैत की जनक कैसे हो सकती है? द्वैतहीन सत्ता से द्वैत का उत्पादन होना स्वीकार कर लेने पर यह मान लेना होगा कि कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति

होती है। क्या इससे तर्क-प्रणाली दूषित नहीं हो जाती? इसलिए मानना होगा कि इस जगत्-प्रपञ्च के मूल में एक अदृश्य और अति-सूक्ष्म प्रपंचमय ब्रह्मरूप या कारण तत्त्व है। सृष्टि के मूल में यह चिद्-अचिद् विशिष्ट ब्रह्म या कारण ब्रह्म अवस्थित है। निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्म को कारण कहना असंगत है। उस दिन श्री वरदराज ने कृपा करके अपने नित्य सेवक कांचिपूर्ण के मुख से मुझे यही तत्त्व बताया।"

यादव-प्रकाश के प्रश्न के उत्तर में रामानुज ने अपने विशिष्टा-द्वैतवाद की व्याख्या करते हुए भी बतलाया—"मुक्ति से जीव पूर्णतः ब्रह्म के साथ एकाकार नहीं हो जाता है, जीव भगवान का नित्यदास है, उसके पक्ष में भगवान के प्रति नित्यदास्य ही मुक्ति है। इस दास्य में मात्र निरवच्छिन्न आनन्द है। इसी में परम मुक्ति है, क्योंकि जीव स्वरूपतः ही भगवान का दास है। केवल इस भगवत्दास्य रूप-अपने मूल स्वरूप से विच्युत होना ही दुःख है।"

आचार्य ने उनसे कहा,—"वत्स, अब अपने इस मतवाद के समर्थन में शास्त्रीय प्रमाण भी उपस्थित करो।" रामानुज ने अपने शिष्य कुरेश की ओर अंगुलि-निर्देश कर कहा, "प्रभु! शास्त्र-प्रमाण के सम्बन्ध में कुरेश आपको सब निवेदन करेंगे। वह असामान्य मेधावी और सर्वशास्त्रज्ञ पण्डित हैं। उसके बाद उनके निर्देश से कुरेश के कण्ठ से शास्त्रीय प्रमाण अजस्र धारा में निर्गत होने लगा। इतने दिनों से आचार्य यादवप्रकाश पूर्वकृत पाप के अनुताप से जल रहे थे। साथ ही, माता का अनुरोध एवं कांचिपूर्ण द्वारा कथित श्री वरदराज का आदेश भी उनके अन्तर का मंथन कर रहा था। कुरेश के कण्ठ से भक्तिमार्गीय श्लोकों को सुनकर इस बार पण्डित महाशय का हृदय विगलित हो गया। उनके सम्मुख ही तेजःपुञ्ज-देह रामानुज भावाविष्ट हो बैठे हुए थे। यादव-प्रकाश और ज्यादा देर स्थिर नहीं रह सके। बहुत दिनों से संचित आत्मम्भरिता का शिलास्तूप नवोद्गत भाव-प्रवाह से क्षणभर में बहकर न जाने कहाँ

विलीन हो गया। आचार्य रोते-रोते रामानुज के सम्मुख भूतल पर गिर पड़े। वे सानुनय कहने लगे, "रामानुज, तुम सत्य ही राघव के अनुज हो। विद्याभिमान में मत्त हो मैं अब तक तुम्हारी महिमा नहीं समझ सका था। मेरे सभी अपराधों का मार्जन कर आज तुम मुझे आश्रयदान दो।" आचार्य को इस अवस्था में देख रामानुज चकित हो खड़े हो गये और प्रेम से भर कर बार-बार उनका आलिंगन करने लगे। उसी दिन यादव-प्रकाश ने रामानुज के निकट संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। उनका नया नाम गोविन्ददास रखा गया। इस दिन से वे एक परम भक्तिनिष्ठ वैष्णव के रूप में प्रसिद्ध हुए। पहले के गर्वोद्धत महातार्किक अद्वैतवादी आचार्य अब नहीं रहे--इस समय से वे त्याग तितिक्षामय परम भागवत-साधक के रूप में परिणत हो गये। भक्ति और प्रेम के आवेश में उनके नयनों से सदा अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती। दैन्यमय इस शुद्ध सत्त्व वैष्णव के रूप में इनका परिवर्तन देखकर लोगों के विस्मय की सीमा नहीं रही।

कुछ दिन बाद रामानुज ने एक दिन गोविन्ददास को बुलाकर कहा, "यह बड़े आनन्द की बात है कि आपका चित्त अब निर्मल हो गया है। भक्ति-साधना के पथ पर आप इस समय यथेष्ट अग्रसर भी हो चुके हैं। पहले आपने वैष्णवों की निन्दा कम नहीं की है। इस बार इस नव रूपान्तर के बाद आप वैष्णवों के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में एक प्रामाणिक ग्रंथ की रचना करें। इससे आपको पूर्ण शान्ति मिलेगी।" गोविन्ददास शीघ्र ही इस कार्य के व्रती हुए। यह रचना जब समाप्त हुई, उस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष की हो चुकी थी। उनका वह "यति धर्म समुच्चय" आज भी वैष्णवशास्त्र का एक विशिष्ट ग्रंथ माना जाता है।

विख्यात अद्वैतवादी यादव-प्रकाश द्वारा रामानुज को गुरु रूप में ग्रहण करने के बाद से संपूर्ण दाक्षिणात्य में रामानुज का नाम गूँजने लगा। यहीं से वैष्णव आचार्य और सिद्ध महापुरुष के रूप में

उनके जीवन का गौरवमय अध्याय आरंभ हुआ। आचार्य रामानुज को इस ख्याति से श्रीरंगम् मठ के भक्तों के आनन्द की सीमा न रही। श्री महापूर्ण के सपत्नीक रामानुज के घर से चले आने के बाद श्रीरंगम् मठ के भक्तगण अत्यन्त दुःखित हो उठे थे। उनका नेतृत्व ग्रहण करने में अब रामानुज सहमत होंगे कि नहीं, यह भी वे समझ नहीं पा रहे थे। इस बार श्री रामानुज के संन्यास-ग्रहण और विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य के रूप में उनके अभ्युदय को देखकर श्रीरंगम् में आनन्द का ज्वार तरंगित हो उठा।

इसी समय महापूर्ण को श्रीरंगनाथ का एक प्रत्यादेश प्राप्त हुआ। प्रभु ने उनसे कहा, "देखो, तुम लोग रामानुज को कांचीपुर से ले जाने के लिए व्यस्त हो उठे हो। किन्तु, केवल रामानुज से अनुरोध करने से यह सम्भव नहीं होगा। तुम लोग शीघ्र भक्ति—संगीत में निपुण वररंग को कांची भेजो। स्तुति द्वारा वह वरदराज को सन्तुष्ट करे और रामानुज को यहाँ ले आने के सम्बन्ध में प्रार्थना करे। अनुमति के बिना रामानुज वरदराज के पादमूल को किस तरह छोड़ सकेंगे?"

प्रत्यादेश के अनुसार भक्त वररंग अविलम्ब श्रीवरदराज के मन्दिर में जाकर उपस्थित हुए। प्रार्थित भिक्षा उन्हें तुरत मिल गई। श्रीविग्रह की अनुमति पाकर रामानुज सशिष्य श्रीरंगम् मठ में उपस्थित हो गये। भक्त तथा संन्यासीगण ने एक स्वर से उन्हें ही श्रीरंगनाथजी की सेवा का नेतृत्व और मठ-प्रधान का पद प्रदान किया। कहा जाता है, इसी समय शेषनागशायी श्री रंगनाथ ने रामानुज पर प्रसन्न हो उन्हें दो विशेष विभूतियों का अधिकारी बनाया। एक तो मनुष्य के सन्ताप-निवारण की क्षमता और दूसरी भक्त-प्रतिपालन के उपयुक्त दैवी शक्ति। श्री रंगनाथ की पुण्यभूमि में शक्तिमान महावैष्णव रामानुज इस बार मानो भक्त-प्रेम का एक दान-सत्र ही खोल बैठे। अनेक दिशाओं से विष्णु-भक्त नर-नारियों के दल-के-दल इस महापुरुष के चरण-स्पर्श के लिए टूट पड़े।

रामानुज इस समय श्रीरंगम् के मठाधीश हैं। यामुनाचार्य का आसन उन्होंने प्राप्त किया है। राजोचित सम्मान और वैष्णव-समाज के नेतृत्व के अधिकारी हुए हैं, किन्तु अपने जीवन के महाव्रत से क्षण-भर के लिए भी वे विमुख नहीं हुए। यामुनाचार्य की मृतदेह के सम्मुख खड़े होकर उस दिन उन्होंने यह संकल्प लिया था कि वे भारत में विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना करेंगे। परन्तु इस महत्कार्य की सिद्धि के लिए समग्र शास्त्र-समुद्र का मंथन करना होगा, अध्यात्म-साधना के साथ-साथ लोक गुरु-रूप में भी शास्त्र-ज्ञान का अप्रतिद्वन्द्वी अधिकार उन्हें अर्जित करना होगा। निरभिमान, महावैष्णव रामानुज इसीलिए इस समय भी महापूर्ण के एक शिक्षार्थी रूप में ही शास्त्र-पाठ करते रहे। महापूर्ण की असामान्य भक्ति के आलोक में इस समय उन्होंने न्यास तत्त्व, गीतार्थ संग्रह, सिद्धि त्रय, व्याससूत्र, पञ्चरात्रागम प्रभृति का अध्ययन सम्पन्न किया। उनकी अलौकिक प्रतिभा को देखकर शिक्षादाता और गुरु महापूर्ण विस्मय-विमुग्ध थे। उन्होंने अपने पुत्र से रामानुज का शिष्यत्व ग्रहण कराया।

महापूर्ण ने एक दिन रामानुज को बुलाकर कहा, "वत्स! इतने दिनों में ही भक्तिशास्त्र पर तुम्हारा असामान्य अधिकार प्राप्त हो चुका है। किन्तु तुम्हें और भी अनेक विद्याएँ जाननी हैं। अवशिष्ट शिक्षा के लिए तुम्हें परम भागवत और सुपण्डित गोष्ठिपूर्ण के निकट जाना होगा। यह वृद्ध और सर्वजनमान्य विष्णु उपासक यामुनाचार्य के एक अन्तरंग भक्त और शिष्य हैं। पूरे दाक्षिणात्य में भक्ति-शास्त्र में उनके समान कोई पारंगत नहीं हैं। साधनलब्ध निगूढ़तम अर्थसह विष्णु-मंत्र की शिक्षा देने के लिए उनकी कृपा के अतिरिक्त कोई उपाय नही है। निकटस्थ तिरुकोष्ठिर में उनका आवास है। तुम उनके पद-प्रान्त में अविलम्ब आश्रय लो।"

रामानुज भक्तिपूर्ण हृदय से गोष्ठिपूर्ण के निकट उपस्थित हुए। किन्तु यह प्रवीण वैष्णव उन्हें ग्रहण करने को जरा भी सम्मत नहीं

हुए। रामानुज भी छोड़नेवाले नहीं थे। बारबार वह तिरुकोष्ठिर जाकर गोष्ठिपूर्ण के निकट अपने मन की आकांक्षा व्यक्त करने लगे। परन्तु सारा अनुनय-विनय और व्याकुल आवेदन व्यर्थ गया। अठारह बार लौटाए जाने पर रामानुज हताश होकर श्रीरंगम् लौट आये और रोने लगे।

गोष्ठिपूर्ण के एक शिष्य इस समय श्रीरंगम् में उपस्थित थे। इस घटना ने उन्हें बहुत प्रभावित कर दिया। तिरुकोष्ठिर लौटकर उन्होंने गुरु से कहा—"प्रभु, हम सब की आशा और आश्वासन के केन्द्र इस समय यही महामति रामानुज हैं। क्या आपने उनके प्रति निर्दय होकर उन्हें एकदम ही अस्वीकार करने का निश्चय कर लिया है?" गोष्ठिपूर्ण ने सहास्य कहा, "वत्स, तुमने उत्तम बात कही है। रामानुज को मैं उनका प्रार्थित मन्त्रार्थ प्रदान करूँगा। किन्तु वह केवल दण्ड और कमण्डलु लेकर एकाकी उपस्थित होवें। जब भी वह मेरे यहाँ आता है, साथ में दो चेलों को क्यों ले आता है?"

यह संवाद पाकर रामानुज तिरुकोष्ठिर को दौड़ पड़े। बराबर की तरह इस बार भी उनके संग थे दो परिकर, दाशरथि और श्रीवत्सांक। रामानुज के सकातर कृपा-भिक्षा करने पर गोष्ठिपूर्ण ने गम्भीर भाव से कहा, "मैंने तो तुम्हें अकेला केवल दंड कमण्डलु लेकर यहाँ आने को कहवाया था। इस बार भी तुम इन्हें साथ क्यों लेते आये?" रामानुज ने सहज कण्ठ से उत्तर दिया, "प्रभु, दाशरथि और श्रीवत्स ही तो मेरे दण्ड और कमण्डलु हैं।" शिष्य-द्वय के प्रति रामानुज का यह कैसा गम्भीर प्रेम? यह कैसी एकात्मता? गोष्ठिपूर्ण का हृदय मुहूर्तभर में विगलित हो गया। इस बार रामानुज के प्रति सदय होकर उन्होंने उन्हें मन्त्र का गूढ़ार्थ प्रदान किया। इस मन्त्र की प्राप्ति के साथ ही रामानुज का हृदय एक अपरूप दिव्यालोक से उद्भासित हो उठा, मानो उन्हें नया जीवन, नया रूप प्राप्त हुआ हो। गोष्ठिपूर्ण ने कहा, "वत्स, इस मन्त्र का माहात्मय बहुत कम लोग जानते हैं। तुम एक शक्तिमान आधार हो, यह जानकर ही यह मन्त्र तुम्हें दिया है।

मन्त्र-चैतन्य के साथ जो कोई इसे ग्रहण करेगा, वह वैकुण्ठगमन करेगा। इसीलिए सच्चे अधिकारी के अलावा किसी को भी यह परम मन्त्र न देना। अलौकिक आनन्द से रामानुज का शरीर काँप रहा था। प्रगाढ़ भक्ति से महात्मा गोष्ठिपूर्ण के चरणों में साष्टांग प्रणाम निवेदित कर वे वहाँ से विदा हुए।

दूसरे दिन रामानुज श्रीरंगम् को रवाना हो रहे हैं। दिव्यानन्द की तरंगें उनकी सत्ता को व्यापृत कर आस-पास सब को आप्लावित कर रही हैं। रामानुज भावावेश से आविष्ट हैं। इस आनन्द-धारा को दिग्विदिक् फैला देने के लिए वे व्यग्र हो रहे हैं। राह चलते जिस पथिक को पाते, उसको भी वे आह्वान करते, "अजी, तुम सभी जो जहाँ हो मेरा अनुसरण करो। आज मैंने जो अमूल्य दिव्य सम्पदा पाई है, उसे सब में वितरित कर मैं धन्य बनूँगा।

लोग सोचते, कौन है यह परम कारुणिक संन्यासी, जो इस तरह मुक्तहस्त सबको अमृतदान देना चाहता है? इसके मुख-मण्डल पर स्वर्गीय आनन्द की विभा झलमल कर रही है—वाणी में इतना मोहक प्रेमाह्वान है।

तिरुकोष्ठिर के श्रीविष्णु-मन्दिर की ओर रामानुज धीरे-धीरे अग्रसर होने लगे। अनुसरणकारी जनता को संकेत से कहा, "तुम सभी श्री विष्णु-मन्दिर के सम्मुख खड़े होओ। जो अमूल्य रत्न मैंने पाया है, आज उसे तुम सब में वितरित कर दूँगा।" सहस्र-सहस्र नर-नारी इस अलौकिक दिव्य-भावग्रस्त महापुरुष के पीछे-पीछे दौड़ने लगे। चारों ओर से जनसमूह उमड़ पड़ा। मन्दिर के उच्च गोपुरम् पर खड़े हो रामानुज ने कहना शुरू किया, "प्रिय भाइयो और बहनो! परम प्रभु की कृपा से आज मैंने एक दुर्लभ मंत्ररत्न प्राप्त किया है। यदि तुम संसार की समस्त ज्वाला और यन्त्रणा से मुक्ति पाना चाहते हो, तो तीन बार मेरे संग इस मन्त्र का उच्चारण कर जीवन सफल करो।"

विराट जनसमूह से उत्तर मिला, "हमसब प्रस्तुत हैं, आप कृपा कर कहें, क्या है वह मन्त्र ?" लोक-कल्याण की भावना से अनुप्राणित, भावाविष्ट रामानुज के कण्ठ से उस समय उच्च स्वर में वाणी निर्गत हुई—"ॐ नमो नारायणाय !" लोक-मंगलकामी इस महापुरुष के कण्ठ-में-कण्ठ मिलाकर समग्र जनता ने मन्त्र-चैतन्य-युक्त इन शब्दों का तीन बार उच्चारण किया। क्षणमात्र में एक अपार्थिव भावतरंग विष्णु-मन्दिर के चारों ओर उद्वेलित हो उठी। आबाल-वृद्धवनिता के मुख पर एक दिव्य आनन्द की दीप्ति-फैल गई, मानो समस्त सांसारिक दुःख-मालिन्य निःशेष हो गया हो, मानो किसी जादूगर ने निमिष मात्र में जादू की छड़ी स्पर्श कराकर उनकी जीवन-धारा की दिशा ही बदल दी हो।

यह उत्तेजनापूर्ण संवाद अविलम्ब गोष्ठिपूर्ण के निकट आ पहुँचा ? इसके बाद रामानुज जैसे ही उनके पास आकर खड़े हुए वे क्रोधोद्दीप्त हो कहने लगे, "नराधम, इसी समय तुम यहाँ से दूर हो जाओ। मैं तुम्हारा मुँह नहीं देखना चाहता हूँ। मैंने तुम्हें पवित्र और निगूढ़ महामन्त्र दिया था। जो उसका इस तरह असद्व्यवहार करे वह महापातकी नहीं तो और क्या है ? अनन्त नरक ही तुम्हारे लिए उपयुक्त स्थान है।"

किन्तु इस तीव्र तिरस्कार से रामानुज जरा भी विचलित न हुए। प्रशान्त भाव से उन्होंने कहा, "प्रभु, आपके ही श्रीमुख से सुना है कि यह महामन्त्र जो लाभ करेगा, उसे परमगति प्राप्त होगी। यदि मेरे समान नगण्य मनुष्य के अनन्त नरक में जाने से सहस्र-सहस्र लोगों को मुक्तिलाभ हो जाय, तो वह अनन्त नरक ही मुझे मिले। वैकुण्ठवास की अपेक्षा यही मेरे लिए अधिक काम्य है।"

रामानुज के उत्तर से गोष्ठिपूर्ण चौंक उठे। लोक-मंगल के लिए जो महापुरुष इस निर्मम भाव से आत्मविलोप कर सके, अपनी मुक्ति-सम्पदा को निरपेक्षभाव से अवहेलना कर दे, उसकी पृथ्वी में किससे तुलना की जाय ? गोष्ठिपूर्ण मुहूर्तभर में ही पानी-पानी हो

गये। प्रेम से भर कर उन्होंने रामानुज को गले लगा लिया और बोले, "रामानुज, धन्य हो तुम और धन्य है तुम्हारा मानव-प्रेम। शिष्य होकर भी आज तुमने मुझे तत्त्व-ज्ञान सिखला दिया। जिसका हृदय इतना महान हो, वह तो लोकपिता है—विष्णु का अंश है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं।" रामानुज ने गोष्ठिपूर्ण के चरणों पर गिर हाथ-जोड़कर कहा, "प्रभु, आप मेरे नित्य गुरु हैं। आपकी कृपा-शक्ति पाकर मैं धन्य हो गया हूँ। इसी महती कृपा ने आज अगणित लोगों का भी कल्याण-साधन किया है। अतः आपके चरणों में मेरा कोटि-कोटि प्रणाम।"

इसके बाद गोष्ठिपूर्ण ने अपने पुत्र से रामानुज का शिष्यत्व ग्रहण कराया। रामानुज के मतवाद और सिद्धान्त-समूह के बीच सच्चे वैष्णव तत्त्व का बीज देखकर वे परितृप्त हुए। उन्होंने तत्क्षण अपने शिष्यों को निर्देश दिया कि वे लोग अब से सम्पूर्ण विष्णु-उपासना के सिद्धान्त को 'रामानुज सिद्धान्त' के नाम से अभिहित किया करें।

रामानुज शिष्यों के साथ श्रीरंगम् लौट गये। इस समय से जन-साधारण उन्हें देवांश-स्वरूप मानने लगे। बहुत से लोगों की दृष्टि में वे श्रीरामचन्द्र के अनुज लक्ष्मण के द्वितीय अवतार के रूप में भी परिगणित होने लगे।

रामानुज के अन्तरंग भक्त कुरेश ने एक समय उनसे गीता के चरम उपदेश का सच्चा मर्म समझना चाहा। सद्गुरु के निकट भगवान श्री कृष्ण के शरणागति धर्म्म का गूढ़ार्थ जानने के लिए वे बहुत व्यग्र हो उठे थे। रामानुज ने उन्हें निर्देश दिया कि एकमात्र भिक्षान्न ग्रहण और शुद्धाचार अवलम्बन कर उन्हें चलना होगा। इस शुद्धाचारव्रत के उद्यापन के बाद ही कुरेश ने प्रार्थित वस्तु लाभ की।

कुरेश की तरह भक्त दाशरथि के हृदय में भी गीता का मर्मार्थ जानने की इच्छा जागृत हुई। इसके लिए वह बारम्बार विनती करने लगे। किन्तु दाशरथि के लिए रामानुज ने अन्य प्रकार की

व्यवस्था बतायी। वह जानते थे, दाशरथि उनका परमभक्त होने पर भी थोड़ा-सा विद्याभिमानी है। शिष्य के साधन-पथ की यह बाधा सद्गुरु रामानुज को दूर करनी होगी। इसके अलावा गीता के मूल तत्त्व को ग्रहण करना भी इस अहंकार का निष्कासन किये बिना संभव नहीं। इसीलिए रामानुज ने दाशरथि को वृद्ध वैष्णव नेता गोष्ठिपूर्ण के निकट जाने का आदेश दिया। क्रमागत छह मास दौड़-धूप करने पर भी उन्हें अभिलषित वस्तु नहीं मिली।

अन्त में दाशरथि गोष्ठिपूर्ण के निकट रो पड़े। गोष्ठिपूर्ण ने कहा, "वत्स, तुम अपने समस्त अभिमान को मूल से उखाड़ कर, हाथ जोड़ अपने गुरुदेव रामानुज के ही पद-प्रान्त में उपवेशन करो। प्रार्थित धन तुम्हें वहीं से मिलेगा।" दाशरथि उसी समय दौड़े हुए श्रीरंगम् पहुँचे और रामानुज के चरणों पर लोट-लोटकर कृपा-भिक्षा माँगने लगे। किन्तु इस आवेदन से गुरु जरा भी द्रवित नहीं हुए। प्रशांत कण्ठ से उन्होंने केवल इतना ही कहा, 'वत्स, तुम्हें और भी कुछ दिन शुद्धाचारी भाव से रहकर अकांक्षा-पूर्ति की प्रतीक्षा करनी होगी।"

इस बीच एक दिन एक अद्भुत काण्ड हो गया। रामानुज के गुरु महापूर्ण की एक कन्या थी। उसका नाम था अत्तुला। दूर ग्रामाञ्चल में उसका विवाह हुआ था। किन्तु श्वशुर-गृह में उसे नाना दुर्भोग भोगने पड़ते थे, विशेषकर पाकशाला में जाने पर तो कष्ट का अन्त नहीं रहता। निकट में जल की व्यवस्था थी नहीं, बहुत दूर से पानी का घड़ा माथे पर लाकर रसोई करनी पड़ती थी। एक दिन यही कहने के कारण उसके श्वशुर क्रोध में आकर गाली-गलौज करने लगे—इतना रुपया उनके पास नहीं कि पुत्र-वधू के लिए रसोइया का व्यय-भार उठा सकें। यदि यह कार्य इतना ही असह्य हो गया तो अत्तुला पिता से कहकर पानी ढोने के लिए एक भृत्य को नियुक्ति क्यों नहीं करा लेती? इसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं।

अत्तुला ने पितृ-गृह आकर अपने पिता को यह सब वार्ता सुनायी और रोने लगी। महापूर्ण ने कहा, "बेटी, इस सम्बन्ध में

मैं कुछ भी करने में असमर्थ हूँ, तुम रामानुज से सब कहो। वह तुम्हारे बड़े भाई के समान हैं। जो कुछ भी करना है वही करेंगे।

श्रीरंगम् मठ आकर अत्तुला ने रामानुज के निकट अपने दुःख की कहानी सुनाई। सर्वशास्त्र पारंगत शिष्य दाशरथि भी उसी समय वहाँ उपस्थित थे। रामानुज ने गुरुकन्या को सांत्वना देकर कहा, "बहन, तुम इसके लिए दुःख या दुश्चिन्ता न करो, मैं सब प्रबन्ध कर दूँगा। मेरे अन्यतम श्रेष्ठ शिष्य यह दाशरथि ही तुम्हारे पाचक होंगे। वह वहाँ छद्मवेश में रहेंगे।" निर्णय सुनकर सभी व्यक्ति विस्मय से हत्वाक हो गये। पंडितों में अग्रगण्य दाशरथि के लिए गुरुदेव की यह कैसी अद्भुत व्यवस्था! किन्तु, दाशरथि ने रामानुज के इस कोठर निर्देश को सानन्द सर-आँखों पर लिया। समझने में देर न लगी कि गुरुदेव उनके अभिमानरूपी काँटे के बीज को समूल उखाड़ने पर तुले हुए हैं। इस प्रकार रामानुज के प्रख्यात शिष्य पाचक-वृत्ति ग्रहण कर दिन बिताने लगे।

छह मास बीत गये। एक दिन अत्तुला के श्वशुर-गृह में एक विख्यात वैष्णव पण्डित शास्त्र-व्याख्या करने आये। आलोचना के प्रसंग में वह एक श्लोक की गलत व्याख्या कर बैठे। पाचक-वेशधारी पंडित दाशरथि इस पर चुप बैठे न रह सके, उसी समय भूल प्रतिवाद कर बैठे। वाद-विवाद में उत्तेजित हो वह श्लोक का सच्चा तात्पर्य भी सब को समझाये बिना न रह सके। सभी उपस्थित व्यक्ति इस नगण्य पाचक के पांडित्य पर दङ्ग रह गये। छद्मवेशी रसोइये का सच्चा परिचय भी धीरे-धीरे प्रकट हो गया। सभी को मालूम हो गया, यही है दुर्द्धर्ष पंडित दाशरथि—श्रीरामानुजाचार्य के *अन्यतम* श्रेष्ठ शिष्य।

दाशरथि को साथ ले सभी लोग दल बाँधकर रामानुज के निकट उपस्थित हुए। उनकी एकान्त प्रार्थना के कारण उस दिन दाशरथि को पाचक-वृत्ति से छुटकारा मिला। निरभिमान, शुद्ध सत्त्व शिष्य ने इसके अनन्तर गुरु के निकट परमतत्व *प्राप्त किया।*

यामुनाचार्य के तीन अन्तरंग शिष्य कांचीपूर्ण, महापूर्ण और गोष्ठिपूर्ण की कृपा और साधन-निर्देश रामानुज अबतक पा चुके थे। केवल मालाधार और बररंग बाकी रह गये थे। इस बार इन दोनों महापुरुषों के चरणतल में बैठकर उन्होंने वैष्णव-तत्व की शिक्षा समाप्त की। यामुनाचार्य के इन पाँच प्रधान शिष्यों में से प्रत्येक ने गुरुदेव की एक-एक पृथक् भावधारा को ग्रहण कर अपने-अपने जीवन को सार्थक बनाया था। इस बार ये पाँच धाराएँ सम्मिलित रूप से रामानुज की साधन-सत्ता में आ मिलीं। सर्व गुणान्वित वैष्णव नेता के रूप में वह दाक्षिणात्य के भक्त और जनसमाज में अभिनन्दित होने लगे। बहुत से लोग तो उन्हें श्रीरंगनाथ के द्वितीय विग्रह रूप में मानकर उनकी श्रद्धा-भक्ति करने लगे।

रामानुज के प्रभाव और शक्ति को देखकर श्रीरंगम मठ के प्रधान पुजारी अत्यन्त शंकित हो उठे। जैसे भी हो, निजी स्वार्थ और प्राधान्य की रक्षा करनी ही होगी। इसलिए उसने निश्चय किया कि अविलम्ब उनका प्राणान्त कर दिया जाय। प्रधान पुजारी ने इसी उद्देश्य से एक दिन रामानुज को अपने घर में भोजन का निमंत्रण दिया। उन्होंने पत्नी को निर्देश दिया कि अतिथि रामानुज के भोजन के लिए बैठते ही वह विष मिश्रित अन्न उनकी थाली में परोस दे पुजारी के गृह में उपस्थित होने पर रामानुज के सादर अभ्यर्थना की सीमा नहीं रही। हाथ पैर धोने के बाद जैसे ही वह भोजन के लिए आसन पर बैठे पुजारी की पत्नी भोजन की थाली ले उनके सम्मुख उपस्थित हुई। किन्तु विषाक्त खाद्य का परिवेशन करते समय उसके मन में हठात् विचित्र भाव का उदय हुआ। इस सर्वजन पूजित महापुरुष के सम्मुख वह किस हृदय से विष-मिश्रित आहार रखेगी? रामानुज की दिव्य मूर्त्ति की ओर देखती हुई वह व्याकुल कण्ठ से रो पड़ी और बोली, "वत्स, यदि प्राण बचाना चाहते हो तो और कहीं जाकर भोजन करो। यहाँ के अन्न में प्राण घाती विष मिलाया हुआ है। यह मैं तुम्हें ग्रहण नहीं करने दूँगी।" विस्मित रामानुज पापिष्ठ

पुजारी के गृह से धीरे-धीरे बाहर हो गये। प्राण नाश का षड़यन्त्र विफल हुआ।

व्यर्थ काम होने पर प्रधान पुजारी का क्रोध जैसे और भी बढ़ गया। उसने अपने हो हाथों से रामानुज का बध करने का संकल्प किया। रामानुज एक दिन सायंकाल श्री रंगनाथ के दर्शन के लिए आये। प्रधान पुजारी ने जल्दी-जल्दी उन्हें श्रीविग्रह के स्नानाभिषेक जल को पीने के लिए दिया। इस जल में उसने तीव्र प्राणघाती विष मिला दिया था परम श्रद्धा भाव से इसे पान करते ही रामानुज को एक दिव्य आनन्दा। वेश हुआ। विष की कटुता तो दूर की बात, यह तो उनके लिए एक-अमृतोपम वस्तु हो गया। इस पुण्य वारि का पान कर आनन्दोत्फुल्ल हो वे श्रीरंगनाथ से कहने लगे, कृपामय प्रभु, दास के प्रति तुम्हारी यह कैसी अहेतुक कृपा है। आज तो मैंने तुम्हारे स्नान-जल में जैसे स्वर्गीय अमृत रस का ही पान किया है। प्रभु, तुम धन्य हो, धन्य है तुम्हारी कृपा।" इस प्रकार हाथ जोड़कर स्तुति करते-करते रामानुज रंगनाथ मन्दिर से बाहर आये। आनन्दावेश से उनकी देह थर-थर कांप रही थी। यह दृश्य देख पुजारी का आनन्द भी रोके न रुका—विष की क्रिया निश्चय ही आरम्भ हो गई है, इस विषय में अब और कोई संदेह नहीं रहा।

रात बीत चुकी। प्रधान पुजारी घंटे पर घंटा गिनता रहा कि कब रामानुज की चिता का धूम आकाश में उठता हुआ दिखाई देगा। जो तीव्र हलाहल उसने अपने हाथ से रामानुज को पान कराया है उससे आज उनकी मृत्यु तो अवश्यांभावी है।

अल्पक्षण में ही हरिकीर्त्तन का गगन भेदी शब्द पुजारी के कानों में आने लगा। मंदिर के बाहर आकर उसने जो कुछ देखा, उससे वह विस्मयाभिभूत हो खड़ा रह गया। देखा श्रीरंगम् के सहस्र-सहस्र भक्त रामानुज के संग कीर्त्तन में मत्त हो रहे हैं। रामानुज दिव्य भाव से विभोर उनके बीच बैठे हैं। उनकी आँखें बन्द हैं और आनन पर अति मानुषी दिव्य ज्योति छा रही है। महासाधक की समस्त सत्ता मानो श्रीरंगनाथ के पाद पद्मों पर समर्पित है।

अलौकिक शक्ति के महाधार इस प्रेमी-पुरुष पर ही उसने विष-प्रयोग किया है। पुजारी की अंतरात्मा तीव्र अनुशोचना से रो पड़ी। जनता की वेष्टनी भेद कर दौड़ते-पड़ते वह रामानुज के पदतल में जाकर गिर पड़ा और रो-रो कर कहने लगा, "यतिराज, इस महा-पातकी को क्षमा करो! क्षमा करो! मेरे समान दुरात्मा के उद्धार के लिए ही तुम्हारा आविर्भाव हुआ है, यह मैंने आज समझ लिया। मुझ पर कृपाकर अपने चरणों में आश्रय दो।"

इस बीच श्री रामानुज का बाह्य ज्ञान लौट आया। अनुतप्त, क्रन्दनरत प्रधान पुजारी के सिर पर हाथ रख उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया। कहा, "भाई! श्रीरंगनाथ स्वामी ने तुम्हारे समस्त अपराध क्षमा कर दिये। इस समय से मानव-प्रेम में उद्बुद्ध हो तुम जीव-सेवा में लग जाओ।" दुर्द्धर्ष प्रधान पुजारी इसके बाद एक परम वैष्णव में रूपांतरित हो गये।

दाक्षिणात्यवासी एक अद्वैतवादी पंडित इस समय समस्त उत्तर भारत में दिग्विजय करते घूम रहे थे। इनका नाम था यज्ञमूर्ति। वैष्णव संन्यासी श्री रामानुज का अभ्युदय और उनके द्वारा मायावाद के खंडन का संवाद इनके कानों में पहुँचा। रामानुज को परास्त करने के उद्देश्य से पंडित शीघ्र ही श्रीरंगम् पधारे। उनके साथ थे एक शकट पर लदे हुए शास्त्र-ग्रंथ एवं अनेक शिष्य और अनुचर।

सत्रह दिनों तक रामानुज और यज्ञमूर्ति के बीच तर्क युद्ध और विचार चलता रहा। मायावादी संन्यासी की वाग्-विभूति और कूट तर्क से रामानुज अंत में प्रायः दबने से लगे। एक दिन मठा-धिष्ठित श्रीदेवराज विग्रह के सम्मुख उन्होंने सकातर निवेदन किया, "प्रभु, अपने भक्ति-धर्म की अनुपम महिमा तुम जगत में कब प्रका-शित करोगे? बोलो! मायावादी तार्किकों का यह प्रचार और कितने दिन चलता रहेगा? रात्रि में ठाकुर ने प्रत्यादेश दिया, "वत्स

यतिराज, तुम इतने उद्विग्न न बनो। जान लो, विष्णुभक्ति का प्रकृति माहात्म्य शीघ्र तुम्हारे द्वारा ही जीवों के निकट प्रचारित होगा।"

प्रातःकाल शय्या से उठने पर रामानुज के भीतर एक अलौकिक शक्ति का आवेश दिखाई देने लगा। एक स्वर्गीय ज्योति की आभा से उनका मुख झलमल कर रहा था। अपूर्व आत्म-विश्वास से वह उस समय उद्दीप्त हो उठे। मायावादी संन्यासी के सम्मुख रामानुज मानो एक असामान्य दैवी शक्ति लेकर आये। उनकी अतिमानुषी ज्योति-मण्डित आनन देख तर्कवीर यज्ञमूर्ति अभिभूत हो पड़े। उन्हें पता चला कि यह वैष्णव संन्यासी तो केवल एक महाशास्त्रज्ञ पंडित ही नहीं, यह तो सत्यतः दैवी शक्तिधर महापुरुष है। पवित्रता, प्रेम और अभि-मान-शून्यता से उसने परमतत्त्व को प्राप्त कर लिया है। अतः शुष्क तर्क में व्यर्थ ही समय बिताकर यज्ञमूर्त्ति को अबतक क्या लाभ हुआ? ईश्वर-प्राप्ति तो दूर की बात, चित्त की शान्ति और निर्मलता भी उन्हें प्राप्त नहीं हुई।

एक अमोघ अलौकिक आकर्षण से दिग्विजयी पंडित रामानुज के चरणों पर झुक गये। उनकी शरण ले वे एक विष्णुपंथी साधक हो गये। श्रीदेवराज विग्रह की कृपा से उनकी मोह से मुक्ति हुई और वे देवराज मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री रामानुज के निर्देश पर इस महापंडित ने तमिल भाषा में 'ज्ञानसार' और 'प्रमेयसार' नामक दो अमूल्य ग्रंथों की रचना की।

शिष्यों में वैष्णवीय दैन्य और अभिमान-शून्यता को जगाने में श्री रामानुज की सतर्कता कभी थकती न थी। एक ओर अपार स्नेह और प्रेम, दूसरी ओर कठोर परीक्षा। इन्हीं दोनों के मध्य से उनके आचार्य जीवन का लीलाभिनय रूपायित हो उठा। एक बार श्री रामानुज शिष्यों के साथ तीर्थ-भ्रमण के लिए बाहर निकले। पथ में ही अष्ट-सहस्र नामक एक ग्राम पड़ता था। इस ग्राम में आचार्य के दो विशिष्ट ब्राह्मण शिष्य रहते थे। इनमें एक अत्यन्त धनवान थे।

इनका नाम था यज्ञेश। दूसरे व्यक्ति वरदाचार्य थे—एक कंगाल भक्त जो किसी तरह भिक्षान्न द्वारा जीवन-यापन करते थे।

आचार्य के साथ अनेक शिष्य थे। इनके आहार और वास स्थान की व्यवस्था करना यज्ञेश्वर के लिए सहज था। इसीलिए उसके घर में ही भिक्षा-ग्रहण करने का निश्चय हुआ। ग्राम के निकट पहुँचते ही रामानुज ने इस धनाढ्य ब्राह्मण को अपने आगमन की सूचना भेजी। दो संवाददाता शिष्य द्रुतपद से यज्ञेश्वर के घर उपस्थित हुए। आचार्य रामानुज उनके घर आतिथ्य ग्रहण करने आ रहे हैं, यह संवाद सुन यज्ञेश्वर के आनन्द की सीमा न रही। अविलम्ब गुरुदेव के स्वागत के लिए समुचित व्यवस्था करने में संलग्न हो गये और श्रान्त, भूखे-से आगंतुक शिष्य-द्वय की परिचर्या की याद ही न रही।

यज्ञेश्वर के इस व्यवहार से उन दोनों तरुण शिष्यों के लिए व्यथित होना स्वाभाविक ही था। लौटकर उन्होंने सारी बात रामानुज के चरणों में निवेदित की। यज्ञेश्वर का यह कैसा आचरण! घर आये वैष्णवों की सच्ची सम्वर्द्धना उसने नहीं की? रामानुज ने क्रुद्ध हो कहा, "यज्ञेश्वर के घर पर हमलोगों का जाना नहीं होगा। चलो, हमलोग अकिंचन वैष्णव वरदाचार्य के घर ही भिक्षा-ग्रहण करें।" शिष्यदल के साथ श्री रामानुज अपने दरिद्र शिष्य के द्वार पर पहुँचे।

उस समय वरदाचार्य हाथ में अक्षय-पात्र लेकर भिक्षाटन करने बाहर चले गये थे। साधारणतः जो कुछ मिलता, प्रतिदिन उससे ही नारायण विग्रह की सेवा होती। बाद में साध्वी पत्नी लक्ष्मीदेवी के साथ ये ब्राह्मण प्रसाद ग्रहण करते। शिष्यों के साथ आचार्य रामानुज को देख लक्ष्मीदेवी आनन्द से अधीर हो उठीं। किन्तु, अभ्यर्थना कर बैठाने के बाद ही वह चिन्ता-सागर में डूब गईं। घर में एक मुट्ठी तन्दुल नहीं, स्वामी भी अनुपस्थित। कहीं से संग्रह हो सकेगा, ऐसा कोई भरोसा भी दिखलाई नहीं पड़ता था।

तब भी लक्ष्मीदेवी ने हाथ जोड़कर रामानुज से कहा, "प्रभु, मेरे स्वामी बहुत देर से भिक्षाटन के लिए बाहर निकले हुए हैं। शीघ्र ही वापस आयेंगे। आप सभी विश्राम कर सामने की पुष्करिणी में स्नानादि से निवृत्त हो लें। इस बीच में श्रीविष्णु के लिए भोग-नैवेद्य प्रस्तुत कर लेती हूँ।

ठाकुर-घर में आकर ब्राह्मण-पत्नी विचारने लगी—क्या इस संकट में नारायण मेरी सहायता नहीं करेंगे ? इतने अल्पकाल में कहाँ से इतने लोगों के लिए आहार संगृहीत होगा ? हठात् उसे एक पड़ोसी धनी वणिक् की बात स्मरण हो आई। यह धनाढ्य वणिक् लक्ष्मीदेवी के रूप पर मोहित था। बार-बार कुप्रस्ताव लेकर इसने दूती भी भेजी है, परन्तु लक्ष्मीदेवी ने प्रत्येक बार उसके प्रस्ताव को घृणा से ठुकरा दिया है। अन्त में वणिक् हताश हो चुप हो गया। आज उसी वणिक् से लक्ष्मीदेवी सहायता की याचना करेंगी।

ब्राह्मण-पत्नी विचारने लगीं, देव प्रतिम श्रीगुरु की सेवा में देहात्म बुद्धि क्यों बाधक बने ? अनित्य देहपिंड के शुभाशुभ की बात ही क्यों विचारूँ ? द्राविड़ पुराण में कलिध्न नामक विख्यात भक्त की कथा उन्होंने पढ़ी थी। उन्होंने इष्टसेवा के लिए चौर्यवृत्ति तक का अवलम्बन किया। भगवान ने उनकी सेवानिष्ठा से प्रसन्न हो दर्शन दिया एवं कहा,—"मन्निमित्तं कृतं पापमपि पुण्याय कल्पते। मामनादृत्य तु कृतं पुण्यं पापाय कल्पते।"—हे भक्त, मेरे निमित्त कृत जो पाप है, वह तुम्हारे लिए पुण्य है और मेरी अवहेलना कर जो पुण्य तुम अर्जित करोगे वह प्रकृत पक्ष में पाप है।

भक्तिमती लक्ष्मीदेवी ने अन्तिम निश्चय कर लिया। वे उस वणिक् से जाकर बोली कि मुझे अभी तुरत अतिथियों की सेवा के लिए उपयोगी सामग्री की आवश्यकता है ? तुम उसकी व्यवस्था कर दो। रात बीतने पर मैं स्वयं आकर अपने को तुम्हारे हाथों में सौंप दूँगी।

अविलम्ब वरदाचार्य के घर पर अतिथि-सेवा योग्य सामग्रियों

का अम्बार लग गया। ब्राह्मण-पत्नी ने परमनिष्ठा से भोगान्न तैयार कर नारायण को निवेदित किया। रामानुज और उनके शिष्यों को परि-तोष के साथ भोजन कराया गया। गृहस्वामी वरदाचार्य तो घर लौटकर विस्मय से हतवाक् हो रहे। इस कंगाल के घर आकर सशिष्य गुरुदेव अच्छी तरह अभ्यर्थित ही नहीं हुए, बल्कि उपादेय भोजनादि से भी सबको संतुष्ट किया गया।

घर में जाकर वरदाचार्य ने एकांत में ब्राह्मणी से जिज्ञासा की, "क्यों जी, बात क्या है? ये सब मूल्यवान वस्तुएं कहाँ से आईं? लक्ष्मी-देवी ने शान्त, धीर कण्ठ से स्वामी से समस्त वार्ता खोलकर कह दी। आज ही रात्रि में पापाशय वणिक् की अभिलाषा पूर्ण करने को वह प्रतिज्ञाबद्ध है, यह भी उन्होंने स्वामी को बता दिया।

पत्नी की सारी बात सुनकर महाभक्त वरदाचार्य के आनन्द की मानों सीमा नहीं रहा। वह सोल्लास कहने लगे, "तुम्हारे समान सह-धर्मिणी पाकर आज मैं धन्य हूँ। देहात्म-बुद्धि छोड़ तुम भगवत् स्वरूप सतगुरु सेवा करने में सक्षम हुई और चरम आत्मोत्सर्ग करने को प्रस्तुत हुई हो। तुम्हारे समान स्त्री पाकर मैं सत्य ही धन्य हुआ हूँ।"

कुछ रात बीतने पर ब्राह्मण-पत्नी बणिक के निवास-स्थान पर उपस्थित हुई। स्वामी बाहर खड़े रहे। पत्नी ने श्रीविष्णु के प्रसादान्न थाली हाथों में ले वणिक् के घर प्रवेश किया। कामुक सठ के हाथ में प्रसाद की थाली रख दी। प्रसाद ग्रहण करते ही न जाने कैसे क्या हुआ कि उसकी समस्त पाप-प्रवृत्ति मुहूर्त्त-भर में अन्तर्हित हो गई। उसी समय लक्ष्मी देवी के चरणों पर गिरकर, रोते-रोते उसने कहा, 'माँ, तुम मुझे क्षमा करो। कामार्त्त हो सत्य ही मैं पशु बन गया था। गुरुदेव की सेवा के लिए तुम्हारे इस अतुलनीय आत्मत्याग ने आज मेरी आँखें खोल दी। आज से तुम मेरी माँ तुल्य हो। अब मेरी यही प्रार्थना है कि तुम्हारे जिस गुरुदेव के प्रभाव से मेरे समान महापातकी के अन्तर में अनुशोचना जागृत हुई, तुम मुझे उनके ही

पद-प्रान्त में पहुँचा दो जिससे कि मेरा उद्धार हो।" प्रसादान्नकी इस अलौकिक शक्ति का दर्शन कर वरदाचार्य आनन्द से उछल पड़े। प्रेम से भरकर उन्होंने श्रेष्ठी का आलिंगन किया।

अनुताप-दग्ध इस वणिक् ने श्री रामानुज की शरण में आकर शिष्यत्व ग्रहण किया। उसने गुरुदेव को प्रचुर धनराशि अर्पित की। वह समस्त धन वरदाचार्य को दानकर रामानुज उनका दारिद्रय-दुःख मिटाने के अभिलाषी थे। किन्तु वरदाचार्य ने कर जोड़ कर कहा, "प्रभु, आपके आशीर्वाद से हमें किसी अभाव का बोध ही नहीं है। भिक्षान्न से दिन-यापन तो ठीक ही चल रहा है। अर्थ-प्राप्ति से चित्त का चाञ्चल्य ही बढ़ता है। इस दास को आप उसे ग्रहण करने के लिए प्रलुब्ध न करें।" रामानुज ने उस दिन पूर्ण अन्तःकरण से ब्राह्मण-दम्पति को आशीर्वाद दिया और सबको बार-बार उनकी भक्ति की कहानी सुनाते रहे।

इधर धनी शिष्य यज्ञेश, गुरु रामानुज के लीलाभिनय की कथा सुन कंगाल वरदाचार्य की कुटी पर उपस्थित हुए। हाथ जोड़ गुरुदेव से उन्होंने कहा, "प्रभु इस अधम के घर आतिथ्य ग्रहण करेंगे, यह संवाद आपने स्वयं ही दिया था। किन्तु मेरे किस अपराध से आप मेरे प्रति इस तरह विमुख हो गये ? क्यों मेरे घर में पद-धूलि नहीं दी और सेवा के अधिकार से मुझे वंचित किया ?

आचार्य बोले, "वत्स, मेरे दो शिष्य तुम्हारे निकट मेरे आगमन की सूचना देने गये थे। किन्तु तुमने उनका आदर-सत्कार कुछ भी नहीं किया। श्रान्त अतिथियों के विश्राम तथा भोजन-पान की बात भूल तुम उस समय मेरे लिए ही वृथा व्यस्त हो गये। इन तरुण वैष्णव-द्वय के प्रति क्या तुम्हारा वैष्णव अपराध नहीं हुआ ? केवल इसीलिए उस दिन, तुम्हारे गृह में सेवा-ग्रहण करने की इच्छा न रही। और दोनों, इस कपर्दकहीन ब्राह्मण ने आज हमें कितने परितोषपूर्वक भिक्षा ग्रहण कराई है। निरभिमान होने से ही तो उसके लिए आज इस तरह आत्मीय होना संभव हुआ। धन-गर्व

छोड़कर जीवन में वैष्णव-सेवा का व्रत ही ग्रहण करो, इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।

श्री शैलतीर्थ दर्शन करने जाकर एक बार एक वर्ष तक रामानुज परम भागवत शैलपूर्ण के घर रहे। शैलपूर्ण उनके मामा थे। इसके अतिरिक्त, इनका अत्यन्त प्रिय मौसेरा भाई और सहपाठी गोविन्द उन्हीं का शिष्यत्व ग्रहण कर परमभक्त वैष्णव साधक हो गया था। बाल्यकाल में गोविन्द के साथ रामानुज की बड़ी मित्रता थी। आचार्य यादव प्रकाश के टोले में दोनों एक साथ अध्ययन करते थे। इसके अलावा, गोविन्द ने एक बार इनकी प्राणरक्षा भी की थी। उसी गोविंद के जीवन में वैष्णवीय दास्यभाव को इस अपरूप से प्रस्फुटित देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए!

एक दिन रामानुज ने लक्ष्य किया, गोविन्द अपने गुरु श्रीशैलपूर्ण की शय्या अपने हाथों से सजाकर उसके ऊपर स्वयं एक बार कुछ क्षण शयन करते हैं। गुरुसेवा करते हुए यह कैसा अन्याय आचरण!

शैलपूर्ण के कानों में यथा समय संवाद उपस्थित हुआ। उन्होंने गोविन्द को बुलाकर कहा, 'वत्स' क्या तुम नहीं जानते कि गुरुकी शय्या पर शयन करना शिष्य के पक्ष में महापाप है। सब जान और सुनकर भी तुम क्यों ऐसा अपराध करते हो? गोविन्द ने धीर अचंचल कर कण्ठ से उत्तर दिया, "प्रभु' महापाप की संभावना जानकर भी यह सब मुझे करना पड़ता है। शय्या-रचना निर्दोष है या नहीं—आपके देवदुर्लभ शरीर के उपयुक्त वह सुखकर है कि नहीं, इसे जानने के लिए ही उस पर सोकर मुझे परीक्षा करनी होती है। आपके सामान्यतम सुख और सुविधा के लिए मैं महापाप का भार ग्रहण करने को सर्वदा ही प्रस्तुत हूँ। अनन्त नरकवास से भी मैं विमुख नहीं।" अपने सखा भक्तप्रवर गोविन्द के जीवन में सेवानिष्ठा का यह अपूर्व आदर्श रूपायित देख, उस दिन रामानुज आनन्द-विभोर हो उठे।

और एक दिन। रामानुज बैठे है। हठात् देखते हैं, गोविन्द ने एक विषधर सर्प के विवर में हाथ डाल कर उसे बाहर खींच लिया है। सर्प इसके बाद धरती पर पड़कर यंत्रणा से छटपट करने लगा। विस्मित रामानुज ने गोविन्द को पुकार कर कहा—"भाई, तुम्हारा यह क्या अद्‌भुत आचरण ? सांप के मुँह में हाथ देना निरा पागलपन है। किसी भी क्षण तुम्हारा प्राणनाश हो जा सकता था। साथ ही, तुम्हारी अंगुलियों से आहत होकर सांप भी मृतक तुल्य हो पड़ा हुआ है।"

गोविन्द ने सविनय बताया कि ऐसा करने के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं था। सांप के गले में कांटा गड़ गया था। अंगुली भीतर देकर उसे बाहर करना ही उसकी जीवन-रक्षा का एकमात्र उपाय था। कंटक-मुक्त होने पर भी क्लांति से इस समय यह सर्प थका हुआ पड़ा है। जीव-सेवा में गोविन्द की ऐसी निष्ठा देख आचार्य रामानुज के आनन्द की सीमा न रही। श्रीरंगम् लौटते समय वह परम भागवत गोविन्द को संग ले गये।

गोविन्द ने अपना समग्र जीवन ही श्रीरामानुज की सेवा में निवेदित कर दिया था। इस विषय में उनकी निष्ठा और आन्तरिकता को देखकर आचार्य के शिष्यगण मुग्ध हो जाते। एक बार वे सभी गोविन्द के महान गुणों की बहुत प्रशंसा कर रहे थे। गोविन्द ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया, हाँ, आप लोग जो बोलते हैं, वह पूर्णतः सत्य है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं। मेरे अन्तर्निहित ये सब गुण सत्य ही प्रशस्ति पाने योग्य है।"

अन्यान्य शिष्यगण चौंक उठे। उन्होंने विचारा, सेवा कार्य में पटु होने से क्या हुआ ? स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है कि गोविन्द का गर्व कुछ कम नहीं। उन सब ने श्रीरामानुज के कानों में सारी बात पहुँचा दी। गोविन्द की पुकार हुई। आचार्य के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा, "प्रभु, यह बात तो अक्षर-अक्षर सत्य है। आपको

अपार करुणा से ही मेरी गुणावली स्फुटित होती है। मैं तो स्वभावतः अत्यन्त हीनमति हूँ, इसलिए जो कुछ सत्प्रवृत्ति मुझ में देखी जाय वह पूर्णतः आपकी ही है। इसी से तो मैं आजकल प्रकाश्य, स्पष्ट और अकुंठ भाव से स्वयं ही अपने इन सब सद्गुण और सदाचार की प्रशंसा कर सकता हूँ। यह प्रशंसा प्रकृत पक्ष में आपकी ही स्तुति है!' भक्तगण उनका कथन सुन हतवाक् हो रहे।

शुद्धाभक्ति और दास्यभाव की जीवंत मूर्त्ति थे यह गोविन्द, कुछ दिन बाद रामानुज ने स्वयं ही उन्हें संन्यास-धर्म में दीक्षित किया। असामान्य मर्यादा देकर भक्त का नामकरण किया—"मन्नाथ।" अब तक इस नाम से एकमात्र रामानुज ही अभिहित होते थे। अतः इस नामकरण से बहुत गड़बड़ी हो गई। दास्यभाव से भावित परम वैष्णव गोविन्द अपने प्रभु के इस नाम का कैसे व्यवहार करते? उन्होंने इसे एकदम अस्वीकार कर दिया। श्री रामानुज को तब एक कौशल का अवलम्बन करना पड़ा। मन्नाथ शब्द का तामिल प्रतिशब्द है 'एम-पेरुमानार'। इसके प्रथम अंश 'एम' एवं शेषांश 'आर'—इन दोनों को एकत्र करने से होता है 'एमार'। श्री गुरु ने अपने प्रिय शिष्य गोविन्द को यही नाम दिया। आगे चलकर श्रीरामानुज ने पुरीधाम में जो सुप्रसिद्ध मठ स्थापित किया उसको उन्होंने गोविन्द के नाम पर ही 'एमारमठ' नाम से अभिहित किया।

श्रीरामानुज श्रीरंगम् मठ में अपने प्रधान शिष्यों द्वारा परिवृत हो निवास करते थे। दाशरथि, कुरेश, सुन्दरबाहु, शोट्टिनंबि, सौम्य नारायण, यज्ञमूर्त्ति, गोविन्द प्रभृति इनमें प्रमुख थे। ये सुपण्डित और परम त्यागी भक्तगण आचार्यदेव के दैवी निर्दिष्ट कर्म के धारक और वाहक थे। दाक्षिणात्य के वैष्णव समाज में ये लोग उस समय "पिंडाधिपति" सम्बोधन से सम्मानित होते थे। विष्णु-अर्चना और भक्ति-तत्त्व के प्रचार में इनके उद्यम और उत्साह का मानो अन्त नहीं था।

इन प्रतिभाधर शिष्यों को रामानुज ने द्रविड़ प्रबन्धमाला में व्युत्पन्न कर दिया था। इनके माध्यम से ही ये शास्त्र-निचय समग्र दक्षिण भारत में द्रविड़ वेद-रूप से परिचित हुए। यामुनाचार्य की चिता-शय्या के पार्श्व में खड़े होकर जो अनेक संकल्प वाणियाँ आचार्य ने उच्चारित की थीं, इस द्रविड़ वेद का प्रचार भी उनमें एक था। उनका एक और संकल्प था—श्री भाष्य का प्रणयन। इस बार आचार्य इसके लिए प्रयत्नशील हुए।

इस महाभाष्य की रचना में बोधायन-वृत्ति की सहायता आवश्यक थी। किन्तु यह ग्रन्थ उन दिनों नितान्त दुष्प्राप्य था। रामानुज को खबर मिली, कश्मीर के शारदापीठ में उसकी एक प्रति संरक्षित है। इसलिए प्रधान शिष्य कुरेश को साथ लेकर वह कश्मीर पहुँचे। किन्तु समस्या यह थी कि काश्मीरी पण्डितगण उन्हें इस महाग्रन्थ का व्यवहार करने देने को राजी नहीं थे। उन्हें टालने के लिए कहा गया कि मन्दिर के ग्रन्थागार में यह नहीं है—उसे कीड़े खा गये। सुदूर श्रीरंगम् से आचार्य इतनी दूर इसके लिए ही आये थे। इस दुःसंवाद से उनके मनस्ताप की सीमा न रही।

किन्तु इस घटना को लेकर उस रात एक अलौकिक काण्ड हो गया। क्लान्त, विषादखिन्न रामानुज शय्या पर सोये हुए थे। सहसा वह कक्ष एक स्वर्गीय आलोक-प्रभा से भर उठा। स्वयं देवी शारदा उनके समक्ष आविर्भूता हुईं—हाथ में थी आचार्य बोधायन के ग्रन्थ की एक प्रति। श्रीरामानुज को वह ग्रन्थ अर्पित कर देवी ने कहा, "वत्स, यह ग्रन्थ यहाँ वर्तमान रहने पर भी तुम्हें ये देना नहीं चाहते। तुम्हारे संकल्पित कार्य के लिए यह ग्रंथ मैं तुम्हें दे रही हूँ। अविलम्ब स्थान-त्याग नहीं करने से यह तुम्हारे अधिकार में नहीं रहेगा।" शिष्य कुरेश के साथ रामानुज भोर होते ही घर को लौट चले।

कई दिन बीत चुके। इसी बीच हठात् शारदापीठ में इस ग्रन्थ की खोज शुरू हो गई। सभी लोगों ने सन्देह किया कि निश्चय ही

दाक्षिणात्य पण्डित द्वय ने इस ग्रन्थ का अपहरण किया है। कई कश्मीरियों ने तत्क्षण घोड़ा दौड़ाकर रामानुज और उनके शिष्य का पीछा किया। रास्ते में आचार्य के साथ उनका साक्षात् हुआ और बल-पूर्वक वे उस ग्रन्थ को उनसे छीनकर ले आये।

गुरुदेव को दुश्चिन्ता-ग्रस्त देख शिष्य कुरेश बोले, "प्रभु, आप विपन्न न हों, पिछले कई दिनों से मुझे बोधायन-वृत्ति पढ़ने का सुयोग मिलता रहा है। पथश्रम से कातर हो जब आप रात में गम्भीर निद्रा में निमग्न हो जाते, मैं उसी अवसर पर रोज ही निशीथ में इस महा-ग्रन्थ का पाठ किया करता था। परिणामस्वरूप समग्र ग्रन्थ ही मुझे कंठाग्र हो गया है। आप चिन्तित न हों, मैं अल्प दिनों के भीतर ही इस ग्रन्थ को अपनी स्मृति से लिख डालूँगा।"

दुश्चिन्ता के काले बादल छँट गये। रामानुज अपने प्रतिभाधर शिष्य को बार-बार आशीर्वाद देने लगे। इस तरह कुरेश की असा-मान्य मेधा के फलस्वरूप बोधायन-वृत्ति का पुनरुद्धार हुआ एवं श्रीरंगम् मठ लौटकर श्री रामानुज ने अपने महाभाष्य की रचना सत्वर सम्पूर्ण की। इसके बाद आचार्य प्रवर ने जिन कई अन्य अमूल्य ग्रंथों का प्रणयन किया उनमें थे वेदान्त-दीपन, वेदान्तसार, वेदांत-संग्रह और गीताभाष्यम्। आचार्य रामानुज के दार्शनिक विचार इस समय से विशिष्टा-द्वैतवाद के रूप से भारत में सर्वत्र परिचित हो गया।

श्रीरंगम् में उस दिन गरुड़-महोत्सव था। गरुडस्कंध समासीन श्रीरंगनाथ वाद्य-यंत्र के साथ सज-धजकर शोभायात्रा के लिए बाहर निकले। भीड़ के कारण रास्ते में चलना दुष्कर था। आचार्य रामानुज शिष्यगण के साथ मन्दिर दर्शन कर इसी रास्ते से वापस हो रहे थे। सहसा दो तरुण-तरुणी पर उनकी दृष्टि पड़ी। तरुणी थी परम लावण्यवती। वह गरुड़ यात्रा-दर्शन के लिए राजपथ पर उत्सुक हो खड़ी थी। उसके पार्श्व में था एक बलिष्ठ, सुन्दर-सुघड़ युवा। उसके एक हाथ में छाता है और दूसरे में पंखा ले तरुणी को

व्यजन कर रहा है। किन्तु एक क्षण के लिए भी वह अपनी दोनों आँखें इस रूपसी प्रणयिनी के मुख पर से हटा नहीं रहा है। निर्निमेष देख रहा है।

जनता में से अनेक उनका प्रणयातिरेक देख रहे हैं। कोई-कोई नाना तरह के उपहास भी कर रहे हैं। किन्तु युवक का किसी तरफ ध्यान नहीं है। रामानुज ने उसी समय एक शिष्य के द्वारा इस युवक को निकट बुलाया। कहा, "वत्स, तुमने इस युवती के भीतर ऐसी क्या अमृतोपम दुर्लभ वस्तु पाई है, जिसके चलते लज्जा और भय छोड़ने मे भी तुम्हें द्विधा नहीं होती। तुम क्यों ऐसे उपहासास्पद हो रहे हो? तरुण ने नितान्त सहज–सरल भाव से उत्तर दिया, "प्रभु, पृथ्वी पर जो कुछ सुन्दर और आनन्दमय वस्तुएँ है, मेरे निकट सबकी अपेक्षा से अधिक आकर्षण के केन्द्र हैं मेरी प्रेमिका के कमल के समान दोनों नेत्र। मैं विश्व का सब कुछ भूलकर केवल इसके दोनों नेत्रों की ओर देखते रहना चाहता हूँ।"

युवक ने फिर बताया कि वह रमणी उसकी विवाहिता पत्नी नहीं थी। युवती का नाम हेमाम्बा था और उनका नाम धनुर्दास। निकट ही निचुल नगर में उसका निवास था और एक निपुण मल्लवीर के रूप में उसकी ख्याति थी।

आचार्य रामानुज उसकी ओर देख प्रसन्नता की हँसी ही हँस रहे थे। इस बार धीर कण्ठ से उन्होंने कहा, "वत्स धनुर्दास, मैं यदि तुम्हारी प्रेमिका के नेत्रों की अपेक्षा सुन्दरतर नयन-युगल तुम्हें दिखा सकूँ तो क्या तुम उन्हें इसी भाव से प्रेम कर सकोगे? धनुर्दास विश्वास-भरे कण्ठ से बोल उठा, "प्रभु, मैं जानता हूँ, इसकी अपेक्षा सुन्दरतर नेत्र आप मुझे नहीं दिखा सकेंगे। यह कभी सम्भव नहीं है। यदि आप दिखा सकें तो मैं वचन देता हूँ कि इस रमणी के बदले उसके निकट ही मैं अपने को बेच डालूँगा।" निश्चय हुआ, सायंकाल धनुर्दास श्रीरामानुज के निकट जायगा।

युवक ठीक समय आकर उपस्थित हुआ। यतिराज श्रीरामानुज

उसे संग लेकर श्रीरंगनाथ के मन्दिर में प्रधान विग्रह के सम्मुख गये। उस समय संध्या-आरती चल रही थी। चन्दन, धूप और गुग्गुल के सुवास से मन्दिर-प्रकोष्ठ भरपूर था। कर्पूर के आलोक से उद्भासित श्रीविग्रह से आज मानो अलौकिक माधुरी प्रवाहित हो रही थी। आयत पद्म-द्वय नेत्रों में यह कैसा अपूर्व सौन्दर्य और अपार्थिव ज्योति? उस ओर देखते-देखते धनुर्दास विह्वल, आत्म-विस्मृत हो गया। उसके दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रु झरने लगे।

श्रीविग्रह के लोचन-युगल से मानो अमृत-क्षरण हो रहा है। ऐसा अमोघ आकर्षण तो धनुर्दास की स्मृति-अनुभूति में कभी जागृत नहीं हुआ। यह क्या श्रीरंगनाथ की अहेतुकी कृपा है, अथवा यतिराज रामानुज की ही एक अलौकिक विभूति लीला? कारण जो भी हो, आज तरुण धनुर्दास के जीवन का परम लग्न समुपस्थित था।

धनुर्दास ने उस दिन केवल स्वयं ही श्रीरामानुज का शिष्यत्व ग्रहण नहीं किया, प्रेमिका हेमाम्बा को भी वह आचार्य के चरणाश्रय में खींच लाया। मठ के सन्निकट एक छोटा-सा कुटीर बनाकर प्रेमी-प्रेमिका ने एकनिष्ठ हो साधन-भजन शुरू कर दिया। गुरुभक्ति, सरलता और निरभिमानता से धनुर्दास और तरुणी शीघ्र ही रामानुज के विशिष्ट कृपापात्र हो गये। इनके प्रति आचार्य की इस विशेष कृपा को कई शिष्य अच्छी दृष्टि से नहीं देख पाते थे। रामानुज इसे जानते थे। इसी से एक बार इस प्रसंग को ले उन्होंने एक चमत्कार का लीलाभिनय किया।

मठ के भक्तगण एक रात गम्भीर निद्रा में मग्न थे। रामानुज ने उन सब के वस्त्राञ्चल से छोटा-सा अंश फाड़ लिया। प्रातःकाल उठने पर साधु ब्राह्मणों के बीच वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। वे लोग इसके लिए एक दूसरे पर दोषारोपण करने लगे, अन्त में रामानुज के हस्तक्षेप से वे लोग शान्त हुए।

कई दिनों के बाद गम्भीर निशीथ में आचार्य रामानुज ने अनुयोग-

कारी शिष्यों को बुलाया। उन्होंने कहा कि वे वार्तालाप के बहाने धनुर्दास को अपने निकट बैठाकर रखेंगे। उसी अवसर पर वे लोग चुपचाप धनुर्दास की प्रेमिका हेमाम्बा के अंग से उसके आभूषणों को अविलम्ब खोलकर ले आवें। इसके फलस्वरूप धनुर्दास और उसकी प्रेमिका के बीच कोई मनोविकार पैदा होता है अथवा नहीं, उन्होंने उनलोगों से यही लक्ष्य करने को कहा।

ब्राह्मण भक्तगण हेमाम्बा के अंग से आभूषण उतारने लगे। इस बीच उसकी निद्रा भंग हो गई। अलंकार उतारने में रत साधुगण पीछे लज्जित न हों इसलिए नीरव-निश्चल भाव से वह सोई रही। एक पार्श्व के गहनों का उतारना जब शेष हुआ तो वह सोचने लगी कि अपहरणकारी व्यक्तियों के कार्य में कुछ सहायता करने की जरूरत है। इसीलिए उसने शय्या पर पार्श्व परिवर्तन किया। ताकि शरीर के दूसरे भाग के अलंकारों को खोलने में सुविधा हो। ब्राह्मणगण शंकित हो विचारने लगे, इस बार लगता है कि हेमाम्बा नींद से हठात् जगकर उठ बैठेगी। द्रुतपद से वे सभी उसी समय उस स्थान से पलायन कर गये।

धनुर्दास इस बीच घर लौट आया। प्रणयिनी के साथ उसकी क्या बातचीत होती है, यह सुनने के लिए रामानुज के शिष्यगण छिपे बैठे थे। हेमाम्बा ने धनुर्दास को सारी घटना बतलायी। अंत में कहा, "देखो, करवट बदलकर मैंने अपने दूसरे अंगों से भी आभूषण उतारना आसान कर दिया पर वे व्यर्थ ही भयभीत होकर भाग गये। यह मेरा कैसा दुर्भाग्य !"

धनुर्दास तिरस्कार कर कहने लगा, "छिः-छिः, तुमने करवट क्यों बदली ? तुमने आज घोर अन्याय किया है। तुम्हारा आत्माभिमान क्या अभी भी नही जाता ? 'मेरा अंग, मेरा आभरण, मैं दान करूंगी'—यह सब दुर्बुद्धि अभी भी तुमसे दूर नहीं हुई। काञ्चन-माया से निष्कृति पाने का महासुयोग तुम्हें आज मिला था। किन्तु अपने दोष से तुमने उसे खो दिया। अलंकार अपहरण के समय तुम्हारे लिए उचित था कि

श्रीभगवान के चरणों में आत्मसमर्पण कर सोयी रहती। ऐसा करने से अपहारक ब्राह्मणगण तुम्हें निद्रामग्न जान कितने सहजभाव से इन गहनों को ले जा पाते। तुम्हारी देहात्मा-बुद्धि अभी भी नहीं गई, इसी से तो यह आफत आई।"

हेमाम्बा अपनी भूल को तत्क्षण ही समझ गई। रोते-रोते वह कहने लगी, "प्रियतम ! तुमने ठीक ही कहा है। भगवान ऐसी दया करें जिससे मेरे अन्तर में फिर कभी अहंभाव प्रवेश न करे।"

अन्तराल से यह कथोपथन सुन रामानुज के विस्मय की सीमा न रही। लौट आने पर आचार्य देव ने उनके वस्त्राञ्चल छिन्न करने का गुप्त तथ्य भी साफ कर दिया। इसके बाद उन्होंने कहा, "शास्त्रज्ञ पण्डित और साधक होकर भी उस दिन तुमलोग वस्त्राञ्चल छिन्न होने से बन्धु-कलह में प्रवृत्त हुए थे। उधर धनुर्दास और हेमाम्बा अपना सर्वस्व न खो सकने के कारण मनस्ताप में जल रहे हैं। वैराग्यवान साधक का सच्चा आचरण किसका है, इसे विचार कर देखो। शिष्यों की चित्त-शुद्धिजन्य आचार्य रामानुज की दृष्टि इसी तरह सतत सजग और सतर्क रहती। और सच्चे भक्त के मूल्य-निरूपण में उनकी अपूर्व विचार पद्धति ऐसी ही थी।

चोल राज्य के अधीश्वर कृमिकंठ शैव मतावलम्बी थे। वे वैष्णवों के घोर विरोधी थे। उन्होंने अपने राज्य में बलपूर्वक शैवमत का प्रचार करना चाहा। वे काञ्ची में बैठ स्तावक सभासद और शैव आचार्यों के साथ इसी की मंत्रणा करते तथा उसे सफल बनाने में लगे रहते। उन्हें भला विष्णु-उपासक रामानुज की विराट् प्रतिष्ठा कैसे सह्य होती ? वे सोचने लगे कि जबतक इन वैष्णवाचार्य को पराभूत नहीं किया जायगा तबतक शैवमत सहज ही प्राधान्य-अर्जन नहीं कर पायगा।

राजधानी काञ्ची से चोलराज ने रामानुज को एक बार बुलावा दिया। श्रीरंगम् मठ के भक्तगण यह सुनकर आतंक से चञ्चल हो उठे। आचार्य की हत्या करना ही उस विष्णुद्वेषी राजा का उद्देश्य

है, यह समझने में उन्हें देर न लगी। भक्त-प्रधान कुरेश ने व्याकुल हो कहा, "गुरुदेव, किसी तरह भी हमलोग आपको इस निश्चित मृत्यु के मुख में नहीं धकेल सकते। आपके बने रहने से ही धर्म और समाज की रक्षा होगी। साथ ही, आपके सिवा संसारताप-दग्ध-जीवों का परमाश्रय दूसरा कौन है ? उनके लिए ही आपको जीवित रहना होगा। इस अत्याचारी राजा के सम्मुख आपके बदले में ही उपस्थित होऊँगा। आपका काषाय-वस्त्र धारण कर श्रीरामानुज के नाम से मैं वहाँ अपना परिचय दूँगा। ऐसी अनुमति की भिक्षा आज आपके निकट मैं माँगता हूँ। मेरी एकांत प्रार्थना है कि आप इसी समय शिष्यगण सहित श्रीरंगम् मठ से दूर वनाञ्चल में चले जायें। सब के आग्रहातिशय से रामानुज को उस दिन यह प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा।

परिकरगण सह आचार्य रामानुज के अरण्य में आत्मगोपन करने के संग-संग कुरेश राजसभा में उपस्थित हुए। किन्तु, चोलराज उन्हें रामानुज ही मान बैठे। नृशंस राजा ने सरोष कहा, "इस दुर्वृत्त के उपयुक्त दण्ड मृत्यु ही है। किन्तु, एक बार इसने मेरी बहन को दुरारोग्य व्याधि के कवल से बचाया था। अतः इसका प्राण-संहार न कर मैं इसे चिर-अंधत्व का दण्ड देता हूँ। इसकी दोनों आँखों को तुमलोग अभी शलाका से बिद्ध कर नष्ट कर दो।"

कुरेश के आनन्द की सीमा नहीं थी। अपनी आँखों के बदले गुरुदेव की जीवन-रक्षा करने में वह समर्थ हुए। इसके अलावे इन्द्रिय सुख-भोग की स्पृहा भी उनके अन्तर से चिरकाल के लिए विलुप्त हो गई है। दण्डादेश पालित होने पर उन्होंने राजा और राज-सभासदों को पुकार कर कहा, "हे महानुभाव ! आप लोग ही मेरे सच्चे बन्धु हैं। ये नयन इस जीव देह का परमपुरुष के सम्मुख नहीं ले जाते, उल्टे माया प्रपंच की ओर ही सतत खींचते रहते हैं, और वे हैं मनुष्य के परम शत्रु। उन शत्रुओं के हाथ से आप ने मुझे बचाया

है—आज आप सबने तो सच्चे बन्धु का ही काम किया है। श्रीरंगनाथ आप सब का मंगल करें।" अन्धे कुरेश श्रीरंगम् लौट गये। किंतु इसके अल्प काल बाद ही सुना गया कि चोलराज ने उत्कट रोग-यंत्रणा भोग-कर प्राण-त्याग किया।

किंतु उत्तर जीवन में गुरु की कृपा से परमत्यागी कुरेश का अन्धत्व बड़े अलौकिक ढंग से मिट गया। आचार्य रामानुज उस समय यादवाद्रि नामक स्थान पर अवस्थान कर रहे थे। कुरेश गुरुदेव की चरण-वंदना करने वहां गये। प्रियतम शिष्य को छाती से लगाकर रामानुज पुलकाश्रु वर्षण करने लगे। इसके बाद उन्हें निर्देश दिया, "वत्स, तुम श्रीवरदराज के निकट अपने दोनों नयनों को एक बार भिक्षा मांगो, शीघ्र ही तुम्हारी दृष्टि लौट आयगी।"

गुरु के निर्देश से शीघ्र ही कुरेश कांची जाकर श्रीवरदराज के मंदिर में उपस्थित हुए। परन्तु उस दिन श्रीविग्रह के सम्मुख उन्होंने जो प्रार्थना की वह अत्यंत विस्मयकर थी। राजादेश से जिस व्यक्ति ने उनके चक्षु विनष्ट किये थे उसका कल्याण उन्होंने भिक्षा में मांगा। भक्त के सम्मुख आविर्भूत हो श्रीवरदराज ने सहास्य बदन से कहा, 'तथास्तु'।

रामानुज के निकट यह संवाद पहुँचने पर उन्होंने कुरेश को संवाद भेजा, "वत्स, तुम्हारी उदार शुभ बुद्धि की कथा मैंने सुनी है। परार्थ यह प्रार्थना कर तुमने स्वयं आनंद लाभ किया है, इसमें संदेह नहीं। किंतु इसमें अपना स्वार्थ देखने का भाव ही वर्तमान रह गया है। इस बार तुम अपने बदले क्या मुझे आनंद देने का कार्य करने में तत्पर नहीं होंगे? तुम्हारी आँखों की दृष्टि लौट आने पर तो मुझे ही परमानंद प्राप्त होगा। क्या तुम यह नहीं जानते कि तुम, तुम्हारा शरीर और मन—यह समस्त मेरा है, तुम्हारा कुछ भी नहीं?"

कुरेश यह संवाद पाकर आनंद से नृत्य कर उठे। कहने लगे, "इस बार मैं कृतार्थ हो गया। यतिराज ने मेरे समान विषयी को अंगीकार कर लिया है। इस बार मैं श्रीवरदराज के निकट नयन-भिक्षा

अवश्य माँगूगा।" और श्रीवरदराज की कृपा से उन्होंने दोनों चक्षु फिर लिए।

इस बार यादवाद्रि (वर्तमान में मेलकोटा) में भ्रमण करने के समय रामानुज ने वल्मीकस्तूप में से यादवाद्रिपति का पुरातन शिलामय विग्रह खोज निकाला। शास्त्रीय प्रथानुसार इसका संस्कार और अभिषेकादि सम्पन्न हुआ एवं पुनराय पूजा प्रवर्त्तित हुई। इन श्रीविग्रह ने एक दिन उन्हें स्वप्न में कहा, "वत्स रामानुज, तुमने मुझे पुनः प्रतिष्ठित कर अच्छा ही किया, किंतु मेरा एक प्रतीक विग्रह है, उसका नाम है श्रीसम्पत्कुमार। वह स्थानच्युत हो दूर चला गया है। इस प्रतीक के द्वारा ही मैं मन्दिर के बाहर शुभ-यात्रा किया करता हूं। मेरे उत्सवादि इसी विग्रह को केन्द्र कर उद्यापित होते हैं। किन्तु, अभी यह द्वितीय विग्रह दिल्ली के मुसलमान सम्राट् के अन्तःपुर में है---इसे तुम सत्वर ले आओ।"

रामानुज कई अंतरंग शिष्यों के साथ दिल्ली आये। इस दिव्य कांति महापुरुष के दर्शन और उनके संग कथोपकथन कर दिल्ली-सम्राट् आनंद-प्रकाश करने लगे। आचार्य उनके पास लुण्ठित शिला-विग्रह मांगने आये हैं, यह सुनकर उन्होंने उसी समय उसे प्रत्यर्पण करने का आदेश दिया। किन्तु श्रीसम्पतकुमार का विग्रह राजकुमारी लछिमा का अत्यंत प्रिय था। सर्वदा नाना वेष-भूषा में सज्जित रखकर वह उसकी सेवा और यत्न करती। सौभाग्य-क्रम से सम्राट्दुहिता उस समय दिल्ली के बाहर थीं। उसकी अनुपस्थिति में ही सम्राट् ने रामानुज को वह विग्रह वापस कर दिया।

कई दिन बाद राजप्रासाद में लौट कर लछिमा ने महा गोलमाल खड़ा कर दिया। यह विग्रह तो उसके लिए प्राण-स्वरूप था। अभी ही उसे लौटा कर लाना होगा। बारंबार अश्रु-सजल चक्षु से वह पिता से प्रार्थना करने लगी। सम्राट् के आदेश से अश्वारोही सैनिकों का एक दल उसी समय रामानुज की खोज में प्रेरित हुआ। सम्राट्-दुहिता लछिमा और उसके प्रणयी कुबेर भी इस दल के साथ चल पड़े।

रामानुज को इस विपद की झलक मिल गई थी। अतः वे अत्यंत द्रुत-वेग से निर्दिष्ट स्थान पर आ गये और उन्होंने यादवाद्रिपति के द्वितीय विग्रह को प्रतिष्ठित कर दिया। इसी बीच लछिमा भी वहाँ उपस्थित हुई। विष्णु-विग्रह के प्रति इस मुसलमान तरुणी का असामान्य प्रेम और भक्ति देख रामानुज मुग्ध हो गये एवं मन्दिर-स्थित श्रीविग्रह के सम्मुख जाने की उसे सानन्द अनुमति दे दी। कहा जाता है कि परम भक्तिमती लछिमा की देह श्रीसम्पत्कुमार विग्रह में उस दिन लीन हो गई। उसका प्रणयी कुबेर भी उस समय स्वप्नादेश पाकर नीलाचल चला गया और एक सार्थक वैष्णव बन गया।

पवित्र तीर्थ श्रीशैल (तिरुपति) पर वास करने के लिए रामानुज ने प्रिय शिष्य अनंताचार्य को एक बार आदेश दिया। एकनिष्ठ भक्त उसी समय गुरु के सान्निध्य का लोभ छोड़कर वहाँ चले गये और सस्त्रीक ईश्वराधना में लीन हो गए। उस अंचल में उस समय बहुत जलाभाव था। स्थानीय जनता की दुर्दशा देख अनन्ताचार्य ने स्थिर किया कि वह अपने हाथ से ही जल की सुविधा के लिए एक सरोवर खोदेंगे। इस कार्य को उन्होंने भगवद् कर्म का ही एक अंग समझा।

अनन्ताचार्य स्वयं कुदाल ले मिट्टी काटते और उनकी स्त्री इसे टोकरी में भर कर माथे पर उठा ले जाती। ऐसा ही करते वर्ष-पर-वर्ष बीतते चले गये। इस बीच एक समय आचार्य की स्त्री आसन्न-प्रसवा हुई। मिट्टी का भार वहन कर चलने में उन्हें बहुत कष्ट होने लगा। किन्तु, उपाय नहीं—भक्त-दम्पति जलाशय खोदने से विरत नहीं हुए। एक दिन ब्राह्मण-पत्नी को क्लान्ति का अनुभव हो रहा था। मिट्टी का भार लिए वह हांफते-हांफते ऊपर आयीं। निकट ही विस्तृत शाखाओं वाला एक विशाल वृक्ष था। उसकी छाया में थोड़ा विश्राम करने बैठते ही वह निद्रा से अभिभूत हो गईं।

इधर अनंताचार्य देखते हैं कि उनकी स्त्री पूर्ववत् मिट्टी ढोने में रत है। परन्तु पहले की वह मन्थर गति नहीं, उसके बदले कर्मतत्परता मानो और बढ़ गई है। आचार्य ने प्रश्न किया, "ब्राह्मणी, यह कैसा विचित्र व्यापार है ? तुम्हारी कर्म-क्षमता क्योंकर इतनी बढ़ गई ?" कर्मरता नारी-मूर्त्ति माथे पर बोझा ले केवल एक रहस्यमय हँसी बिखेरती चली गई किंतु अनंताचार्य को यह सब बहुत अद्‌भुत लगने लगा। झटपट वह सरोवर के तीर पर आये। सविस्मय देखा, उनकी स्त्री क्लांत देह, गंभीर निद्रा में डूबी, वृक्षतल में पड़ी हुई है।

ब्राह्मण ने स्त्री को झकझोर कर जगाया। उसके बाद तीर की तरह छूटते हुए वे मृदुहास्यमयी दूसरी नारी-मूर्त्ति का रास्ता रोक कर खड़े हो गए। सरोष कहा, "मायाविनी, तुम्हारी यह कैसी निष्ठुर लीला ? हम सामान्य किंकर-किंकरी ने तुम्हारे दास्य और सेवाकार्य में अपना आत्मनियोग किया है। उस सौभाग्य का भी तुम हरण करने आई हो। यह हो नहीं सकता प्रभु !" मधुर हँसी हँस कर रहस्यमयी नारी मुहूर्त्त में ही अदृश्य हो गई। साथ-ही-साथ दम्पति के सम्मुख उद्‌भासित हो उठी परम रसोज्ज्वल श्रीविष्णु की मूर्त्ति। दम्पति को स्नेह आशीर्वाद देकर वह मूर्त्ति धीरे धीरे आकाश में विलीन हो गई। रामानुज के शिष्य द्वारा खोदा गया वह जलाशय आज भी तिरुपति में अनंत सरोवर के नाम से प्रसिद्ध है। बहुपुण्यकामी नरनारी इसके पवित्र जल का स्पर्श कर धन्य होते हैं।

एक बार एक मुमुक्षु ब्राह्मण ने श्रीरामानुज की शरण ले कहा, "प्रभु, मैं आपका दास होकर एकांत भाव से चरणसेवा में आत्मनियोग करना चाहता हूँ। मात्र इसी के फल से मेरा साधक जीवन शुद्ध और पवित्र हो जायगा, ऐसा मेरा विश्वास है। आप हैं लोकगुरु और पतित पावन-- मुझ पर आप दया करें।"

रामानुज ने स्मित हास्य से कहा, विप्रवर, दास्य और सेवा द्वारा ही मनुष्य शुद्ध-बुद्ध होने में सक्षम होता है। यह सिद्धांत

आपने ठीक ही समझा है। किंतु मेरे निकट इस दास्य-साधना में आपको जो करना पड़ेगा, उसके लिए क्या आप राजी होंगे? ब्राह्मण ने व्यग्र भाव से कहा, "प्रभु, आप आदेश प्रदान करें, अविलम्ब में उसका पालन करने को प्रस्तुत हूँ।"

आचार्य कहने लगे, "विप्रवर, मैंने आज से संकल्प किया है कि प्रति-दिन विष्णु आराधना से पहले भुवन-पावन ब्राह्मण का पादोदक पान करूँगा। महासौभाग्य-क्रम से आपके समान पवित्र हृदय ब्राह्मण मेरे समक्ष आज उपस्थित हो गये हैं। आपको इसी मठ में अवस्थान कर मुझे रोज पादोदक दान करना होगा। इसमें ही मेरी प्रकृत सेवा है, यह जान लीजिए। आप मेरा किंकर होना चाहते थे, रोज यह पादोदक प्रदान करके ही आप मेरी सेवा करेंगे।

दास्यभाव से विभावित सरल-हृदय ब्राह्मण इस कार्य के व्रती हो गए। भगवद् आराधना के पूर्व देशपूज्य श्रीरामानुज को निज चरण-धौत जल प्रदान करना उनका प्रतिदिन का कर्त्तव्य हो गया। अटूट निष्ठा से वह प्रतिदिन यह कार्य करने लगे। एक दिन रामा-नुज एक विशेष पुण्ययोग से कावेरी तट गये। स्नान-तर्पण और पूजा-अर्चना में समस्त दिन निकल गया। भक्तों के साथ धर्म-प्रसंग के चलते रात्रि का समय भी व्यतीत हो गया। उस दिन गंभीर रात्रि में मठ लौटकर रामानुज ने देखा कि उनका पादोदक-दाता ब्राह्मण नित्य दिन के निर्दिष्ट स्थान पर ही अचञ्चल भाव से निःशब्द दण्डायमान है। किंकर के चरणोदक को प्रभु रामानुज ने भोर से ही ग्रहण नहीं किया, इसी से उसने भी किसी तरह उस स्थान का परित्याग नहीं किया। रामानुज उस ब्राह्मण की सेवा-पराकाष्ठा देख धन्य-धन्य करने लगे। सेवक ब्राह्मण के पादोदक को स्वयं तो बारंबार ग्रहण किया ही, शिष्यों को भी बिना ग्रहण कराये नहीं छोड़ा। शक्तिधर आचार्य निज शिष्यों की साधन सत्ता में दास्य और सेवा का माहात्म्य इसी तरह चिरकाल के लिए अंकित कर देते।

इस प्रकार अपनी लीला का विस्तार करते हुए आचार्य रामानुज १३० वर्षों तक जीवित रहे। परम भागवत यामुनाचार्य की अभिलषित कर्मसूची को उन्होंने इस बीच में पूरा कर दिया। इस असामान्य महापुरुष को केन्द्र बनाकर समस्त दाक्षिणात्य उस काल में एक विराट् विष्णुसेवी साधक गोष्ठी के रूप में परिणत हो गया। त्याग, तितिक्षा, शास्त्र-ज्ञान और वैष्णवीय दैन्य में उसकी तुलना विरल थी। समग्र भारत के कोने-कोने में रामानुज-पंथियों का आदर्श और प्रभाव उनके जीवनकाल में ही फैलने लगा।

प्रियतम शिष्य कुरेश इसी बीच शरीर त्याग कर परमपद में प्रतिष्ठित हो गये और उनका तरुण पराशर मंडली-पति हुआ। श्री रामानुज के ही आशीर्वाद से उन्होंने वैष्णव-गोष्ठी का नेतृत्व ग्रहण किया। रामानुज के अतिशय वृद्ध हो जाने पर अन्तरंग शिष्यगण ने एक दिन एकांत भाव से प्रार्थना कर कहा—"प्रभु, आप तो किसी दिन भी सहज भाव से मर्त्यलीला समाप्त कर चले जा सकते हैं, किन्तु आपकी दिव्य मूर्त्ति के अभाव में हमलोग किस तरह रह सकेंगे? कृपा कर आप इसकी कोई एक व्यवस्था कर दें।" शिष्यों और भक्तगण की प्रार्थना से आचार्यदेव विगलित हुए। उनके आदेशानुसार एक सुनिपुण भास्कर को बुलाकर लाया गया। एक अपरूप शिलामय प्रतिमूर्त्ति होने पर रामानुज ने स्वयं इसमें शक्ति संचार कर दिया। गुरुदेव का प्रतिरूप उनके जीवन काल में ही पाकर भक्तों के आनन्द की सीमा न रही। इस मूर्त्ति-प्रतिष्ठा के कुछ दिनों बाद ही श्रीरामानुज के लीला-नाटक पर यवनिकापात हुआ। १०५९ शकाब्द (११३७ ई०) की शुक्ल दशमी के मध्याह्नकाल में अध्यात्म-गगन का यह महाज्योतिमय नक्षत्र विलीन हो गया।

रामदास काठियाबाबा

उत्तराखण्ड में शीतकाल की आधी रात। दूर पहाड़ की चोटियों पर घने कुहरे का आवरण। चीड़ और देवदारु की विशीर्ण शाखाओं से टपटप हिमकण गिर रहे हैं। ऐसे समय में ही एक तपस्वी तरुण साधु धुनी जलाकर आसन पर बैठा हुआ है। ध्यान-जप में दीर्घकाल बीत चुका है। शरीरक्लांत एवं अवसन्न है, दोनों आंखें नींद से भरी हुई हैं। आसन के ऊपर कब शरीर ढुलक गया, इसका भी उसे होश नहीं।

धुनी के ऊपर रह-रहकर तुषारपात हो रहा है। कुछ ही समय के बाद लकड़ी की आग बुझ गई। हड्डी कँपा देनेवाले इस जाड़े में सोना भी कठिन हो रहा था। शीत से कांपता हुआ युवक साधु उठ बैठा। किन्तु इस विपद् से वह किस प्रकार अपनी रक्षा कर सकता है? गुरुदेव ने रात में ध्यान का आसन छोड़कर कहीं जाना मना कर दिया है, इसलिए समीप के पहाड़ी गृहस्थ के घर से आग माँग कर ले आने का उपाय भी तो नहीं था।

पास में ही गुरुदेव की कुटिया थी जिसमें वे ध्यानमग्न थे। उनके निकट से जलती हुई आग ले आना और भी विपज्जनक था। धधकती लपटों में कूद पड़ने के समान। सामना होते ही उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठेगी। शिष्य के तामसिक आलस्य से धुनी बुझ गई है—इस अपराध के लिए वे भारी दण्ड दिये बिना नहीं रहेंगे। दूसरी ओर, यह भी विपत्ति थी कि यदि शीघ्र आग लाने का उपाय न किया जाय तो माघ मास के इस प्रचण्ड शीत में प्राण बचाना कठिन था।

अन्त में साहस करके युवक साधु कुटिया के सामने जाकर खड़ा हो गया और "गुरुजी, गुरुजी" कहकर पुकारने लगा।

कुछ क्षणों के बाद भीतर से गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा,—"कौन ? बाहर कौन खड़ा है ?"

भयभीत कण्ठ से शिष्य ने निवेदन किया, "महाराज, मेरी धुनी की आग एकाएक बुझ गई है। यदि कृपा करके अपनी धुनी से कुछ अंगार दे दें तो उसे फिर जला लूँगा। सर्दी से ठिठुर रहा हूँ, महाराज।"

भीतर से इस बार क्रोध भरा गर्जन-तर्जन सुनाई पड़ा—यदि आसन पर बैठे हुए ऊँघते नहीं तो धुनी किस प्रकार बुझ जाती ? यदि तामसिक नींद और आराम चाहते हो तो माता-पिता को दुःख देकर घर छोड़ा ही क्यों ? गृहस्थ-जीवन में रहकर ही तो आराम से अच्छी तरह सो सकते थे।

शिष्य रामदास इस समय शीत की अपेक्षा भय से ही अधिक काँप रहा था। विनय के स्वर में वह बार-बार क्षमा-प्रार्थना करने लगा। सानुनय निवेदन किया, एकाएक मुझे नींद आ गई, जिससे यह अपराध हो गया। फिर ऐसा कभी नहीं होगा। आगे से वह अवश्य ही अविराम ध्यान-जप में रत हो जायगा। धुनी की अग्नि-रक्षा में कभी गफलत नहीं करेगा।

किन्तु गुरुदेव का क्रोध शांत नहीं हुआ। कुटी के भीतर से ही कठोर स्वर में वे बोल उठे, "इस जाड़े में एक घंटा खड़ा होकर रहो, मगर आग तुम्हें नहीं मिलेगी।"

गुरु के इस आदेश को टाला नहीं जा सकता था। तरुण साधक हिमालय के उस दारुण शीत में खड़ा-खड़ा काँपने लगा। कुछ क्षणों के बाद सहसा कुटिया का द्वार खुला। गुरुदेव ने अपने आसन पर बैठे हुए ही भीतर से एक जलती लकड़ी बाहर फेंक दी। साथ-ही-साथ कठोर स्वर में सावधान कर दिया, आगे से ऐसी भूल नहीं होनी चाहिये।

शिष्य की धुनी एक बार फिर जल उठी। दीर्घ तपस्या और कृच्छ्रव्रत के बीच इस शिष्य की जीवन-समिधा भी इसी प्रकार आत्मनिवेदन की होमशिखा के रूप में प्रज्वलित होती, गुरुकृपा के दिव्य स्पर्श से ज्योतिर्मय होकर अमृत सत्ता में रूपान्तरित हो जाती। उत्तराखण्ड के उस शीतार्त-निशीथ का यह तरुण साधक ही

राम दास काठिया बाबा

आगे चलकर वृन्दावन के रामदास काठियाबाबा के नाम से प्रख्यात हुआ। और उसके गुरु-महासमर्थ तापस श्री १०८ स्वामी देवदासजी महाराज।

निम्बार्क सम्प्रदाय की श्रीमान् नागाजी-शाखा के एक महान् आचार्य के रूप में उस समय भारतीय साधक समाज में देवदासजी महाराज की बड़ी प्रसिद्धि थी। इस शक्तिधर महापुरुष के अन्तर्लोक का परिचय, उनके महाजीवन का ज्योतिर्मय स्वरूप उनके आश्रित शिष्य रामदास की साधन-सत्ता में उस समय धीरे-धीरे व्यक्त हो रहा था। साधक रामदास को अपने गुरुजी की अपार महिमा का आभास मिल चुका था। यद्यपि गुरुजी अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाये रहते थे, फिर भी योगी गुरु के कठिन वाह्य आवरण को भेद कर उनकी साधनोज्ज्वल दृष्टि को उन्हें पहचानने में देर नहीं लगी।

अध्यात्म मार्ग के दुःसाहसिक अभियान में तरुण साधक रामदास अग्रसर हो रहे थे। और इस अभियान के लिए उन्हें दिनानुदिन मूल्य भी कम नहीं देना पड़ रहा था। कठोर व्रतसाधन और त्याग-तितिक्षा की चरम परीक्षा द्वारा गुरुजी उन्हें साधना की परम परिणति की ओर क्रमशः लिए जा रहे थे।

गुरुदेव ने एक दिन रामदास को बुलाकर कहा, "किसी विशेष कार्य से मुझे बाहर जाना होगा। जब तक मैं लौटूं नहीं तब तक तुम इस पेड़ के नीचे से आसन छोड़ कर और कहीं नहीं जाना।" रामदास धुनी जला कर ध्यान में बैठ गये।

कितने ही दिन बीत गये। गुरुदेव कब लौटेंगे, कोई ठिकाना नहीं। कठोर व्रत की यह कौन सी परीक्षा है जिसमें गुरुदेव शिष्य को छोड़ गये हैं? आठ दिनों तक लगातार इस आसन पर बैठे हुए रामदास अनवरत साधन-भजन करते रहे। इस बीच में न तो

उन्होंने आहार किया और न मल-मूत्र त्यागा। गुरुदेव के प्रति अविचल-निष्ठा ने ही उस दिन उनके जीवन में एक दैवीशक्ति एवं प्रेरणा जाग्रत कर दी थी।

लौट कर गुरुजी ने सब कुछ सुना। प्रसन्न मधुर हास्य से उनका मुखमंडल दीप्त हो उठा। शिष्य रामदास को पास बुलाकर कहने लगे, सद्‌गुरु के चरणों में इस प्रकार का आत्मसमर्पण ही सबसे बड़ी तैयारी है। इससे ही साधक को प्राप्त होता है चिरवाञ्छित धन गुरुकृपा, गृह-त्याग का दुःख एवं पिता-माता के आँसू इस परम धन की प्राप्ति होने से ही सार्थक हो जाते हैं।

महायोगी देवदासजी शिष्य को अपनी असीम योग-विभूति अर्पण करना चाहते थे। इष्ट-प्राप्ति के परम सहायक एवं सद्‌गुरु के रूप में आज रामदास के सम्मुख गुरुदेव विराजमान हैं। परम अधिकारी इस शिष्य के प्रति उनकी दृष्टि सदा सतर्क रहती थी। निरनाद शासन और डाँट-फटकार से शिष्य का क्रोध भड़क उठता है या नहीं, इसकी परीक्षा लेते रहते थे। कठोर वचनों द्वारा विदग्ध कर के उसके अन्तर के अहंकार को भस्मीभूत कर देना चाहते थे। अथक भाव से गुरुसेवा एवं साधन, भजन में लगे रहने पर भी शिष्य रामदास को सदा गुरु के वचन बाण से बिद्ध होना पड़ता था। गुरुदेव उन्हें 'ऐ चमार' 'ऐ भँगी' कहकर पुकारते थे और इस रूप में उनके धैर्य की परीक्षा लेते थे। पेट पालने के लिए ही इस शिष्य ने वैराग्य ग्रहण किया है—बारंबार यह कह-कर उनके क्रोध को उभाड़ना चाहते थे। इस प्रकार शिष्य की परीक्षा-पर-परीक्षा चलने लगी।

रामदास यह जानते थे कि गुरुजी के इस कठोर बाह्य रूप के अन्तर मे एक अपूर्व भगवत्सत्ता का प्रकाश था। वे ऐसी करुणा के माधुर्य, योग-विभूति के ऐश्वर्य एवं महिमा से भरपूर थे। इसीलिए इस विराट् महापुरुष के चरणों में उन्होंने इस प्रकार अपने को अर्पित कर दिया था।

किन्तु एक दिन गुरुदेव के आचरण को रूढ़ता चरम सीमा पर पहुँच गई। प्रचण्ड क्रोध से वे उस दिन अकस्मात् जल उठे और एक साधारण बाँस को लेकर रामदास को निष्ठुर भाव से पीटने लगे। लगातार उनके ऊपर गालियों की वर्षा करते हुए कहने लगे, "मेरे अब तक के जितने बड़े-बड़े चेले थे सब चले गये, और तुम साला भंगी क्यों मेरे पीछे लगा हुआ है? अभी तुम मेरे सामने से दूर हो जाओ। किसी की सेवा की मुझे जरूरत नहीं है।"

गुरु के निर्दय प्रहार से विह्वल होकर रामदास जमीन पर गिर पड़े। इसके बाद गुरुजी के पाँव पकड़ कर गद्गद् कंठ से बार-बार विनती करने लगे, पिता-माता को छोड़कर मैंने गुरु का आश्रय ग्रहण किया है, अब मैं कहाँ जाऊँ? यदि गुरु ही मेरा परित्याग कर देंगे तो मेरे लिए संसार में और ठौर ही कहाँ रह जायगा? इससे अच्छा है कि गुरुदेव मेरा गला घोंट कर मुझे मार डालें। जिन चरणों के प्रति सर्वस्वनिवेदन कर के रामदास यहाँ बैठा हुआ है उनका वह प्राण रहते कदापि परित्याग नहीं कर सकता।

रुद्रदेवता अकस्मात् प्रसन्न हो उठे। झंझा विक्षुब्ध मेघमाला से इस बार प्राणदायिनी वारिधारा वर्षित होने लगी। देवदासजी महाराज का क्षणभर में ही रूपान्तर हो गया। मंद-मंद मुसकाते हुए स्नेहपूर्ण वाणी में कहने लगे—स्नेहभाजन रामदास की अन्तिम परीक्षा आज पूरी हुई। शिष्य इस परीक्षा में आज ससम्मान उत्तीर्ण हुआ। उसमें अहंभाव का लेश भी नहीं रह गया है, बुद्धि निश्चल एवं तत्वबोध से दीप्त हो गई है।

गुरु आज मानो कल्पतरु बन गये हैं। उदार दया-दाक्षिण्य से भरपूर उन्होंने शिष्य को आशीर्वाद दिया, "वत्स, तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा। ऋद्धि-सिद्धि आज से तुम्हारी मुट्ठी में होगी। मैं कहता हूँ, शीघ्र ही तुम्हें अपने इष्टदेव का साक्षात्कार होगा।" नतमस्तक खड़े हुए रामदास के नयनों से उस समय अविरल प्रेमाश्रुधारा बह रही थी। पुलकित शरीर लेकर गुरुदेव के चरणों में वे साष्टाङ्ग लेट गये।

कई दिनों बाद की घटना। गुरु देवदासजी एक शहर के बाहरी भाग में आसन लगाकर बैठे हुए हैं। शिष्य रामदास कुछ हटकर धुनी जलाये हुए बैठे थे। इस समय कई दर्शनार्थी उनके समीप उपस्थित हुए। उनमें एक ने कई रुपये उनके चरणों में भेंट देकर उन्हें प्रणाम किया।

रामदास चकित और व्यस्त होकर कहने लगे—यह क्या किया? मेरे गुरुदेव महासमर्थ तपस्वी देवदासजी महाराज स्वयं यहाँ उपस्थित हैं। भेंट यदि देनी है तो उनके चरणों में ही निवेदन करना उचित है। योगेश्वर गुरुदेव के सामने शिष्य किस प्रकार भेंट स्वीकार करेगा।

किन्तु दर्शनार्थी भक्त ने तो उन्हें ही मन-ही-मन द्रव्य भेंट की है। उसे अब वह वापस नहीं ले सकता। भक्त के चले जाने पर रामदासजी आसन से उठकर गुरुदेव के पास गये। भेंट में जो कई रुपये मिले थे उन्हें गुरुदेव के सामने रखकर करबद्ध कहने लगे, "महाराज, एक भक्त दर्शनार्थी ने ये कई रुपये भेंट के रूप मे दिये हैं; कृपा करके आप इन्हें ग्रहण करें।"

गुरुदेव क्षण में ही क्रोध से उबल पड़े। यह कैसा अशिष्ट चेला है? स्वयं गुरु के उपस्थित रहने पर भी अपने लिए भेंट ग्रहण करता है। कितना उद्धत है यह।

रामदासजी बड़ी मुश्किल में पड़े। कातर स्वर में गुरुजी को समझाने लगे। इस भेंट को मैं किसी प्रकार भी ग्रहण करना नहीं चाहता था। किन्तु दर्शनार्थी व्यक्ति उनकी बात पर ध्यान न देकर रुपया रख कर चला गया। और उसके जाते ही मैं फौरन रुपये लेकर गुरुदेव के चरणों में निवेदन करने आ गया हूँ—मैंने अंतर या बाह्य किसी भी रूप में इस भेंट को ग्रहण नहीं किया है। तब गुरुजी इतने कठोर क्यों हो रहे हैं?

क्रोध का अभिनय उसी क्षण समाप्त हो गया। उनके इस बाह्य रूप के अंतराल में जो करुणा घनरूप में छिपा हुआ था वह प्रकट हुआ।

संपूर्ण शरीर और मन में दिव्य आनंद की अपूर्व रश्मियाँ विकीर्ण हो उठीं। हँसते हुए उन ब्रह्मज्ञ महापुरुष ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखा और बोले, "अरे बेटा, तू भी तो अब सिद्ध हो गया। ऐसा तो अब होगा ही। तुमको क्या मालूम कि तुम भी एक शेर बन गये हो। एक ही स्थान पर दो शेर नहीं रह सकते।"

अध्यात्म जीवन की स्थिति के लिए, प्रकृत कल्याण के लिए अब शिष्य को पृथक् मार्ग से ही चलने देना होगा। इसके बाद रामदास को गुरु ने परिव्राजन में भेज दिया। यहीं से उनकी स्वाधीन, स्वस्थ अध्यात्म—परिक्रमा आरंभ होती है। इसी की परिणति में भविष्य के श्री १०८ रामदास काठियाबाबा का अभ्युदय देखा जाता है।

अध्यात्म-जीवन के अनेक विचित्र अनुभवों का वहन करते हुए रामदास सद्गुरु देवदासजी के चरणों में आ उपस्थित हुए। उनके इस समस्त भ्रमण एवं पथ-परिक्रमा के पीछे दैवीशक्ति की एक सुनिश्चित लीला देखी जाती है। बाल्य, किशोरावस्था और यौवन में रामदास के जीवन में एक ही गतिधारा रही है, एक ही मुक्तिपथ का अनुसरण। उसी प्रकार इसके नेपथ्य में भी सदा ईश्वरीय करुणा का एक अलौकिक प्रकाश—संकेत संचारित होता रहा है।

पूर्व पंजाब का एक अति साधारण गाँव लोनाचमारी है। अमृतसर से लगभग बीस कोस दूर। इस गाँव के ही एक समृद्ध परिवार में रामदास का जन्म हुआ था। पिता एक सम्मानित ब्राह्मण, पुरोहित वृत्ति करके गृहस्थी चलाते थे। उनका जीवन अत्यंत सरल और आडंबररहित था। घर में किसी प्रकार की कमी न थी। खेत में काफी फसल पैदा होती थी, चार-पांच भैंसें थीं जिनसे परिवार के दिन सुख-स्वच्छंद से कट जाते थे।

पितृ-गृह के निकट ही एक परमहंस संन्यासी का निवास था। बालक रामदास अपनी माता के साथ अक्सर इस संन्यासी के पास जाकर बैठा करते थे। एक दिन इस नन्हें से बालक के एक

विचित्र प्रश्न ने सब को विस्मित कर दिया। परमहंसजी से उसने पूछा, बाबा के पास जितने लोग आते हैं सब उनके चरणों में सिर झुकाते हैं। वे सबसे बड़े और पूज्य हैं। वे किस तरह इतने महान हो गये, यही मैं जानना चाहता हूँ। जान लेने पर मैं उस मार्ग का अनुसरण करूँगा।

परमहंसजी कौतुकवश उस बालक की ओर देखने लगे। सस्नेह उसे पास बुलाकर बोले, "बेटा, मैं सदा रामनाम का जप करता हूँ। और इस नाम ने ही मुझे छोटे से बड़ा बनाया है। मन-ही-मन रामनाम जप करो, तब तुम भी मेरी तरह हो जाओगे।"

बालक ने उसी समय अपना यह दृढ़ संकल्प जता दिया, आज से वह इस रामनाम का जप करेगा, और इस रूप में ही वह महान् एवं देशपूज्य बनेगा। उस दिन से ही बालक रामदास के अन्तर में रामनाम की प्रच्छन्न जपमाला फिरने लगी।

पिता की भैंसें मैदान में चरने जाया करती थीं। रामदास हाथ में डंडा लेकर उनके पीछे-पीछे जाता था। उस समय वह एक निरा बालक था, उम्र सात से अधिक नहीं होगी। एक दिन वह बीच मैदान में एक वटवृक्ष के तले बैठा हुआ था। अचानक वहां एक जटाजूटधारी साधु कहीं से आ उपस्थित हुए। साधु भूखे थे, उन्होंने रामदास से कुछ आहार का प्रबन्ध करने के लिए कहा। बालक उत्साहित होकर आनन्दपूर्वक बोला—"साधु बाबा, आप मेरी इन भैंसों को देखते रहें, मैं घर से आपके लिए सब कुछ लिये आता हूँ।'

प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु का अपराह्न। दिन क्रमशः ढलने लगा था। घर में पिता-माता सोये हुए थे। रामदास ने चुपके से भंडार घर खोला और आटा, घी, चीनी लेकर शीघ्र ही पेड़ के नीचे लौट आया। बालक की इस सेवानिष्ठा को देखकर साधु बहुत प्रसन्न हुए। आशीर्वाद देते हुए बोले, "बच्चा, तुम योगिराज बन जाओगे।"

रामदास को बड़ा आश्चर्य हुआ। योगिराज बनने की योग्यता

उसमें है या नहीं, वह नहीं जानता है। व्यस्त होकर उसने कहा—"साधु बाबा, मेरे पिता जिस प्रकार रोज भैंस का प्रायः दस सेर दूध पान किया करते हैं, उसी प्रकार मैं भी दोनों वक्त पाँच सेर दूध पान किये बिना नहीं रह सकता। ऐसी हालत में मैं किस प्रकार योगिराज हो सकता हूँ?"

संन्यासी ने हँसते हुए अपना दाहिना हाथ ऊपर की ओर उठाया और उदार कंठ से कहने लगे, "बच्चा, मेरे वचन से तुम अवश्य योगिराज होगे।" इसके बाद वह धीरे-धीरे वहाँ से चले गये।

किन्तु यह क्या अलौकिक काण्ड? सर्वत्यागी संन्यासी द्वारा उच्चारित आशीर्वाद मानो चैतन्यमय हो उठा। उसके जादू स्पर्श से रामदास की समस्त लौकिक चेतना लुप्त हो गई। उसकी स्मृति से पिता, माता, गृह, आंगन, खेत, मैदान चरती हुई भैंसे—सब कुछ का आकर्षण अकस्मात् दूर हो गया, उसके अन्तर में केवल एक ही बोध ध्वनित होने लगा—गृहस्थाश्रम उसके लिए नहीं है। एक अदृश्य अपरिचित लोक का आह्वान उसके अंतर को आलोड़ित करने लगा। सात वर्ष के बालक के अंतर की यह प्रतिक्रिया सचमुच विस्मयजनक है। बाद में चलकर रामदास महाराज अपने बाल्यजीवन की यह लोकोत्तर अनुभूति अपने शिष्यों को सुनाया करते थे।

रामदास के पिता ने धूमधाम से अपने पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार किया। इसके बाद अध्ययन के लिए ब्रह्मचारी बालक को निकटस्थ ग्राम के एक विख्यात आचार्य के पास भेजा गया। मेधावी रामदास ने शीघ्र ही अपने गुरु के हृदय पर अधिकार कर लिया। अपने नित्य के पाठ को वह सहज ही हृदयङ्गम कर लेता था। इसके बाद वह माला लेकर अभ्यस्त रामनाम जप में एकाग्रचित्त हो जाता था।

ईर्ष्यालु सहपाठियों ने एक दिन आचार्य से उसकी शिकायत की—रामदास उनके किसी पाठ का मन लगाकर अभ्यास नहीं करता, गुरु के वाक्य की अवहेलना कर के केवल बैठा-बैठा माला घटका-

टाता रहता है। रामदास पर लगाये गये इस अभियोग की सत्यता की जाँच करने के लिए गुरु ने उसे बुला भेजा। परीक्षा करके आचार्य ने देखा कि कोई पाठ ऐसा नहीं जिसे उसने अच्छी तरह धारण नहीं कर लिया हो। अपना पाठ समाप्त करके वह नियमित जप-साधन में निमग्न हो जाता है, इसमें दोष ही क्या है ?

आचार्य ने उन ईर्ष्यालु छात्रों की भर्त्सना की। इसके बाद से आचार्य के गृह में छात्र रामदास की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। आठ-नौ वर्षों तक इन आचार्य के पास रहकर रामदास ने अध्ययन किया और विभिन्न शास्त्रों को समाप्त कर डाला। जिस दिन गुरुगृह से वह अपने घर लौट रहा था उस दिन इस युवक विद्यार्थी के वक्ष-स्थल पर भगवद्गीता की एक प्रति बंधी हुई देखी गई। इस महाग्रन्थ के साथ उस समय उसका जीवन एक अच्छेद्य प्रेम-बंधन में बंध गया था।

आचार्य-गृह में पाठ समाप्त करके पुत्र घर लौटा है। अब पिता उसके विवाह के लिए चिन्तित हो उठे। किंतु रामदास विवाह की बात सुनना तक नहीं चाहता था। मुमुक्षु तरुण की स्मृति में आज भी बाल्यकाल में देखे गये उस संन्यासी की वाणी गूँज रही थी—बच्चा, तुम जरूर योगिराज बन जाओगे। गृह जीवन का मोह एवं विषयासक्ति रामदास के जीवन से मिट चुकी है—अध्यात्म जीवन की पथ-परिक्रमा में बाहर निकल जाने के लिए वे कृतसंकल्प हैं। पिता-माता को उन्होंने स्पष्ट रूप से जता दिया, छोटे भाई का विवाह कर दीजिए—मैं स्वयं गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करूंगा। स्वजन परिजनों की भर्त्सना या आंसू कुछ भी उन्हें अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं कर सका।

गाँव के सीमान्त के पास एक वटवृक्ष था। उसी के नीचे आसन जमाकर रामदास जप करने लगे। गायत्री मंत्र में सिद्धिलाभ करने का उनका संकल्प था। एक लाख जप जब समाप्त हो गया, उन्होंने एक दिव्य वाणी सुनी। उन्हें आदेश मिला—वत्स, तुम बाकी पचीस

जाग्रत महातीर्थ ज्वालामुखी में जाकर पूरा करो—तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।

इस निर्देश के प्राप्त होने पर रामदास का उत्साह और भी बढ़ गया। ज्वालामुखी तीर्थ लोनाचमारी से लगभग चालीस मील दूर था। बिना देर किये इस तीर्थ की ओर वे पैदल रवाना हुए। किन्तु मार्ग में एक नई घटना घट गई। रामदास ने देखा, वृक्ष के नीचे एक जटा-जूटधारी, दिव्य श्रीमण्डित संन्यासी आसन लगाकर बैठे हुए हैं। रामदास का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहा। वे धीरे-धीरे उनके समीप उपस्थित हुए, उनके पूर्वजीवन का संस्कार जाग उठा। उन्हें ऐसा लगा कि यह संन्यासी उनके चिर-परिचित जैसे हैं। भावाविष्ट होकर वे उनके चरणों में गिर पड़े। ज्वालामुखी में रहकर तपस्या करने का संकल्प अब बिलकुल परित्यक्त हो गया।

मुक्तिकामी तरुण व्यग्र होकर उन महापुरुष से संन्यास एवं मंत्रदीक्षा के लिए बार-बार प्रार्थना करने लगे। अन्त में उनकी कृपा प्राप्त हुई। शरणार्थी युवक को अपना चेला बना लेने के लिए वे राजी हो गये। सिर के बाल मुड़ाकर रामदास ने एक शुभ मुहूर्त्त में वैराग्य ग्रहण किया। शक्तिधर महापुरुष का आश्रय प्राप्त करके वे अमृतलोक के तोरणद्वार पर पहुँच गये।

संन्यास ग्रहण की बात रामदास के पिता को भी शीघ्र ही मालूम हो गई। उसी समय वे अपने पुत्र और उनके दीक्षादाता गुरु के पास दौड़े आये। भीति-प्रदर्शन और अनुनय-विनय सब व्यर्थ सिद्ध हुए—रामदास किसी प्रकार भी संन्यास-आश्रम छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुए। इधर उनकी माता शोकाकुला होकर आहार, निद्रा छोड़ बैठी थी। इसलिए पिता ने संन्यासी से अनुरोध किया कि रामदास को वे एक बार अपनी शोकातुरा जननी से मिल आने की अनुमति प्रदान करें, अन्तिम बार वह अपना घर देख आये। गुरु की अनुमति मिल जाने पर रामदास लोनाचमारी लौट आये।

किन्तु तरुण साधक अपने घर में नहीं रहे। गाँव के सिमाने पर बड़ का एक पेड़ था, उसी के नीचे उन्होंने आसन लगाया। माँ रोती हुई वहाँ पहुँची, उसे धैर्य कौन धराये? रामदास अविचलित बने रहे। माता को साफ-साफ बता दिया कि यदि वह स्थिर नहीं होगी तो वे इस स्थान का त्याग करके चले जायगे। नवीन संन्यासी किसी निश्चित घर का भोजन ग्रहण नहीं करते थे। गाँव के विभिन्न घरों से बारी-बारी से भोजन मँगाकर वे ग्रहण करते थे।

इसी बीच यहाँ एक विचित्र बात हो गई। उस दिन बहुत रात बीते रामदास वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो रहे थे। सामने का आकाशमण्डल अकस्मात् एक स्वर्गीय ज्योति से उद्भासित हो उठा। स्वयं गायत्री देवी ने तरुण साधक के समक्ष आविर्भूता होकर कहा, "वत्स, तुम्हें गायत्री मंत्र सिद्ध हो गया। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम अपना अभीष्ट वर प्रार्थना करो।"

रामदास ने उत्तर दिया, "माँ, मैं अब संन्यासी हो गया हूँ; मुझमें कामना-वासना नहीं रह गई है, इसलिए कोई वर माँगना नहीं चाहता। मेरी एकमात्र प्रार्थना यही है कि तुम सदा मेरे प्रति प्रसन्न बनी रहो।" 'तथास्तु' कहकर देवी अन्तरिक्ष में विलीन हो गईं।

रामदास के निकट गाँव के बहुत से स्त्री-पुरुष आने लगे थे। ऐसे समय में ही वे एक विषम विपत्ति में पड़ गये। एक सुन्दरी तरुणी सुदर्शन संन्यासी रामदास को देखकर मुग्ध हो गई और अपने रूपलावण्य द्वारा उन्हें प्रलोभित करने लगी। रमणी उस गाँव में ही रहती थी और वह रामदास की पूर्वपरिचिता थी। बहुत तरह से मना करने पर भी उसे अपनी चेष्टाविरत करना कठिन हो गया।

एक दिन कामपीड़िता होकर आधी रात के समय वह युवती धीरे-धीरे रामदास के आसन की ओर बढ़ने लगी। रामदास सशङ्कित हो उठे और दूसरा कोई उपाय न देखकर उसके ऊपर ढेला पत्थर जोर-जोर

से फेंकने लगे। इस प्रकार उसे वहाँ से भगा दिया। बाद में देखा गया, वे गाँव छोड़कर कहीं चले गये थे। अपने परवर्त्ती जीवन में रामदास फिर कभी इस गाँव में नहीं आये।

अब तपस्वी का परिव्राजन आरम्भ हुआ। गुरु के आदेशानुसार उन्होंने अनेक तीर्थ एवं जनपदों का भ्रमण किया। भ्रमण करते हुए बहुत दिन बीत गये। इस प्रकार विचरण करते हुए रामदास एक दिन एक देशी करद–राज्य में पहुँचे। वहाँ की रानी एक विधवा युवती थी। उसका रूपलावण्य असाधारण था। साधु रामदास को अपने महल में बुलाकर रानी यत्नपूर्वक उनकी सेवा करने लगी। उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आकर रानी धीरे-धीरे उनके प्रति आकृष्ट हुई और एक दिन व्याकुल हृदय से अपना प्रेम-निवेदन किया। अपने यौवन और विपुल सम्पत्ति का भोग करने के लिए वह संन्यासी से बार-बार विनती करने लगी।

इस रूपसी तरुणी के सम्पर्क में रहते हुए तथा उसके प्रेम-निवेदन को सुनकर रामदास का मन कुछ चंचल हो उठा। किन्तु सहसा उनमें एक चेतना जाग्रत हुई। अन्तर में विवेक का तीक्ष्ण दर्शन होने लगा। सोचने लगे, मोह में पड़कर मैं यह क्या कर रहा हूँ? वैराग्य–आश्रम ग्रहण करके परममुक्ति की साधना में वे रत हैं। रमणी का रूप–मोह क्या आज उन्हें अपने मार्ग से भ्रष्ट कर देगा? उसी क्षण वे उस रानी और राजप्रासाद के समस्त प्रलोभनों का परित्याग कर वहाँ से निकल पड़े।

किन्तु विचित्र बात तो यह थी कि रूपसी रानी की स्मृति किसी प्रकार भी उनके अन्तर से भुलाये नहीं भूलती थी। राजमहल की वह मोहिनी मानो अपना मायाजाल फैलाकर उन्हें ग्रसित करना चाहती थी। उसी समय साधक के अन्तर में क्षणभर के लिए एक दुर्बलता देखी ग ़ी थी, किन्तु ईश्वर की कृपा से वे आत्मरक्षा करने में समर्थ हुए। जल्द जल्द कदम बढ़ाते हुए वे राज्य की सीमा से बाहर

निकल आये और चैन की सांस ली। बाद में महासाधक रामदास काठियाबाबा को प्रायः यह कहते सुना जाता था—अहैतुक भगवत्कृपा के बिना तरुण साधक के लिए कामरिपु जय करना अत्यन्त कठिन है।

परिव्राजक के रूप में रामदास एक बार उत्तराखण्ड के सघन वनप्रदेश में भ्रमण कर रहे थे। इसी समय एक निर्जन ऊँचे पहाड़ पर उन्होंने एक गुहा देखी जिसका द्वार एक प्रस्तरखण्ड से ढका था। कौतूहलवश उन्होंने द्वार पर से प्रस्तरखण्ड हटा दिया। भीतर प्रवेश करके जो कुछ देखा उससे उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। दीर्घ जटाजूटधारी एक विशालकाय प्राचीन योगी वहाँ बैठे हुए थे। गुहा के एक कोने में गम्भीर ध्यान में वे मग्न थे। आँखों के ऊपर का चमड़ा लटक जाने से दोनों आँखें ढँक गई थीं। रामदास को कुछ भय हुआ और वे शीघ्र ही पर्वतगुहा से बाहर निकल आये और वहाँ खड़े रहे।

प्राचीन तपस्वी गुहाद्वार पर आकर खड़े हो गये। हाथ से अपनी आँखों पर लटकते हुए चमड़े के आवरण को धीरे-धीरे हटाया। रामदास को ऐसा लगा कि महापुरुष की आँखों की पुतलियों से मानो आग बरस रही है। गम्भीर कण्ठ से वृद्ध योगी ने आगन्तुक तरुण का परिचय पूछा।

रामदास उस समय भय एवं विस्मय से विह्वल हो रहे थे। धीमी आवाज में उत्तर दिया—"महाराज, मैं आपका एक दीन चेला हूँ।"

"चेला ? यह क्या बात ? अच्छा, यदि चेला हो तो मेरे आदेशानुसार सब कुछ कर सकोगे ?"

"हाँ महाराज, आप की कृपा से अवश्य ही सब कुछ कर सकूँगा।"

गुहा के निकट ही एक गहरा पहाड़ी खड्ड था। उसके ऊपर से एक पहाड़ी नदी तेज धारा में गरजती हुई बह रही थी। वृद्ध साधु नीचे अंगुली से इशारा करते हुए बोले, "यदि चेला हो तो इसी क्षण मेरे आदेश से इस जल-धारा में कूद पड़ो।" नीचे की ओर देखकर रामदास भय से सिहर उठे। पहाड़ी नदी के इस उन्मत्त प्रवाह में

कूद पड़ने का अर्थ था, निश्चित मृत्यु। किन्तु आदेशपालन किये बिना बचने का कोई उपाय भी तो नहीं था। रुद्रमूर्त्ति इस योगी के रोषवह्नि से वे किस प्रकार बच सकते हैं ?

इष्ट नामस्मरण करके रामदास पर्वत शिखर से उसी क्षण नीचे कूद पड़े। उनका शरीर तेज धारा में बहने लगा। इस समय एक महाअलौकिक काण्ड घटित होते देखा गया। वृद्ध तपस्वी ने अपनी असाधारण योगविभूति के बल पर अपना हाथ नीचे की ओर फैलाया। क्षणभर में ही उस हाथ ने लम्बा होकर धारा में बहते हुए रामदास के शरीर को स्पर्श किया। योगशक्ति की आश्चर्यजनक क्रिया इतनी ही तक समाप्त नहीं हुई। तत्क्षण योगी के हाथ के आकर्षण से बहता हुआ शरीर शून्य में उठा और वह एकबारगी गुहाद्वार के पास आकर खड़ा हो गया।

भय और विस्मय से रामदास विमूढ़ जैसे हो रहे थे। किन्तु सामने खड़े हुए योगीवर का वह रोषदीप्त रूप अब नहीं रह गया था। उनके मुखमण्डल पर प्रसन्न मधुर हास्य की रेखाएँ फूट रही थीं। रामदास को सस्नेह आशीर्वाद देते हुए वे कहने लगे,—"वत्स, तुम चेला होने योग्य हो, यह ठीक है। तुम्हारा कल्याण हो, सद्गुरु की कृपा से तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण हो। किन्तु यहाँ से तुम शीघ्र चले जाओ। यह अञ्चल ऋषियों का एक विशेष तपःक्षेत्र है। यहाँ तुम मत रहो।" साष्टाङ्ग प्रणाम करके रामदास धीरे-धीरे योगिराज की साधनस्थली से बाहर निकल आये।

परिव्राजन पर्व अब समाप्त हो चुका है। इसके बाद रामदास देवदासजी महाराज से मिले और गुरुदेव की एकनिष्ठ सेवा में लग गये। शक्तिधर आचार्य का निरन्तर साहचर्य और उनके साधन-निर्देश से रामदास के अध्यात्म-जीवन में क्रमशः एक बहुत बड़ा परिवर्त्तन देखा जाने लगा। देवदासजी पहले अयोध्या के निवासी थे। निम्बार्क शाखा के एक असाधारण योगी की कृपादृष्टि उनके ऊपर पड़ी और बहुत दिनों की तपस्या के बाद ये कठोरतपा साधक असीम योगशक्ति के अधिकारी हुए। ज्वालामुखी जाते हुए मार्ग में

जब रामदास ने देवदासजी का चरणाश्रय ग्रहण किया था उस समय तक वे एक विख्यात योगी बन चुके थे। परिव्रज्या के समय में गुरु और शिष्य के बीच कुछ समय के लिए सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था। अब फिर दोनों के जीवन में घनिष्ठ योगबन्धन शुरू हुआ। देवदासजी की योगविभूति एवं कृपालीला शिष्य के सम्मुख एक-एक कर उद्घाटित होने लगी।

कभी-कभी गुरुदेव एक ही आसन पर लगातार छह महीने तक जड़ समाधि में मग्न रहते थे। उनकी इस लीला को देखकर तरुण शिष्य रामदास विस्मयमुग्ध बन जाते थे। योगिराज के बाह्य जीवन में भी कम विलक्षणता नहीं देखी जाती थी। उनकी आँखों में निद्रा का लेश भी नहीं था, गांजा और चरस के दम-पर-दम लगाते रहते थे।

रामदास की दृष्टि में गुरु का भोजन करना सबसे अद्भुत व्यापार था। धुनी से किञ्चित् भस्म लेकर कमण्डलु के जल में डाल देते थे, और फिर यह विभूति-मिश्रित जल पी जाते थे। साथ-साथ इस वस्तु को सहज ही उदर से बाहर निकाल देने में भी उन्हें देर नहीं लगती थी। यौगिक प्रक्रिया के बल से उसे वमन कर देते थे और तब रामदास से तत्क्षण उसे तौलने के लिए कहते थे। हर बार तौलने पर देखा जाता था कि भस्ममिश्रित जल उनकी पाकस्थली से समपरिमाण में बाहर निकल आता था। यही था उनके गुरुदेव का नित्य का आहार।

महायोगी के इस आहार में बीच-बीच में व्यतिक्रम भी देखा जाता था। एक बार देवदासजी ने शिष्य को बुलाकर कहा, शरीर में भीषण ताप का अनुभव कर रहा हूँ। शीघ्र प्रचुर मात्रा में दूध पिलाये बिना निस्तार नहीं। रामदास एक बड़ा सा बर्तन लेकर गाँव में गये और साधुबाबा के लिए प्रायः आधमन दूध माँग कर ले आये। दूध का बर्तन सामने रखा गया और देवदासजी गटगट करके सारा दूध पी गये।

किन्तु शरीर का उत्ताप अब भी नहीं मिटा था, और भी अधिक मात्रा में दूध लाने का आदेश किया। गुरु का यह व्यापार देखकर रामदास हक्का-बक्का हो रहे थ। हाथ जोड़कर सानुनय बोले, "बाबा, आप परमात्मा स्वरूप हैं, आपके शरीर का उत्ताप शान्त करने को सामर्थ्य मुझ में कहाँ? आधमन दूध तो समाप्त हो गया, अब और क्या किया जाय?"

गुरुदेव सदय भाव से मुस्कराते हुए बोले, "नहीं बेटा, तुम और थोड़ा सा दूध ले आओ। मेरी पिपासा अवश्य शान्त हो जायगी।" और कई सेर दूध लाया गया। उसे पी लेने पर देवदासजी का उत्ताप शान्त हुआ।

शिष्य की परीक्षा लेने के लिए भी गुरुदेव बीच-बीच में अपना लीलाखेल दिखाया करते थे। एक बार किसी पहाड़ी नगर के निकट देवदासजी ने अपना आसन लगाया। साथ में रामदास तथा अन्य कई अन्तरंग शिष्य थे। दोपहर रात में गुरुदेव ने सहसा आदेश किया—पास के शहर से दो रुपये का गांजा खरीद कर ले आओ, इसके लिए तुरन्त एक आदमी रवाना हो जाओ। सब घबरा उठे। यह जंगल हिंसक जीव-जन्तुओं से भरा हुआ है। इस समय बाहर निकलने पर जान को हाथ में लेकर जाना होगा। अँधियारी रात में रास्ता पहचानना भी कठिन है। इसके सिवा, साधुगण तो निःसम्बल थे, किसी के पास एक पैसा भी नहीं था। इतनी रात बीते शहर में जाने पर भिक्षा ही कौन देगा?

शिष्यगण सिर झुकाये चिन्तामग्न बैठे थे। रामदास मन में दृढ़ता धारण करके उठ खड़े हुए। गुरुदेव का आज्ञापालन करने के लिए प्रस्तुत हुए। देवदासजी ने प्रसन्न होकर कहा—"अच्छा, तुम ही जाओ। रुपये की चिन्ता मत करो। शहर में पहुँचते ही एक व्यक्ति तुम्हें दो रुपये देगा। उससे तुम गांजा खरीद कर लेना।"

जंगल पार करके रामदास नगर में पहुँचे। आधी रात का समय। जनशून्य पथ। दुकानों और गृहस्थघरों में कहीं रोशनी नहीं

जल रही थी। कुछ दूर आगे बढ़ने पर रास्ते के एक मोड़ के पास एक घर दिखाई पड़ा जिसमें रोशनी जल रही थी। दरवाजे पर थपथपाते ही एक व्यक्ति शीघ्र बाहर निकला। इस दोपहर रात में साधु के दर्शन प्राप्त करके वह बहुत प्रसन्न हुआ। प्रणाम करके वह हाथ जोड़े हुए बोला—"आज मेरा परम सौभाग्य है। भोर से ही मन में संकल्प किये हुए था कि दो रुपये किसी साधु को भेंट में दूँगा। इस गम्भीर रात्रि में अप्रत्याशित रूप में भगवान ने मेरे उस संकल्प को पूरा कर दिया।"

दोनों रुपये लेकर रामदास ने गुरुदेव के लिये गांजा खरीदा। अब शीघ्र ही उन्हें लौट चलना है। सामने घोर अन्धकारपूर्ण वन-पथ। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। रामदास गुरुसेवा के साथ-साथ इस समय प्रसादी गांजा के भी कुछ-कुछ अभ्यस्त हो गये हैं। सोचा, इस गांजे में से एक चिलम अलग करके एक दम ले लेने में हर्ज ही क्या है? उन्होंने ऐसा ही किया। गांजे का दम लेकर तृप्त मन से धीरे-धीरे जंगल का रास्ता तय करते हुए गुरु के समीप पहुँचे।

देवदासजी के सम्मुख गांजे की पोटली रखने के साथ-साथ उन्होंने व्यंग्य करते हुए कहा, "अजो, गुरु की सेवा क्या शिष्य इसी रूप में करता है? भोग में से पहले अपने लिए रखकर तब गुरु के सामने निवेदन कर रहे हो। मालूम होता है अब तक तुम्हें यही शिक्षा मिली है।"

विस्मय और भय से रामदास की बोलती बन्द हो गई। जो बात सुनते थे और जानते थे, आज वह उनके मन में बैठ सी गई। उन्हें समझने में देर न लगी कि गुरुदेव अन्तर्यामी एवं महाशक्तिधर हैं। उनकी सदा जाग्रत दृष्टि सहज ही किसी भी लौकिक बाधा, किसी भी दूरत्व का अतिक्रम करने में समर्थ है। भीत कंठ से हाथ जोड़कर उन्होंने क्षमायाचना की—"मैं एक अबोध बालक मात्र हूँ। गुरुदेव की महिमा अब तक मेरी अन्तरसत्ता में स्पष्ट नहीं हुई थी।" बार-बार वे खेदपूर्वक यही कहने लगे। देवदासजी महाराज तब

प्रसन्न होकर बोले, "ठीक ही तुम कोरे बालक हो। इसलिए आज का अपराध क्षमा कर दिया गया। मगर जान रखो, सच्चे सद्गुरु की दृष्टि से साधारण-से-साधारण विचार को भी कभी छिपाया नहीं जा सकता।"

एक बार रामदास गुरुजी के साथ पंजाब के किसी तीर्थ की ओर जा रहे थे। लाहौर नगर के समीप के एक अञ्चल में दोनों आसन जमाकर बैठ गये। चारों ओर से और भी बहुत से संन्यासी वहां आकर एकत्र हो गये। साधुओं की एक जमात ही हो ई। लाहौर के प्रसिद्ध व्यवसायियों में अनेक वहाँ आयागमन करने लगे। रामदास और उनके गुरुजी की धुनी के सामने एक बार एक प्रसिद्ध धनी सेठ बैठे हुए थे। शाल के व्यवसाय में यह व्यक्ति प्रति वर्ष लाखों रुपया उपार्जन करता था। देवदासजी ने उसे आदेश दिया, 'इस जमात के साधुओं को आज तुम भंडारा दो।" जमात के साधुओं की संख्या एक हजार से अधिक थी। सेठजी सकपका गये। इतने लोगों को भोजन कराने की उनकी इच्छा नहीं थी। केवल इतना ही नहीं, साधु-संन्यासियों के सम्बन्ध में इस समय वे कुछ व्यंग्य वचन बोलने से भी नहीं चूके।

देवदासजी सेठ के इस व्यवहार से रुष्ट हुए। भौंहे टेढ़ी करके बोले, "बनिया, तुम्हें धन का घमंड बहुत हो गया है, यह देख रहा हूँ। सर्व-त्यागी साधुओं के प्रति तुम्हारी यह अवज्ञा एक गुरुतर अपराध है। इसके लिए आज तुम्हें कुछ दण्ड देना उचित है। घर लौट कर देखोगे—अग्निदेवता तुम्हारे शाल के गट्ठर में प्रकट हुए हैं।

सेठजी संत्रस्त होकर घर की ओर चल पड़े। साथ ही जलती हुई धुनी में किंचित् जल उत्सर्ग करके देवदासजी मुस्कराते हुए रामदास से बोले, "बनिया के शाल-गुदाम में आग लगनी शुरू हो गई।"

कुछ क्षणों के बाद ही शाल-व्यवसायी सेठजी हाँफते हुए वहाँ आ पहुँचे। आँसूभरे हुए नेत्रों से कहने लगे,—"महाराज, मेरा सर्वनाश होने पर है। आप कृपा करके यदि मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो मेरे

धन-जन सभी नष्ट हो जायँगे। मेरा शाल-गुदाम इतना सुरक्षित है, फिर भी सचमुच वहाँ आग जल उठी है। मैं एकदम अबोध हूं, आप मुझे क्षमा करें। वचन देता हूँ, इस साधु-जमात को मैं सात दिन तक भण्डारा देता रहूँगा।"

तुरंत देवदासजी करुणार्द्र हो उठे। सेठ को अभय देते हुए कहने लगे "अच्छा बेटा, तुम शान्त हो जाओ। गुदाम की आग इसी क्षण बुझ जायगी। किन्तु साधुओं की अवज्ञा करने के कारण तुम्हें दण्ड भोगना होगा। तुम्हारा एक कीमती शाल इस आग में नष्ट हो जायगा। जाओ, अब कभी इस प्रकार का अपराध नहीं करना।" बाद में देखा गया, सचमुच मात्र एक शाल जलकर नष्ट हुआ है, इसके सिवा बनिया के गुदाम में और कोई क्षति नहीं हुई है।

यह घटना देखकर रामदास स्तम्भित हो गये। उनके मन में नाना प्रश्न उठने लगे। अंत में हाथ जोड़कर साहसपूर्वक उन्होंने गुरुजी से निवेदन किया कि इस घटना पर प्रकाश डालने की कृपा करें। देवदासजी ने विचार किया, योगविभूति का इस रूप में प्रयोग, साधुजमात के भोजन के प्रश्न को लेकर इस प्रकार का दण्ड, यह सब देखकर शिष्य का मन उद्विग्न हो उठा है। उन्होंने हँसते हुए कहा, "बेटा तुम जानते नहीं, यह बनिया सचमुच सज्जन एवं धर्मप्राण व्यक्ति है। किन्तु धन के घमंड ने उसे पथभ्रष्ट कर दिया था। आज का यह दण्ड उसके लिए अवश्य ही कल्याणकर सिद्ध होगा। अब से उसके जीवन में एक नया मोड़ शुरू होगा।" सद्गुरु की क्रोधाग्नि के पीछे छिपी हुई जो कल्याण-भावना थी उसका परिचय प्राप्त करके रामदास विस्मय एवं आनन्द से अभिभूत हुए बिना नहीं रहे।

देवदास महाराज का योगैश्वर्य और उनके अलौकिक जीवन की महिमा इसी प्रकार दिनानुदिन शिष्य रामदास के जीवन को प्रभावित करने लगी। एक दिन भोपाल राज्य की झील के निकट पहुँचकर उन्होंने

न मालूम क्यों शिष्यों को कुछ दूर हट कर अवस्थान करने के लिए कहा। इसके बाद स्वयं झील के किनारे खड़े होकर उच्च स्वर से बारं-बार शंखध्वनि करने लगे।

झील के दूसरे किनारे पर नवाब का महल था। इससे पूर्व नवाब की ओर से एक घोषणा प्रचारित हो चुकी थी कि झील के किनारे कोई शंख या घंटाध्वनि नहीं कर सकेगा। इस आदेश का उल्लंघन करने-वाले को प्राणदण्ड दिया जायगा। एकाएक शंखध्वनि सुनकर सबलोग चकित हो गये। मामला क्या है, यह जानने के लिए नवाब ने तुरन्त एक आदमी भेजा। दरबार में संवाद पहुँचा, एक हिन्दू संन्यासी सर-कारी आज्ञा की उपेक्षा करके शंख बजा रहा है। नवाब की क्रोधाग्नि भड़क उठी। महल के समीप खड़ा होकर बारंबार कानून तोड़ने का यह दुःसाहस किस प्रकार हुआ? पहरा देनेवालों को हुक्म हुआ, फौरन जाकर उद्धत साधु का मस्तक उतार लो अथवा उसे गिरफ्तार करके ले आओ।

साधु के आसन के पास पहुँचकर नवाब के अनुचरों ने जो कुछ देखा, उससे वे अवाक् रह गये। वहाँ किसी जीवित मनुष्य का पता नहीं— केवल किसी एक साधु का मस्तक और अंग–प्रत्यंग छिन्न-भिन्न एवं रक्ताक्त अवस्था में झील के किनारे फैले हुए हैं।

नवाब के अनुचरों ने लौट कर यह समाचार निवेदन किया किन्तु यह क्या आश्चर्य, फिर उसी स्थान मे कौन जोर-जोर से शंख बजा रहा है? अनुचर गण दौड़कर फिर वहाँ पहुँचे और इस बार जो कुछ देखा वह और भी रहस्मय था। मनुष्य-शरीर के छिन्न-भिन्न अंश वहाँ से अदृश्य हो गये थे। रक्तपात का बिन्दुमात्र भी कहीं नहीं देखा जाता था।

आरम्भ से अंत तक सब बातों को सुनकर नवाब को विश्वास हो गया कि अवश्य ही शंखध्वनि करनेवाला साधु एक महाशक्तिधर योगी है। उनके मन में भय एवं भक्ति का एक साथ ही संचार हुआ। विचार किया, इस साधु के साथ संघर्ष करना उचित नहीं है। अपने मंत्रियों के

साथ नवाब स्वयं झील के किनारे आ उपस्थित हुए। सब लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा—वहां एक लंबी जटावाले तेजस्वी संन्यासी बैठे हुए हैं।

योगी को प्रणाम करके नवाब बार-बार क्षमायाचना करने लगे। वे आदेशपालन के लिए व्यग्र हो उठे। योगिराज ने प्रशान्त कंठ से कहा, "शङ्ख-घंटा बजाना बंद करना तुम्हारे लिए क्या एक निन्दित कर्म नहीं है? तुम मुसलमान हो, अपने धर्म का पालन करो। साथ ही अन्य धर्म के अनुयायियों को भी आवश्यतानुसार धर्माचरण करने देना तुम्हारे लिए उचित है। अपनी इस अन्यायपूर्ण घोषणा को फौरन वापस ले लो।" योगिराज के आदेश को नवाब ने उसी क्षण सानन्द स्वीकार कर लिया। इसके बाद उस झील के तट पर देवदासजी ने एक देवमन्दिर निर्मित कराया। परवर्ती काल में रामदास काठियाबाबा इसे ही अपना गुरुद्वारा बताया करते थे।

शक्तिधर गुरु का आश्रय प्राप्त करने के साथ-साथ रामदास के जीवन में कठोर तपस्या की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। कठोर कृच्छ्रव्रत, एकनिष्ठ अध्यात्म-साधना एवं चरम आत्मत्याग के बीच परमप्राप्ति के पथ पर वे अग्रसर होने लगे। महासमर्थ गुरु की सदा सजग दृष्टि और उनके निपुण मार्गदर्शन में इस अधिकारी शिष्य को अभीष्ट सिद्धिलाभ करने में विलम्ब नहीं हुआ।

जाड़ा हो या गर्मी, धुनी जलाकर रामदास सारी रात जागते हुए भजन मे बिता देते। माघ मास की घोर सर्दी में भी उनके शरीर पर तीन हाथ का एक वस्त्रखण्ड के सिवा और कोई आवरण नहीं। अन्यान्य शिष्यों के समान रामदास की कमर में भी गुरुजी ने एक मोटी भारी लकड़ी का कमरबन्द बांध दिया था जिसके साथ लकड़ी का एक लँगोटा झूलता रहता था। यह कठिन परिधान धारण करके ही दिनांत में साधन-भजन समाप्त होने पर रामदास एवं उनके साथियों को शयन करना पड़ता था। तामसिक निद्रा नवीन साधकों के भजन-ध्यान में विघ्न न डाल सके इसलिए ही गुरु देवदासजी की यह कठोर व्यवस्था थी।

किन्तु नींद की बातें तो दूर रहीं, काठ की इस लंगोटी के कारण विश्राम या शयन भी ठीक तरह से नहीं किया जा सकता था। काठ के कमरबंद के कारण शरीर को लेटाये रखना बड़ा कठिन था। इस लिए आरम्भ में रामदास सोने के लिए बालुकामय भूमि को ही चुनते और काठ के कमरबंद तथा लंगोटी को उसमें घुसाकर कुछ क्षणों के लिए सो सकते थे। बाद में वे इस कृच्छ्र साधन के अभ्यस्त हो गये। अपने इस काष्ठवस्त्र के कारण ही काठियाबाबा के रूप में वे सर्वत्र परिचित हो गये।

गुरु की कृपा शिरोधार्य करके रामदास साधना के दीर्घ पथ पर द्रुत-गति से अग्रसर होने लगे। देवदासजी ने अनेक प्रकार से उनकी कठोर परीक्षाएँ ली और वे सब में उत्तीर्ण होते गये। महासमर्थ गुरु के आशीर्वाद से ऋद्धि–सिद्धियाँ उन्हें करतलगत हो गईं। इसी समय देवदासजी ने एक दिन उन्हें द्वारकाधाम की तीर्थयात्रा करने का आदेश दिया। कारण, द्वारका निम्बार्क सम्प्रदाय का मुख्य धाम है। किन्तु रामदास गुरु महाराज को छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहते थे। कर जोड़कर बोले, "महाराज, मैं आपको भगवानतुल्य मानता हूँ। शास्त्र भी कहता है, सद्गुरु के चरणों में ही सब तीर्थों का वास है। आपके चरणों में ही सब तीर्थों का पुण्यलाभ होता है। इसीलिए द्वारका जाने की मेरी उतनी इच्छा नहीं है।"

देवदासजी गरज कर व्यङ्ग्यात्मक भाषा में बोले,—"देखता हूँ, तू बड़ा ज्ञानी हो गया है। तुमने अपने मन में यह धारणा कर ली है कि तुम्हारे गुरुजनों में भी तुम से बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है। मैं द्वारका-धाम हो आया हूँ। मेरे गुरु, दादागुरु सब वहाँ गये थे। और तू इतना बड़ा ज्ञानी हो गया है कि तेरे लिए इस मुख्य धाम का दर्शन आवश्यक नहीं। इस प्रकार की बुद्धि का परित्याग करो। मैं आदेश करता हूँ, द्वारका-धाम हो आओ।"

बाध्य होकर रामदास द्वारकाधाम की ओर चल पड़े। द्वारका-

धाम का दर्शन करके जब लौटे तब उन्होंने जो दुःसंवाद सुना उससे उनके माथे पर वज्र गिर गया। इस बीच देवदासजी अपने नश्वर शरीर का परित्याग कर चुके थे। श्रीगुरु के शून्य आसन की ओर देखकर रामदास पागल जैसा हो गये। इन्हीं का परमाश्रय प्राप्त करने के लोभ से वे अपने पिता, माता, भाई, बंधु सब कुछ का आकर्षण छोड़कर आये थे। भगवद्स्वरूप गुरुजी के बिना उनका यह जीवन व्यर्थ है। संन्यासी का यह वेश ही अब क्यों धारण किया जाय ? शोकाकुल रामदास रोते-रोते अपने मस्तक का जटाजाल उखाड़ कर फेंकने लगे। उनके गुरु-भाइयों ने बलपूर्वक उनका मस्तक उस दिन मुण्डन करवा दिया। बिना भोजन और निद्रा के निरंतर रोते हुए रामदास के दिन व्यतीत होने लगे।

इसी शोकविह्वल अवस्था में क्रमशः सात दिन बीत गये। इसके बाद विदेही देवदासजी महाराज एक दिन ज्योतिर्मय मूर्ति धारण करके शोकार्त्त शिष्य के समक्ष उपस्थित हुए। स्नेहपूर्ण कंठ से सान्त्वना देते हुए उन्होंने कहा,—"वत्स, तुम इस प्रकार अधीर क्यों हो रहे हो ? तुम शांत होओ। मैं आशीर्वाद देता हूं, तुम्हारा कल्याण हो। जान रखो, मेरी मृत्यु नहीं हुई है, केवल मेरे मर्त्यजीवन की लीला समाप्त हो गई है। किन्तु इससे तुम्हारे और मेरे बीच कोई व्यवधान नहीं हुआ। आवश्यक होने पर बीच-बीच में मैं तुम्हें दर्शन देता रहूंगा।" देवदासजी की कृपा-लीला की कहानी का वर्णन करते हुए काठियाबाबा महाराज बाद में अक्सर कहा करते थे, गुरुजी ने अपने इस वचन को रखा। विशेष-विशेष अवसर पर देवदासजी अपने प्रियतम शिष्य को दर्शन देकर अनुगृहीत करते रहे।

गुरु के देहावसान के बाद रामदास साधना की गहराई में और भी प्रवेश करने लगे। ग्रीष्मकाल में पञ्चधूनी जलाकर वे कठोर तपस्या में रत रहने लगे और कड़ाके की सर्दी में हिम-शीतल जल में अवस्थान करने लगे। इस कठोर व्रत के फलस्वरूप कभी-कभी

ऐसी अवस्था हो जाती कि अन्यान्य साधु प्रभातवेला में उन्हें जल से निकालकर बाहर ले आते। निस्पन्द शरीर को बार-बार जलती हुई आग के पास रखकर गर्मी पहुँचायी जाती। तब काठियाबाबा दोनों नेत्र खोलते हुए देखे जाते।

एक बार रामदास किसी एक ग्राम में पंचधुनी जलाकर ध्यानस्थ हो रहे थे। उनके साथ एक और संन्यासी वहाँ रह रहे थे। रामदासजी की साधन-सफलता और उनकी प्रसिद्धि देखकर यह संन्यासी उनसे ईर्ष्या करने लगा। धुनी के बीच ध्यानमग्न रामदासजी का प्राणनाश करने के लिए एक दिन वह एक निष्ठुर एवं अमानुषिक कार्य कर बैठा। उस समय ध्यानस्थ काठियाबाबा को कोई सुध नहीं थी। इसी मौके पर संन्यासी ने प्रज्वलित धुनी के चारों ओर बहुत-सी सूखी लकड़ियाँ सजाकर रख दी और उनमें आग लगा दी। बाह्यज्ञानशून्य साधक के शरीर के चतुर्दिक् वह्निशिखा धधक उठी। दुष्ट संन्यासी तत्क्षण वह स्थान छोड़ कहीं निकल गया।

धू-धू करके आग जल उठी। यह देखकर गाँव के लोग वहाँ दौड़कर आये। जो कुछ देखा उससे उनके मन में यह धारणा हुई कि तपोनिरत साधुबाबा का शरीर अवश्य ही जलकर राख हो चुका होगा। सब लोगों ने मिलकर आग बुझायी और तब एक आश्चर्यजनक दृश्य देखा गया—काठियाबाबा योगयुक्त होकर प्रशांतवदन अपने आसन पर बैठे हुए हैं, चारों ओर धधकती हुई ज्वाला ने उनका कुछ भी अनिष्ट नहीं किया।

इस नृशंसकाण्ड से ग्रामवासी उत्तेजित हो उठे। भागे हुए संन्यासी को वे पकड़ कर ले आना चाहते थे, किन्तु बाबा ने उन्हें मना करते हुए कहा, "भाइयो, तुम लोगों के लिए कुछ करने की जरूरत नहीं। उस दुष्ट को स्वयं इसका दण्ड मिल जायगा।" दो दिनों के बाद सुना गया, उक्त संन्यासी एक अपराध के अभियोग में पकड़ा गया है। अदालत से उसे छह मास का कारादण्ड मिला है।

प्रज्वलित अग्नि के बीच रहकर भी उस दिन रामदास बाबाजी

का शरीर दग्ध नहीं हुआ। कई लोगों ने उनसे इस रहस्य का भेद जानना चाहा। उन्होंने उत्तर देते हुए कहा—पञ्चधुनी तापने के लिए बैठने के पूर्व साधक को अग्निदेवता से आत्मरक्षा के मंत्र को जाग्रत कर लेना होता है। इसके बाद मन्द हँसी हँसते हुए बोले, "जिसका शरीर आग से क्लिष्ट या दग्ध हो, समझ रखना वह योगी नहीं है।"

गुरुकृपा से काठियाबाबा ने इस प्रकार की बहुत सी योगसिद्धियाँ प्राप्त कीं। उनके साधन एवं परिव्राजनकाल में ये सिद्धियाँ आवश्यकता-नुसार प्रकट हुआ करती थीं। एक बार आगरे में यमुना के किनारे से होकर वे जा रहे थे। सिपाही विद्रोह का समय था। चारों ओर प्रचण्ड युद्ध और मारकाट चल रही थी। यमुना में एक छोटा-सा जहाज लंगर डाले खड़ा था। उसमें गोरी पल्टन भरी हुई थी। एक दल गोरा सैनिक यमुना किनारे काठियाबाबा को देखकर उत्तेजित हो उठा। उनमें एक ने साधु पर निशाना करके गोली चलाई। गोली साधु के कान के पास से होकर निकल गई, उनके शरीर में नहीं लगी। निर्भय होकर काठिया-बाबा चले ही जा रहे थे।

गोरा सैनिक बाज नहीं आया। बन्दूक उठाकर वह जहाज पर से फिर गोली चलाने के लिए तैयार हुआ। काठियाबाबा मन-ही-मन खीझ कर सोचने लगे, "अच्छी विपत्ति रही, देखता हूँ यह किसी प्रकार बाज आना नहीं चाहता।" अन्तर्लीन होकर कुछ समय के लिए उन्होंने दोनों आँखें मूँद लीं। सैनिक के हाथ से बन्दूक उसी क्षण न मालूम किस इन्द्र-जाल के बल पर छूट कर यमुना में डूब गई।

अब जहाज के सैनिकों को कुछ होश हुआ। उन्होंने सोचा—अवश्य ही यह साधु योगबल धारण किये हुए है, इसलिए इसके साथ बन्धुत्व स्थापित करना ही अच्छा है। इसके बाद गोरों का दल जहाज से उतरा और टोप उतार कर बाबाजी को सलाम किया।

सद्गुरु देवदासजी लौकिक लीला सम्वरण कर चुके थे। किन्तु उन्होंने अपने शिष्य रामदासजी में जो दीक्षा-बीज आरोपित किया था वह क्रमशः अंकुरित होने लगा था। गुरुकृपा एवं तपस्या के

धारामार्ग को वहन करते हुए उनके साधक जीवन में परम रूपांतर हो गया था। इसके बाद एकनिष्ठ साधक रामदास ने ईश्वर-दर्शन प्राप्त किया और सिद्धकाम हो गये। उनके साधक जीवन का यह अध्याय व्यक्त हुआ भरतपुर के पवित्र तीर्थ सयलनिका कुण्ड पर। काठियाबाबा ने स्वयं इसका वर्णन इस प्रकार किया है :—

रामदास को राम मिला
सयलनिका – कुण्डा।
संतन तो सच्चा माने
झूठ माने गुण्डा।

भरतपुर में ईश्वर-दर्शन के बाद ही सिद्धकाम साधक काठिया-बाबा का गुरुजीवन आरम्भ हुआ। इस समय से ही वे क्रमशः एक-दो शिष्यों को आश्रयदान करने लगे। उनके प्रथम चेला का नाम गरीबदास था। भरतपुर के एक निष्ठावान् भगवद्भक्त ब्राह्मण ने काठियाबाबा के माहात्म्य पर मोहित होकर अपने बालक पुत्र को उनके चरणों में अर्पित कर दिया। अपने त्याग, प्रेम एवं तपो-निष्ठा के बल पर यह गरीबदास बाद में चलकर एक असाधारण साधक बन गये। भगवानदासजी, ठाकुरदासजी एवं नरोत्तमदासजी नामक कई विशिष्ट चेला भी इसी समय काठियाबाबा का आश्रय प्राप्त करके धन्य हुए। परवर्त्तीकाल में और भी कितने ही शिष्यों ने बाबाजी महाराज का अनुग्रह प्राप्त किया जिनमें अधिकांश बंगाल के निवासी थे।

कठोर तपस्या एवं पर्यटन के बाद अब लोकगुरु के रूप में काठिया-बाबा ने अपने को प्रकट किया। बाबाजी सोचने लगे, उनकी तपश्चर्या एवं आश्रम के लिए कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा। कठोरतपा साधुओं के लिए उत्तराखण्ड की निर्जन पर्वतगुहाएँ ही उपयोगी हैं। किन्तु वहाँ भी पेट की चिन्ता बनी ही रहेगी। वर्षाकाल में किस स्थान में कंदमूल के अंकुर पाये जायँगे, यह पहले से ढूंढ़ रखना होगा। यह भी तो आहार

के लिए एक प्रकार की चेष्टा ही है। सोचने, विचारने के बाद अन्त में उन्होंने व्रजभूमि का आकर्षण ही अपने अन्तर में अधिकतर अनुभूत किया। कृष्णकन्हैया की यह लीलाभूमि है। इसके सिवा इस पवित्र भूमि में साधुओं की सेवा के लिए व्रजवासी और व्रजमाताओं का आग्रह भी कम नहीं है। इसलिए वृन्दावन में ही वास करने का रामदासजी ने निश्चय किया।

गंगाजी के कुञ्ज के निकट घाट पर वटवृक्ष के नीचे आसन लगाकर बैठे। साथ में एक सेवक शिष्य गरीबदासजी थे। यमुना नदी के घाट पर बहुत से स्त्री-पुरुष स्नान करने के लिए आया करते थे। इनमें अनेक इस सुदर्शन तेजदीप्त साधु को विनम्र भाव से प्रणाम करते थे। कुछ लोग धर्मकथाओं की आलोचना करके भी तृप्त होते थे।

एक दिन एक बड़ी विचित्र घटना हो गई। काठियाबाबा उस दिन अपना रात्रि का भजन समाप्त कर आसन पर लेटे हुए थे। अन्धकारपूर्ण रात्रि में चुपचाप रास्ता तय करके एक युवती उनके पास सट कर बैठ गई। बाबाजी ने चकित होकर उसी क्षण शिष्य गरीबदास को बुलाया। पास में ही वह सो रहा था। गरीबदास ने रोशनी जलाई और देखा कि काठियाबाबा के आसन पर एक युवती बैठी हुई है।

कठोर तिरस्कार एवं प्रश्नों की बौछार के बाद उस युवती ने बताया कि वह एक आश्रयहीन विधवा है। आज वह अत्यन्त कामार्त्ता हो गई है। काम के दुर्दमनीय आवेग के कारण इस आधी रात में वह यहाँ पहुँची है। बाबाजी महाराज ने क्रोधित होकर कहा, तुम्हारी कामवासना जाग्रत हुई है तो तुम किसी गृहस्थ के घर भी तो जा सकती हो—यहाँ सर्वत्यागी साधुओं के पास तुम क्यों आयी ?

युवती मिनमिनाती हुई कहने लगी, महाराज की अपूर्व कांति देखकर मैं मुग्ध हो गई। आपके दर्शन के बाद ही मेरी कामवासना

उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। आप कृपाकर मेरी कामवासना तृप्त करें, यही मेरी आन्तरिक प्रार्थना है।

काठियाबाबा अबतक धैर्य धारण किये हुए उस रमणी की बातें सुन रहे थे। अब उनके धैर्य का बांध टूट गया। अतिशय क्रुद्ध होकर चेला गरीबदास को पुकारा और कहा, "तुम कुछ दूर चले जाओ, मैं इस पापिनी को अपनी सिद्धाई कुछ दिखा देता हूँ। यह साधु का साधुत्व हरण करना चाहती है। किन्तु साधु का सामर्थ्य कितना भयंकर हो सकता है, यह आज मैं इसे दिखा देता हूँ।

भय से संत्रस्त होकर उसी क्षण उस तरुणी ने रोना शुरू किया। हाथ जोड़कर अश्रुरुद्ध कण्ठ से उसने निवेदन किया कि यह दुष्कर्म उसने अपनी इच्छा से नहीं किया है। कुछ कुचक्री व्रजवासियों ने षड्यंत्र करके उसे काठियाबाबा के निकट भेजा है। महाराज कामवासना को जीतने में समर्थ हुए हैं या नहीं, इसी की परीक्षा वे लोग लेना चाहते थे। रमणी बार-बार काठियाबाबा से क्षमायाचना करने लगी।

बाबाजी महाराज ने सब कुछ सुनकर दृढ़ कंठ से कहा "अच्छा, अभी ही तुम यहाँ से चली जाओ। फिर कभी किसी साधु के पास यह भाव लेकर नहीं जाना। जान रखो, सब साधु एक समान नहीं होते—किन्तु उनमें कोई-कोई योगिराज भी हैं।" रमणी ने काँपते हुए हृदय से वहाँ से भागकर जान बचायी।

व्रजभूमि के सब लोगों के साथ काठियाबाबा का अत्यन्त सख्य-भाव था। उनके गांजा-चरस के अड्डे पर बहुत से लोग आकर एकत्र होते थे—बाबाजी के साथ उनका हास्य कौतुक चलता रहता। गोसाँई नामक एक व्यक्ति भी रोज वहाँ आया करता था। वह वृन्दावन का एक नामी पुराना बदमाश था। चौदह वर्ष का कालापानी की सजा भुगत कर भी उसकी अपराध प्रवृत्ति में लेशमात्र कमी नहीं हुई थी। जितने वृन्दावनवासी थे सब उसके दौरात्म्य से भयभीत थे। एक दिन

जोरों से गाँजे के दम-पर-दम चल रहे थे। बाबाजी की इस धूम्रपान बैठक के एक विशिष्ट सदस्य थ पहलवान छन्नू सिंह। वह सहसा बोल उठे, "बाबाजी, आपके समान महात्मा एवं सिद्धपुरुष के यहाँ रहते हुए भी डाकू गोसाँई के चरित्र में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है। उसके अत्याचारों से आप कृपया व्रजवासियों की रक्षा करें।" विनयपूर्वक कही गई इन बातों का बाबाजी के अन्तस्तल पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। इसके साथ ही महापुरुष की करुणाघन की मूर्त्ति व्यक्त हो आई। कुछ क्षणों के बाद ज्यों ही गोसाँई वहाँ उपस्थित हुआ, काठिया-बाबा सस्नेह उससे पूछ बैठे, "गोसाँई, तुम साघ बनकर वास्तविक आनन्द का स्वाद लेना चाहता है? चोरी–डकैती छोड़कर तुम मेरा चेला बनेगा?" करुणाभरी हुई इस वाणी में कौन-सा जादू छिपा हुआ था। यह कौन जाने? गोसाँई की सम्पूर्ण सत्ता में इस वाणी ने एक आलोड़न की सृष्टि कर दी।

कुछ समय तक चुप रहकर उसने आवेग कम्पित स्वर में कहा, "महाराज, मैंने जीवन में जितने कुकर्म किये हैं, उतने और कोई मनुष्य नहीं कर सकता। यह सब जान-सुनकर भी क्या सचमुच तुम मुझ पर कृपा करोगे, अपना चेला बना लोगे?"

उस दुर्धर्ष अपराधी के जीवन में उस दिन परम शुभ क्षण उपस्थित हो आया है। कृपामय महापुरुष ने मन्द मुसकान के साथ उसको कहा, "हाँ रे हाँ। मैं सचमुच तुम्हें अपना चेला बनाऊँगा। आज ही, अभी बाजार जाकर तुलसी की कण्ठीमाला ले आओ।"

गोसाँई का दीक्षादान उसी दिन हो गया। साथ-ही-साथ उसके जीवन में अपूर्व रूपान्तर देखकर व्रजवासीगण अत्यन्त विस्मित हुए। उसकी लूट-पाट की प्रवृत्ति न मालूम कहाँ लुप्त हो गई। काठियाबाबा के दिव्य स्पर्श ने इस दुर्वृत्त को एक प्रेमिक साधु के रूप में परिणत कर दिया।

यमुना तट के एक एकान्त स्थल में गोसाँई के दिन भजन-पूजन में व्यतीत होने लगे। वह अब एक बिलकुल नया आदमी बन गया था।

अपने पुराने जीवन के कुकृत्यों को वह सहज भाव से सब लोगों को सुनाया करता था। अपनी चोरी-डकैती की नाना कहानियों को स्वर-चित गीत का रूप देकर सबके साथ गाते हुए आनन्द का उपभोग करता। दस्यु का रूपान्तर एक सदानन्दमय महावैरागी पुरुष के रूप में हो गया था। जन साधारण हँसी में उसे चोर गोसाईं कहा करते थे। वृन्दावन में दुर्वृत्त पाखण्डी के इस रूपान्तर की काठियाबाबा की एक आश्चर्यजनक कीर्त्ति के रूप में बड़ी प्रसिद्धि थी।

८८ यमुना घाट पर बाबाजी की सभा में बहुत लोगों का समागम होता रहता था। भक्तों के साथ-साथ गांजा-चरस के लोभ से आनेवालों की संख्या भी कम नहीं होती थी। बाबा के निकट दर्शनार्थियों की भीड़ और भोज्य-वस्तुओं का संभार देखकर चोरों को सन्देह होता कि इनके पास सञ्चित धन भी कम नहीं होगा। इस सञ्चित धन की खोज में वे कभी-कभी रात में टोह लेने में भी बाज नहीं आते। आश्चर्य की बात तो यह थी कि ये दुर्वृत्त ही दिन में बाबाजी के पास बैठकर गाँजा-चरस उड़ाया करते थे।

एक बार एक दल के तस्करों के साथ बाबाजी का प्रबल विवाद हो गया। वे संख्या में तीन थे। उत्तेजित होकर दुर्वृत्त दल कहने लगा, "बाबाजी, तुम हमलोगों को इस प्रकार धमकी देते हो। इसका फल एक दिन रात को तुम्हें अच्छी तरह मिल जायगा।"

काठियाबाबा गरज कर बोले—ठीक तो है। इन चोरों का सिर एक बारगी आसमान पर चढ़ गया है। साधुओं को धमकाने से भी ये नहीं चूकते। 'देखना, आज ही तुम लोग पुलिस के हाथ गिरफ्तार होगे।" चोरों ने उपेक्षा की हँसी हँसते हुए कहा—"हमे थाना पहुँचा सके, ऐसी शक्ति किसी में नहीं है।"

आश्चर्य की बात! ठीक उसी दिन पहले के एक अपराध के अभि-योग में वे तीनों व्यक्ति पुलिस द्वारा गिरफ्तार हो गये। अभियोग गम्भीर था, रिहा पाना उनके लिए कठिन था। किसी प्रकार जमानत

पर छूटकर उनमें से दो काठियाबाबा के पाँवों पर गिर पड़े। सविनय बार-बार क्षमाप्रार्थना करने लगे।

बाबाजी महाराज का क्रोध शान्त होते देर नहीं लगी। बोले, "अच्छा, ठीक है। किन्तु तुम्हें प्रतिज्ञा करनी होगी कि आज से कभी चोरी-डकैती नहीं करोगे, और साधुओं की मर्यादा की रक्षा करोगे।" दोनों ने उसी क्षण इसे मान लिया। मुकदमे की सुनवाई के दिन देखा गया—काठियाबाबा की शरण में आये हुए दोनों व्यक्ति छूट गये और तीसरे अपराधी को कठोर कारादण्ड मिला। \\

" कुछ समय बाद की घटना। एक दिन वे मथुरा के मार्ग से होकर जा रहे थे। देखा, उनके पूर्व परिचित तीसरे चोर की कमर में जंजीर बन्धी हुई है। राजमार्ग की मरम्मत के काम में उसे लगाया गया है। काठियाबाबा को देखते ही वह फूट-फूटकर रोने लगा। साश्रुनयन बार-बार प्रार्थना करते हुए कहने लगा "बाबाजी महाराज; हम व्रजवासी हैं—सब तुम्हारे बालक, नितान्त अबोध, रुष्ट होकर हमें इस प्रकार कठिन दण्ड दिलाना क्या तुम्हारे लिए उचित हुआ है?"

उस व्यक्ति के क्रन्दन को सुनकर बाबा का हृदय पिघल गया। कहने लगे, "अच्छा, अच्छा। साधु-संतों का फिर कभी अनादर नहीं करना। जाओ, आज से तीन दिन के अन्दर तुम जेल से छूट जाओगे।" चकित होकर बन्दी ने कहा, "महाराज, यह आप क्या कह रहे हैं? यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है? मामले की अपील की थी, वह भी खारिज हो गई। छूटने की तनिक भी मुझे आशा नहीं है।"

बाबाजी उत्तेजित होकर तिरस्कार के स्वर में बोल उठे, "क्या संतों के वचन में तुम्हें अब भी विश्वास नहीं? मेरा वचन कभी झूठा नहीं होगा।"

ठीक तीसरे दिन कैदी कारामुक्त हो गया। सरकार की ओर से किसी कारण आदेश जारी किया गया था कि हर जेलखाने से तीन-तीन कैदी शीघ्र छोड़ दिये जायँगे। उन तीन कैदियों में इस कैदी का भी नाम था जिसे बाबा ने क्षमा कर दी थी। \\

काठियाबाबा का गांजा और चरस पीना एक अद्भुत व्यापार था। धुनी की आग की तरह उनकी बैठक में चिलम की आग भी कभी बुझती नहीं थी। किन्तु बाबाजी महाराज के सम्बन्ध में एक विलक्षण बात सब को दिखाई पड़ती थी। दिनभर गांजा-चरस पीते रहने पर भी उनके नेत्र कभी रक्तिम नहीं दिखाई पड़ते थे। प्रशान्त मुखमंडल से सदा आनन्दप्रभा विकीर्ण होती रहती था।

एक बार वृन्दावन में कुम्भमेला हो रहा था। इस अवसर पर देश के कोने-कोने से हजारों वैष्णव व्रजधाम पहुँचते हैं और व्रजभूमि की परिक्रमा करते हैं। इसी समय वहाँ एकत्र वैष्णव साधुओं के समर्थन से श्री १०८ स्वामी रामदास काठियाबाबा वृन्दावन में महंत पद पर अभिषिक्त हुए।

विभिन्न प्रकार के उत्सव एवं आनन्द-अनुष्ठान के बीच मेलाक्षेत्र में किसी व्रजवासी ने एक कौतुकप्रद प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए लोगों का आह्वान किया। एक बहुत बड़ी चिलम को सीवाड़ में बाँध कर वटवृक्ष की डाल में लटका दिया गया। उसके अन्दर सवा सेर चरस रखी हुई था। चिलम के ऊपर और नीचे सजाकर सवा सेर के दो तमाखू के स्तर थे। इस चिलम में से धुआँ बाहर करने की शक्ति किसी साधु में है या नहीं, प्रतियोगिता के प्रवर्त्तक यही देखना चाहते थे। इस चिलम में से धुआँ निकालना एक असम्भव व्यापार था—व्रजभूमि के बड़े बड़े धुरन्धर साधुओं ने भी उस दिन अपनी हार मान ली। इसमें से धुआँ निकालना किसी के वश की बात नहीं थी।

वृन्दावन के विशिष्ट व्यक्तियों ने काठियाबाबा को पकड़ा और उनसे विशेष रूप में आग्रह किया कि इस बल-परीक्षा में उन्हें सफल होना होगा। अन्यथा उन सबका सिर नीचा हो रहा है। काठियाबाबा उत्साह और आनन्द के साथ आगे बढ़े। उन्होंने जोर से चिलम में दम लगाया और तुरन्त उसके ऊपर आग जल उठी। चारों ओर उनकी जय-जयकार गूँज उठी। आध्यात्मिक एवं शारीरिक बल, दोनों में काठियाबाबा उस समय के वैष्णव समाज में चिरकाल से अप्रतिम थे।

काठियाबाबा के चरसपान की एक और मजेदार घटना है। उस बार वे अपने शिष्य गरीबदास के साथ भरतपुर से वृन्दावन लौट रहे थे। दोनों के पास लगभग दो सेर चरस थी। कानून के अनुसार इतनी चरस रखना निषिद्ध था। मार्ग में गुरु और शिष्य पुलिस द्वारा पकड़ लिये गये। मजिस्ट्रेट के सामने दोनों को उपस्थित किया गया।

साहब ने प्रश्न किया, इतने अधिक परिमाण में चरस लेकर साधु क्या करेगा? उत्तर मिला—यह माल दो दिनों की खुराक है। साहब को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। जबतक वे प्रत्यक्ष नहीं देख लेते तबतक छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। एक चिलम में लगभग एक पाव चरस रख कर बाबाजी ने जोर से दम लगाया। धक् से आग जल उठी।

यह देखकर साहब दंग रह गये। केवल एक बार चिलम में इतनी मात्रा में कोई चरस पी सकता है, यह उनकी धारणा के परे था। उन्होंने समझा—साधु की यह दैवीशक्ति है। प्रसन्न होकर कहा, "अच्छा, साधु तुम चले जाओ। इस चरस के लिए तुम्हें कोई मार्ग में रोकटोक न करे, इस वास्ते मैं एक आदेशपत्र दिये देता हूँ।" किन्तु यहाँ सुनता ही कौन है? बाबाजी महाराज ने आत्मविश्वासपूर्वक कहा, "साहब, मुझे इस आदेशपत्र की जरूरत नहीं है। कोई यदि रास्ते में पकड़ेगा, तो डरने की बात क्या है? फिर इसी तरह चिलम पर फूँक दूँगा।" साहब ठठा कर हँसने लगे।

काठियाबाबा के गाँजा और चरस पीने की अनेक कहानियाँ साधु एवं भक्तमण्डली में प्रायः सुनी जाती थीं। और सब लोग यह जानते थे कि विपुल परिमाण में तेज नशीली चीज पान करने पर भी उनके शरीर या मन में कोई विकार नहीं देखा जाता था। किन्तु दीर्घकाल के इस प्रचण्ड नशा के अभ्यास का बाबाजी ने एक क्षण में ही परित्याग कर दिया। एक बार वे कुछ अस्वस्थ हुए और चिकित्सक के कहने मात्र पर नशा पीना छोड़ दिया।

" "एक बार संतदास महाराज ने काठियाबाबा से प्रश्न किया, दो-चार बार गांजा-चरस का दम लगाने से दूसरे साधु नशा में झूम उठते हैं, और आप लगातार दम लगाते रहने पर भी किस प्रकार स्वाभाविक अवस्था में बने रहते हैं ?"

काठियाबाबा ने उत्तर दिया, 'बाबा जिस पर भगवान का अमल चढ़ गया उस पर और कोई अमल चढ़ता नहीं।" "

" उज्जैन में एकबार कुंभमेला लगा। इस मेले में एक शक्तिधर शैव संन्यासी की ख्याति फैल गई थी। इनकी अलौकिक शक्ति एवं योग-विभूति के प्रति आकृष्ट होकर उज्जैन के राजा नें उन्हें अपना गुरु बनाया। इससे उत्साहित होकर शैव संन्यासीगण मेलाक्षेत्र में सर्वेसर्वा बन गये। केवल इतना ही नहीं, उनमें से कुछ ने उद्धत भाव से वैष्णव संन्यासियों को निकाल बाहर करना शुरू किया।

चिरकाल की प्रथा के अनुसार वृन्दावन के महंत को कुंभमेला में उपस्थित होना पड़ता है। इसलिए कतिपय वैष्णव साधुओं के साथ काठियाबाबा उज्जैन जा रहे थे। मार्ग में वैष्णव साधुओं की कई जमात के साथ उनको मुलाकात हुई। साधुओं ने खिन्न मन से शैव संन्यासियों के अत्याचार की बात उन्हें कह सुनायी।

सारी बातें सुनकर बाबाजी महाराज क्रोधोद्दीप्त हो उठे। उन्हें धिक्कारते हुए कहने लगे—व्यर्थ तुम लोग साधु हुए हो। जो लोग मृत्यु से इतना अधिक डरते हैं उनके लिए घर का कोना ही उपयुक्त स्थान है। कुंभमेला में अपने अधिकार के लिए तुम्हें लड़ना उचित था। मर भी जाते तो क्या बिगड़ता—विष्णु का नाम लेकर वैकुण्ठ चले जाते। कापुरुषो। तुम लोगों ने अपना सिर तो नीचा किया ही, इष्टदेव विष्णु की मर्यादा को भी क्षुण्ण किया है।

बाबाजी महाराज की इन तीक्ष्ण बातों को सुनकर साधुगण तिल-मिला उठे। मेलाक्षेत्र मे पुनः अपना स्थान अधिकृत करने के लिए

वे उद्धत हो गये। कहीं से एक हाथी माँगकर ले आये और उत्साहपूर्वक महंत रामदास काठियाबाबा को उस पर सवार कराया। हाथी के पीछे-पीछे वैष्णव साधुओं का एक विराट् जुलूस चला।

काठियाबाबा के नेतृत्व म साधुओं की यह 'फौज' मेलाक्षेत्र में पहुँची, पहुँचते ही एक आश्चर्यजनक बात देखी गयी। हाथी पर समासीन बाबाजी महाराज की दिव्य प्रशांत मूर्ति देखकर उद्धत संन्यासीगण क्षणभर के लिए स्तब्ध एवं निष्क्रिय बन गये। लड़ने-भिड़ने की बात तो दूर रही, भीतसंत्रस्त होकर वे मेलाक्षेत्र में अपनी-अपनी सीमा के अंदर चले गये। काठियाबाबा का व्यक्तित्व एवं अध्यात्मशक्ति ने उस दिन लाखों साधु-संन्यासियों में जादू जैसा एक चमत्कार उत्पन्न कर दिया।

बाबाजी महाराज एक बार अपने कई शिष्यों के साथ किसी एक साधु जमात में चल रहे थे। रात्रि शेष में नित्यकृत्य से निवृत्त तथा इष्टपूजा समापन करके सब लोग यात्रा आरम्भ करते थे। एक ग्राम से दूसरे ग्राम में परिव्राजन। दोपहर दिन में किसी छायायुक्त सरोवर के किनारे डेरा डाला जाता था। ग्रामवासी साधु-संतों के दर्शन एवं दण्डवत् करके उनके भोजन की व्यवस्था करते थे। गृहस्थों द्वारा दी गई भेंट की वस्तुओं को लेकर कभी-कभी साधुओं में लड़ाई-झगड़ा भी हो जाया करता था।

जमात के साथ एक परमहंसजी भी चल रहे थे। एक दिन काठिया-बाबा को बुलाकर परमहंसजी उनके प्रति व्यंग्यात्मक वाक्यों का प्रयोग करने लगे—वैष्णव सम्प्रदाय मे वास्तविक वैराग्य नहीं के बराबर है—पेट की चिन्ता में ही वे दिनभर लगे रहते हैं, और इसको लेकर कलह, विवाद करने में उनका समय बीत जाता है।

बाबाजी ने विचार किया, इस अहंकारी परमहंस को कुछ शिक्षा मिलनी चाहिये। उन्होंने दैन्यभाव से हाथ जोड़कर परमहंसजी से कहा, "महाराज, प्रकृत वैराग्य क्या वस्तु है, यह आप मुझे समझा दें। आज से मैं आपके निदशानुसार ही चलूँगा, आपके आसन के समीप ही बैठा रहूँगा।"

इस पर परमहंसजी ने बाबाजी के सामने वैराग्य, त्याद एवं तितिक्षा पर एक गम्भीर, सुन्दर वक्तृता दे डाली। इसी बीच चतुर काठियाबाबा ने एक मजेदार काम किया। उन्होंने चुपचाप वैष्णव साधुओं से कह दिया, "तुमलोग जान रखो, आज से जमात के भोजन के मामले में ऋद्धि-सिद्धि कोई क्रिया नहीं होगी—एक मूत्ति के लिए भी भोजन नहीं आयगा। तुमलोग जिसको जैसी सुविधा हो गाँव के गृहस्थों के घर जाकर अपने लिए आटा, घी, दाल आदि संग्रह करके भोजन-क्रिया समाप्त कर लेना।"

उन्होंने ठीक ऐसा ही किया। दिन-पर-दिन बीतने लगे। ग्रामवासियों में जमात के लिए भोज्य पदार्थ संग्रह करके लाने की अब पहले जैसी व्यस्तता नहीं देखी जाने लगी। साधु लोग गाँव में जाकर भोजन कर लेते थे, किन्तु काठियाबाबा और परमहंसजी अपना आसन छोड़कर कहीं नहीं जाते। उनके सामने पहले की तरह भेंट की वस्तुएँ भी नहीं आतीं। इधर परमहंसजी दिन-पर-दिन केवल जलपान करके संतोष करने लगे। उनका शरीर एकदम अवसन्न हो गया। किन्तु काठियाबाबा बिना कुछ खाये-पीये भी ज्यों-के-त्यों बने रहे। गाँजे का दम पर दम लगाते हुए वे परम आनन्द से दिन बिताने लगे। इधर कई दिनों के अंदर ही परमहंसजी का हाल बेहाल हो रहा था। भूख से विकल होकर मृतवत् हो रहे थे। एक दिन उन्होंने बाबाजी महाराज से कहा, "बाबा, आज मेरे प्राण नहीं बचेंगे। तुम शीघ्र ग्राम से कुछ भोजन संग्रह करके ले आओ।" काठियाबाबा ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा, "महाराज, उस दिन वैराग्यतत्त्व की व्याख्या करते हुए आपने मुझे बताया था कि किसी से कुछ याचना नहीं करनी चाहिये। फिर आज आपका विचार बदल कैसे गया?"

अब तक परमहंसजी एकबारगी नरम हो चले थे। काठियाबाबा के निकट अपना अपराध स्वीकार करके वे क्षमा-प्रार्थना करने लगे। बाबाजी महाराज ने तब प्रसन्न होकर कहा, "महाराज, आप निश्चिन्त हो जायँ, आज ही गाँव के गृहस्थ जन बहुत से भोज्य पदार्थ लेकर

यहाँ आ रहे हैं। ऋद्धि-सिद्धि की क्रिया अब पूर्ववत् होने लगेगी। किन्तु स्मरण रखें, बाह्य आचरण देखकर वैष्णव साधक के सम्बन्ध में विचार करना कभी ठीक नहीं। ये बड़े चतुर होते हैं और इनकी लीला भी बड़ी गोपनीय, बड़ी चातुर्यपूर्ण होती है। किस वैष्णवमूर्त्ति में कौन सा विराट् पुरुष अधिष्ठित हैं, यह सबके लिए जानना संभव नहीं है।"

काठियाबाबा ये सब बातें कह ही रहे थे कि इसी समय देखा गया—गाँव के कुछ लोग बहुत सा खाद्य पदार्थ लेकर वहाँ पहुँच गये हैं और सब साधुओं को दण्डवत कर रहे हैं। इस प्रकार की नाना लीला और कौतुक के बीच काठियाबाबा का योगैश्वर्य विभिन्न स्थानों में प्रकट होता रहता। >>

<< वृन्दावन के केदारवन अञ्चल में एक पुराना बगीचा था। इसके मालिकों ने आश्रम बनाने के लिए काठियाबाबा को वह बगीचा देना चाहा। उस समय महाराजजी यमुना तट पर गङ्गा कुञ्ज में वास कर रहे थे। प्रस्ताव सुनकर उन्होंने कहा, "मैं यमुना तट छोड़कर वहाँ जा सकता हूँ, यदि तुमलोग वह स्थान मुझे दान कर दो।" मालिक लोग राजी हो गये। काठियाबाबा ने इस बगीचे में खड़ की एक छावनी बनाकर आश्रम स्थापित किया। इस छोटी-सी कुटिया में ही धुनी प्रज्वलित हुई। यही वृन्दावन में विख्यात श्री १०८ स्वामी रामदास का अपना आश्रम हुआ। उस समय आश्रमवासियों की संख्या इनी गिनी थी—गरीबदास प्रेमदास ये दो चेले और गङ्गा नाम की दूध देने वाली एक गाय।

सेवक-शिष्यों के साथ बाबाजी का जो सम्बन्ध था वही सम्बन्ध एवं योगसूत्र इस गाय के साथ भी था। एक बार प्रयाग में कुम्भमेला हो रहा था। मेला में काठियाबाबा भी सम्मिलित हुए थे। साथ में शिष्यगण तथा गङ्गा गाय थी। माघ का महीना, नदी के बालुका तट पर शीत का प्रचंड प्रकोप। एक दिन तड़के देखा गया—बाबाजी नग्न देह बैठे हुए हैं और उनका कंबल गाय के शरीर से जड़ित है।

विजयकृष्ण गोस्वामी का एक शिष्य इस समय काठियाबाबा

को दण्डवत् करने आया हुआ था। विस्मित होकर आगन्तुक भक्त ने पूछा, "महाराज, इस कड़ी सर्दी में आप इस प्रकार कष्टभोग क्यों कर रहे हैं? अपना कंबल गाय को क्यों ओढ़ा दिया है? ये पशु तो नंगे रहने के ही अभ्यस्त होते हैं।"

काठियाबाबा ने उत्तर दिया, "बेटा, देख नहीं रहे हो इस बार कैसी सर्दी पड़ रही है। ये पशु मूक हैं, ये कुछ बोल नहीं सकते। इसलिए ही तो मुझे इस पर दृष्टि रखनी होती है। इसके सिवा मेरे लिए तो धुनी है, देह में विभूति लगी हुई है। मुझे अधिक ठंढ नहीं मालूम होती।"

"किन्तु बाबा, सुदुर वृन्दावन से आप इस गाय को व्यर्थ ही कुम्भ-मेला क्यों ले आये?"

"मैं इसे क्यों लाया, इसके लिए ही तो मुझे कष्ट करके पैदल आना पड़ा है—अकेला तो मैं रेलगाड़ी पर चढ़ कर ही आराम से चला आता। किन्तु इस गाय के कारण ही तो झंझट हुई। इसने मेरी ओर करुणा भाव से देखकर कहा,—'तुम कुम्भमेला में चले जाओगे, और मुझे साथ नहीं ले जाओगे? तुम्हारे साथ मेला जाने की मेरी भी बड़ी इच्छा है।' क्या करता? बाध्य होकर इसी लिए इसके साथ पैदल रास्ता मुझे तय करना पड़ा। किन्तु इससे मुझे कुछ कष्ट नहीं हुआ।" मनुष्य एवं पशु जीवन के बीच सब प्रकार का भेदभाव इन समदर्शी ब्रह्मज्ञ पुरुष की दृष्टि से विलुप्त हो गया था।))

((शिष्य गरीबदास काठियाबाबा की सेवा प्राणपण से करते थे। एक-निष्ठ गुरुसेवा द्वारा ही वे अध्यात्म साधना के उच्च स्तर पर पहुँचे थे। किन्तु इस निष्ठावान साधक के प्रति काठियाबाबा के कठोर व्यवहार का अंत नहीं था। गरीबदास के ऊपर रसोई का भार था। प्रायः ऐसा देखा जाता, बाबाजी महाराज उसकी अनुपस्थिति में बर्तन और खाद्य पदार्थ आदि उलट-पुलट देते और गरीबदास पर डांट-फटकार किया करते। छल करके सारा दोष गरीबदास के ऊपर मढ़ दिया जाता।

व्रज-परिक्रमा के दिनों में गरीबदासजी की सेवानिष्ठा एवं त्याग-तितिक्षा देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। दिन की कड़ी धूप में गरीबदास बाबाजी के सारे सामान को अपने कंधे पर ढोये हुए चलते। संध्या में दिनभर के परिश्रम के बाद बिना कुछ खाये-पीये उन्हें अपने साथी भक्त वैष्णवों के लिए रसोई बनानी पड़ती। ऐसे समय में ही एक बार उनके धैर्य की परीक्षा लेने के लिए काठियाबाबा भोजन करने बैठे और एक महाअनर्थ कर डाला। रोटी ठीक तरह से नहीं बनी है, यह कहकर उन्होंने रूक्ष भाव से उनका तिरस्कार करना शुरू किया। अश्लील गाली-गलौज के बाद लाठी लेकर उनके मस्तक पर प्रहार करने से भी बाज नहीं आये। इतने पर भी गरीबदास का धैर्य भंग नहीं हुआ। गुरु के चरणों पर गिरकर वे रोते हुए कहने लगे, "महाराज, सब अपराध मेरा है। कृपा करके मुझे क्षमा कर दें।"

किन्तु बाहर के इस रोष क्रोध ने बाबाजी के अंतर के प्रेम-बंधन को अणुमात्र भी शिथिल नहीं किया था। एक बार गरीबदास को पीटने के बाद उनकी पीड़ा देखकर तीन दिनों तक उन्होंने कोई आहार ग्रहण नहीं किया। इस सम्बन्ध में उन्होने कहा। गरीबदास इस अंतिम परीक्षा से उत्तीर्ण हुआ, यह देखकर उस दिन मैं उस पर बहुत प्रसन्न हुआ। समझा; गुरु से वर प्राप्त करने का समय उसके लिए आ गया है। इस बार मैं उसे वरदान दूँगा। किन्तु इसके बाद फिर सोचकर देखा, इसने इतनी परमशान्ति अपने अंतर में प्राप्त कर ली है कि इसे अब इस दुःखमय संसार में रखकर दुःख-कष्ट क्यों भोग करने दिया जाय? बैकुण्ठलाभ के यह उपयुक्त हो गया है, तब यह बैकुण्ठ ही क्यों न चला जाये, अन्य वर देकर और क्या होगा? इसलिए और कोई वर उसे नहीं दिया।" सद्‌गुरु ने उस दिन यह नहीं चाहा कि भक्त गरीबदास की परमप्राप्ति एवं बैकुण्ठगमन में विलम्ब हो।

शिष्य के प्रति कठोर वचन एवं निष्ठुर व्यवहार में प्रेम का

जो प्रकाश प्रकट होता है, संसार के साधारण मनुष्य उसे सहज ही समझ नहीं सकते। बाबाजी महाराज के प्रधान चेला संतदास ने एक बार गुरुजी से जब इस सम्बन्ध में प्रश्न किया तब उन्होंने बड़ा चमत्कारपूर्ण उत्तर दिया। उन्होंने कहा, "बाबा, इसमें ही वास्तविक प्रेम, कल्याणकारी प्रेम प्रकट होता है। गुरु गालियाँ देते हैं, निष्ठुर प्रहार करते हैं, चित्त को निर्मल करने के लिए, क्रोध एवं अहंकार का मूलोच्छेद करने के लिए और दयालु गुरु इसके लिए अपने को अत्यन्त कठोर एवं अत्याचारी के रूप में परिचित कराते हैं। शिष्य के प्रति प्रेम के कारण ही तो यह बदनामी वे अपने ऊपर लेते हैं।" ऐसा कहते हुए उन्हें अपने गुरु का स्मरण हो आता था और उनके दोनों नेत्र सजल हो उठते थे। गद-गद् कण्ठ से वे कहा करते—"मेरे गुरुजी परम कृपालु थे। उनमें मोह नहीं था, था शिष्य के प्रति निर्मल कल्याणकर प्रेम। जान रखो, प्रेम और मोह एक वस्तु नहीं है।"

काठियाबाबा के एक सेवक भक्त प्रेमदासजी को लेकर एक बार बड़ा बखेड़ा हो गया। प्रेमदासजी पंडितों की किसी एक सभा में गये जहाँ धर्म-शास्त्रों की ज्ञानमार्गीय व्याख्या हो रही थी। यह सुनकर वे भक्तिमार्ग से कुछ विचलित जैसे होने लगे। ज्ञानी एवं स्वातन्त्र्यवादी पुरुष की तरह उस समय उनका मनोभाव हो गया था। खाद्या-खाद्य के सम्बन्ध में नियम निष्ठा मान कर चलने की अब उनकी इच्छा नहीं थी। सब भूतों में ब्रह्म है, इसलिए व्यक्ति-विशेष या किसी प्रतिमा के प्रति श्रद्धाभाव धारण करने से क्या लाभ—इस प्रकार की अनेक बातें करते हुए वे देखे जाते थे। शिष्य के इन कथनों की ओर काठियाबाब का ध्यान आकृष्ट किया गया, उन्होंने केवल संक्षेप में इतना ही उत्तर दिया, "उसकी बात क्या सुनूँ; वह तो बिलकुल पागल हो गया है।"

बाबाजी के मुँह से ये बातें निकलने के साथ-साथ प्रेमदास में उन्माद के लक्षण प्रकट होने लगे। बिना खाये, बिना सोये वे दिन-

रात वन-जंगल में चक्कर लगाने लगे और उन्मत्त भाव से चीत्कार करने लगे। गरीबदास ने एक दिन अपने इस हत-भाग्य गुरुभाई को बड़ी शोचनीय अवस्था में रास्ते में देखा। उन्हें पकड़ कर गुरु महाराज के समीप ले आये और सविनय भाव से बोले; "महाराज, यह आपका एकदम अबोध बालक है—बालगोपाल। इसके प्रति आप कृपा करें। उन्माद रोग के आक्रमण से आप इसकी रक्षा करें।"

पहले तो इस अनुरोध को सुनकर काठियाबाबा क्रोध से आगबबूला हो उठे। उत्तेजित स्वर में कहने लगे, "मैं तो वैद्य नहीं हूँ, रोगी का भार मेरे ऊपर क्यों लादते हो? किन्तु, गरीबदासजी के करुण आवेदन ने अन्त में उन्हें पिघला दिया।" वे बोल उठे, "अच्छा ऐसा ही होगा। कुटीर के एक कोने में ठाकुरजी का प्रसाद रखा हुआ है। उसे खिला दो, रोग से इसी समय मुक्त हो जायगा। वह अवश्य ही कुछ समय से भगवान के प्रसाद की महिमा को नहीं मानने लगा था। फिर भी उसे खिलाकर दिखा दो कि सचमुच माहात्म्य है या नहीं।"

प्रसाद प्रेमदासजी के मुख में डाल दिया गया। किन्तु रोग के कारण वह प्रसाद उस समय उन्हें स्वाद में अत्यन्त तीता लग रहा था। उसका थोड़ा-सा अंश ग्रहण करने के बाद वे और ग्रहण करना नहीं चाहते थे। काठियाबाबा कुछ क्षणों तक उस की ओर एकटक देखते रहे, फिर दृढ़ स्वर में बोले, "खाओ खाओ"। एक बार देखो तो इसका स्वाद कैसा है। प्रेमदासजी धीरे-धीरे यह प्रसाद ग्रहण करने लगे। इस बार उन्हें इसका स्वाद अमृत के समान प्रतीत होने लगा। भोजन-पत्र समाप्त हो जाने के साथ-साथ देखा गया कि प्रेमदास का उन्माद रोग एकबारगी दूर हो गया है।

बाबाजी महाराज मन्द मुसकान के साथ प्रेमदास से कहने लगे; "अरे तुम तो क्या-क्या बकते हुए घुमते-फिरते थे; सब वस्तुओं को एक समान बताते थे। कहो। इस बार भगवान के प्रसाद की महिमा

और उसकी विशेषता देख ली न? इसीलिए तो वैष्णवों में इतना शुद्धाचार है। वे पवित्र होकर भगवान को भोग लगाते हैं। अन्य खाद्य के साथ क्या इसकी कोई तुलना हो सकती है? ऐसी वस्तु का माहात्म्य सब लोग किस प्रकार समझ सकते हैं?"

शिष्यों के ऊपर महाराज की दृष्टि सदा सतर्क एवं सजग रहती थी। उनके जीवन में रूपान्तर लाने के लिए नाना अलौकिक कार्यों के बीच वे अपनी करुण-लीला का विस्तार करते देखे जाते थे। प्रेमदासजी के मौनी जीवन के अध्याय को केन्द्र करके इसका एक अपूर्व निदर्शन एक बार देखा गया। यह सेवक शिष्य साधु चरित एवं धर्मनिष्ठ होने पर भी कुछ-कुछ क्रोधी स्वभाव का था। खासकर, गाँजा-चरस पीने पर उसके क्रोध की मात्रा बढ़ जाती थी। एक दिन नशा के झोंक में आकर उसने पड़ोस के कई व्रजवासियों को मन-मानी गालियाँ दीं। बाबाजी ने उसे समीप बुलाकर कहा, "अरे तुम बड़े क्रोधी हो, तुम लोगों के साथ केवल लड़ते-झगड़ते रहते हो, आज से मौन धारण कर लो। बारह वर्षों तक तुम किसी के साथ बातें नहीं करोगे।"

परवर्त्ती काल में मौनीजी कहा करते थे—"बाबाजी महाराज के मुँह से ये बातें निकलने के साथ-साथ मुझे ऐसा लगा कि किसी ने मेरी जीभ में ताला लगा दिया है। मुझ में एक भी शब्द बोलने की शक्ति नहीं रह गई है। बाध्य होकर मुझे उस समय से बारह वर्षों तक मौनी बनकर रहना पड़ा।" मौनीजी के नाम से ही इस साधक ने वृन्दावन में प्रसिद्धि प्राप्त की।

एक बार एक विषधर साँप ने मौनीजी को डस लिया। आश्चर्य की बात कि विष की ज्वाला से विकल होने पर भी काठियाबाबा के इस शिष्य के मुँह से पीड़ासूचक एक वाक्य भी उस समय नहीं निकला। मौन-व्रत के बारह वर्ष बीत जाने पर बाबाजी महाराज ने भंडारा दिया।

आश्रम भवन में निमंत्रित सैकड़ों व्यक्ति उस दिन मौनीजी से

कहने लगे, "मौनीजी, आज तुम्हारा व्रत समाप्त हुआ, तुम सब के साथ एक बार बातें करो। किन्तु कहने से क्या होता है ? एक भी शब्द उच्चारण करने की शक्ति उनमें नहीं रह गई थी। आदेश प्रदान करने के साथ-साथ गुरुजी ने उनकी वाणी रुद्ध कर दी थी, शब्दोच्चारण की समस्त शक्ति ही लुप्त हो गई थी।

मौनीजी ने इशारे से सब लोगों को जता दिया कि बाबाजी महाराज कृपा करके वाक्य-शक्ति प्रदान करें तभी मेरे लिए बोलना सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं। अब काठियाबाबा उनके सामने उपस्थित होकर बोले; मौनी, तुम अब बोलो।" मौनीजी को तत्क्षण ऐसा बोध हुआ मानो किसी ने उनकी जीभ पर का ताला पल-भर में हटा दिया है। वाक्य-स्फूर्ति होने के साथ-साथ वे बोल उठे, "श्रीजी"। इसके बाद नितान्त स्वाभाविक रूप में वे सबके साथ बातें करने लगे। ''

'' एक समय मौनीजी ने अभिमानवश कुछ दिनों के लिए काठिया-बाबा के पास आना-जाना बन्द कर दिया। किन्तु शीघ्र ही अनुताप की ज्वाला से उनका अन्तर दग्ध होने लगा। आश्रम का काम-काज किस रूप में चल रहा है, बाबाजी महाराज की सेवा किस रूप में सम्पन्न हो रही है—इन सब बातों को दुश्चिन्ता उन्हें सताने लगी। इसके बाद मौनीजी अनुतप्त हृदय से आश्रम लौट आये।

इस समय बाबाजी महाराज अपने आसन पर लेटे हुए शयन कर रहे थे। मौनीजी समीप में बैठकर धीरे-धीरे उनकी पदसेवा करने लगे। अनुतप्त शिष्य के दोनों नयन आँसू से भरे हुए थे। बाबाजी ने उस समय एक विचित्र लीलाभिनय आरम्भ किया।

धीर करुणा कण्ठ से वे शिष्य को कहने लगे, "मैं वृद्ध हो चला, तुम मेरे समीप क्यों रहोगे ? मैं कष्ट से मर जाऊँगा, इसके बाद तुम आश्रम में लौट आना।"

मौनीजी के नेत्रों से उस समय अविरल अश्रुधारा बह रही थी।

एक हाथ से आँसू पोंछते हुए और दूसरे हाथ से वे गुरु की चरणसेवा कर रहे थे। किन्तु इसी बीच एक अलौकिक घटना हो गई। उन्होंने विस्मय-विमूढ़ होकर देखा कि उनके हाथ गुरु के चरणों पर नहीं पड़ रहे हैं। शून्य शय्या पर ही बार-बार उनके हाथ पड़ रहे हैं। बाबाजी महाराज का शरीर शय्या से न मालूम कहाँ गायब हो गया था। इसके बाद ही शिष्य का हृदय विह्वल हो उठा और वे फूट-फूट कर रोने लगे। गुरुजी के आकस्मिक अन्तर्धान से व्याकुल होकर वे आँसू बहाने लगे।

कुछ क्षणों के बाद फिर एक नया आश्चर्य ! मौनीजी ने देखा, गुरुजी पुनः सशरीर शय्या पर आ गये हैं और पूर्वत् निश्चल भाव से लेटे हुए विश्राम कर रहे हैं।

इस बार काठियाबाबा मौनीजी को लक्ष्य करके कहने लगे, "क्यों रे ? मेरे इस प्रकार चले जाने पर यदि तुम्हें प्रसन्नता हो तो कहीं मैं चला जाऊँ। इस वृद्ध को छोड़ कर यदि तुम लोग चले जाओगे तो बताओ इसकी कौन सेवा करेगा ?" मौनीजी ने मौन विस्मय भाव से श्रीगुरु की परिक्रमा करके उनके सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। उन्हें जान पड़ा कि महासमर्थ गुरुदेव के स्वरूप और उनकी लीला का तात्पर्य समझने की सामर्थ्य उनमें बिलकुल नहीं है।"

काठियाबाबा के श्रेष्ठ शिष्य एवं मानस संतान संतदास महाराज थे। इस शिष्य के जीवन में भी महाकारुणिक गुरुजी की अजस्र कृपा-धारा वर्षित हुई थी। उनकी अलौकिक योगविभूति की बहुत सी लीलाएँ विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकटित हुई थीं।

" सन्तदास महाराज के गृहस्थाश्रम का नाम ताराकिशोर चौधरी था। कलकत्ता हाईकोर्ट के एक लब्धप्रतिष्ठ वकील थे। आध्यात्मिक जीवन की परमप्राप्ति की आकांक्षा उनके मन में प्रबल हो उठी जिससे अपने परवर्त्ती जीवन में सब कुछ का त्याग करके वे काठियाबाबा के शरणापन्न हुए थे और अपने जीवन को धन्य बनाया था।

ताराकिशोरबाबू उस समय भी वकालत पेशा में लगे हुए थे. इस बीच केवल दो-एक बार बाबाजी महाराज के साथ उनका साक्षात् हुआ था। उस समय तक दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। महाराजजी ने उनसे रात्रि के चतुर्थ प्रहर में ध्यान करने के लिए कहा था, किन्तु पूर्व अभ्यास के कारण उस समय उनके लिए जाग उठना कठिन था। एक दिन अपने कमरे में मसहरी लगा कर वे सोये हुए थे। रात्रि के शेष में जब वे निद्रालस अवस्था में लेटे हुए थे तो उन्हें सुनाई पडा कि कोई उन्हें जोर-जोर से पुकार रहा है, "अजी, उठो, साथ ही उनके शरीर पर ईंट का एक टुकड़ा भी गिरा।

ताराकिशोरबाबू चौंककर उठ बैठे। बिछावन पर गिरे हुए ईंट के टुकड़े को हाथ में लेकर वे विस्मित हो रहे थे। मसहरी में कहीं कोई छेद नहीं था। इसलिए यह ढेला कहाँ से भीतर गिर कर उनके शरीर से लगा, यह वे नहीं समझ सके। निर्देशित समय में भक्त अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहा है—अनलस दृष्टि समर्थ योगी पुरुष क्या इसलिए ही उनकी सहायता करने आये थे ? इस घटना के बाद रात्रि के अन्तिम प्रहर में जाग कर साधन–भजन करने में उन्होंने कभी गफलत नहीं की।"

बाबाजी महाराज की करुणाधारा इस मुमुक्षु साधक के जीवन को नाना विचित्र लीलाओं के रूप में सिञ्चित करने लगी। सन्तदास ने इस सम्बन्ध में एक मनोहर कहानी का वर्णन किया है—"एक दिन छत पर सोया हुआ हूँ, रात्रि के शेष में मेरी निद्रा भंग हुई। उठ बैठा और बैठते ही देखा कि मानो शून्य भेद कर बाबाजी महाराज मेरी ओर अग्रसर हो रहे हैं। क्षणभर में ही छत पर मेरे सामने पहुँच कर वे खड़े हो गये और मुझे अश्वासन देते हुए उसी समय एक मन्त्र मेरे कान में कह दिया। मन्त्रोपदेश के बाद तत्क्षण वे आकाशमार्ग से अदृश्य हो गये।"

"कलकत्ता रहते हुए तारकिशोर बाबू एक बार ज्वराक्रान्त हो

गये। रोग कम होने का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता था बल्कि वह बढ़ता ही जाता था। इस समय ही उनके मन में एक अद्भुत खयाल हुआ। उन्होंने सोचा, "बाबाजी महाराज तो निरन्तर गांजा का सेवन करते हैं और इससे ही प्रसन्न होते हैं। तो उन्हें गांजा का ही भोग क्यों न दिया जाय? इसके बाद उनकी प्रसादी चिलम पीने से अवश्य ही रोग दूर हो जायगा। इसके बाद बाजार से नई चिलम और गांजा मँगा कर तथा चिलम में गाँजा रखकर बाबाजी के प्रति निवेदन किया गया।

न मालूम क्यों चिलम की ओर देखते हुए ताराकिशोरबाबू को ऐसा लगा कि गुरुजी उसे पी रहे हैं। चिलम से उस समय सचमुच धुआँ निकल रहा था। कुछ समय के बाद उन्होंने इस प्रसादी गाँजा का स्वयं पान किया। आश्चर्य की बात कुछ ही समय के बाद वे ज्वर-मुक्त हो गये।"

"इसके कुछ समय बाद को एक घटना है। वे वृन्दावन आश्रम में काठियाबाबा के दर्शनार्थ आये हुए थे। एक दिन बाबाजी महाराज कई व्रजवासियों के साथ सानन्द गाँजा का सेवन कर रहे थे। कुछ समय के बाद उन्होंने दूसरे कमरे से ताराकिशोरबाबू को बुलाया और कहा, "इधर आओ, इस बार तुम इस प्रसादी चिलम को लेकर पीओ।"

एक व्रजवासी ने हँसते हुए पूछा, बाबूजी क्या गांजा पीने के आदी हैं? काठियाबाबा ने चतुर हँसी हँसते हुए कहा, "नहीं, बाबूजी गांजा पीने के अभ्यस्त तो नहीं हैं, किन्तु ज्वरग्रस्त होने पर कभी-कभी बाबाजी महाराज का स्मरण कर लेते हैं और उन्हें गांजा भोग देते हैं, फिर उस प्रसाद को अवश्य ही भक्तिभाव से स्वयं ग्रहण करते हैं।" ")

ताराकिशोरबाबू ने अनुभव किया, सर्वज्ञ गुरुदेव से कोई बात अज्ञात नहीं रहती। इसके सिवा उन्होंने यह भी हृदयङ्गम किया कि कलकत्ता रहते हुए उन्होंने जो गाँजा का भोग दिया था उसे सचमुच बाबाजी महाराज ने ग्रहण किया था।

शिष्य जब किसी सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करता है तब गुरु को उसका बहुत-कुछ भार ग्रहण करना पड़ता है। काठियाबाबा के सम्बन्ध में भी यही बात थी। एक बार ताराकिशोरबाबू किसी काम से कलकत्ते से बाहर गये हुए थे। उस समय कलकत्ते के उस मुहल्ले में चोरों का बड़ा उपद्रव था। ताराकिशोरबाबू के घर में उस समय कोई पुरुष नहीं था। इसलिए उनकी पत्नी रात में बहुत डरी हुई रहती थी।

गर्मी का मौसम था। बड़े जोर की गर्मी पड़ रही थी। किन्तु इतनी गर्मी में भी ताराकिशोरबाबू की पत्नी रात में खिड़कियों को खोलकर सोने का साहस नहीं कर सकती थी। एक दिन रात में गर्मी से बेचैन होकर वह उठ बैठी और एक खिड़की को खोल दिया। इसी समय उसने विस्मित होकर देखा कि खिड़की के पास ही बाबाजी महाराज हँसते हुए खड़े हैं। मधुर कण्ठ से कहने लगे, "भाई, तुम्हें इतना भय क्यों लग रहा है, कहो तो ? मैं तो सर्वदा तुम्हारे साथ रह रहा हूँ।" दूसरे ही क्षण दिव्य मूर्त्ति अन्तर्हित हो गई।

प्रत्यक्ष में कठोर एवं रहस्यमय काठियाबाबा का बाह्य आचरण बड़ा ही अगम्य था। नवागन्तुक एवं कम परिचित लोगों के लिए उनके प्रकृत स्वरूप से अवगत होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था। करुणा-धन बनकर जब बाबाजी महाराज अपने रहस्य का उन्मोचन करते, तभी उनके स्वरूप का साधारणतः ज्ञान होता।

काठियाबाबा के वृन्दावन स्थित आश्रम में जिस दिन श्रीराधा-बिहारीजी की प्रतिष्ठा हो रही थी, एक विचित्र घटना घटित हुई। उस दिन बहुत लोगों ने उत्सव के अवसर पर प्रसाद ग्रहण किया। इसके बाद भी काफी लड्डू, कचौड़ी आदि प्रसाद भण्डार में बचा रह गया था। सहसा और भी बहुत से साधु आश्रम के आँगन में आकर भोजन के लिए एकत्र हो गये। किन्तु बाबाजी महाराज ने इन्हें देखकर उग्ररूप धारण कर लिया। अत्यन्त निर्ममभाव से उनका तिरस्कार करते हुए उन्हें आश्रम से भगा दिया।

काठियाबाबा के एक शिष्य अभयचरण राय वहाँ खड़े थे। इन अभ्यागत साधुओं के प्रति बाबाजी महाराज का इस प्रकार का व्यवहार उन्हें बड़ा ही अनुचित एवं रूढ़ प्रतीत हुआ। मन-ही-मन सोचा, गुरु महाराज का यह आचरण अत्यन्त अनुचित एवं अशोभन हुआ है। भंडार में तो भोज्य सामग्री बहुत बची हुई है, इन साधुओं को यदि थोड़ा-थोड़ा बाँट दिया जाता तो क्या हर्ज था ?

सर्वज्ञ बाबाजी महाराज से शिष्य के मन की बात छिपी नहीं रही, किन्तु उस समय उस सम्बन्ध में उन्होंने कोई चर्चा नहीं की। दिन का कार्य समाप्त करके अभयबाबू को अपनी धुनी के पास बुलाया। गाँजे का दम लगाते हुए काठियाबाबा धीरे-धीरे शिष्य को कहने लगे—अभय, तुम सोच रहे हो—इन साधुओं को भोजन न देकर मैंने क्यों भगा दिया ? बाबा, तुम एकदम नादान हो, सर्वथा ज्ञानहीन। कुछ समझ-बूझ अब तक तुम्हें नहीं हुई है। तुम नहीं जानते, उनमें कोई सच्चा साधु नहीं है, साधु वेशधारी मात्र हैं। वे भूखे भी नहीं है, भोजन वे पहले ही कर चुके हैं—यहाँ आये हुए थे केवल संचय करने के लिए। अतएव तुम खेद मत करो। यथार्थ में जो भूखे हैं ऐसे साधु शीघ्र ही आश्रम में आ जायेंगे—उन्हें इतना भोजन कराओ जिनसे वे तृप्त हो जायँ।" सचमुच ऐसा ही हुआ। थोड़े समय के अन्दर ही वहाँ साधुओं की एक जमात आ पहुँची। अभयबाबू ने पूछ ताछ करके मालूम किया वे सचमुच अपरिग्रही एवं सत्यनिष्ठ साधु थे और क्षुधापीड़ित भी थे। ॥

" एक दरिद्र एवं असहाय ब्राह्मण को काठियाबाबा ने अपने आश्रम में आश्रय प्रदान किया था। वह कठिन दमा की बीमारी से पीड़ित था। कष्ट भोग रहा था। फिर भी वह आश्रम का बहुत काम कर डालता था। एक दिन वह ब्राह्मण बहुत अस्वस्थ होकर धुनी के सामने आ बैठा और बार-बार खाँसने लगा।

बाबाजी महाराज एकाएक वहाँ आ पहुँचे और निष्ठुर भाव से उसे तिरस्कृत करने लगे—"तुम क्यों यहाँ पड़े हुए हो। पेट के लिए

जो वैरागी बनते हैं उनके लिए यहाँ स्थान नहीं है। कोई काम न करके यहाँ केवल बैठकर साधु का अन्न नष्ट कर रहे हो, इससे क्या तुम्हें शर्म नहीं आती? जाओ, इसी क्षण आश्रम छोड़कर चले जाओ।"

उपर्युक्त अभयचरण एवं ताराकिशोर, दोनों इस समय वहाँ उपस्थित थे। दोनों को बाबाजी का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। अभयबाबू के चेहरे पर विरक्ति का भाव स्फुट हो उठा। ब्राह्मण अब तक अपने सामर्थ्य के अनुसार आश्रम की सेवा करता रहा है। इस समय रोग के कारण वह पंगु एवं भग्नस्वास्थ्य हो रहा है। ऐसी अवस्था में आश्रम से उसे निकाल देने पर उसका क्या हाल होगा? अभयबाबू की दृष्टि में यह अत्यन्त हृदयहीनता का कार्य था।

दूसरे कमरे में जाकर वे चुपचाप खिन्नमन बैठे हुए हैं। इसी समय काठियाबाबा वहाँ उपस्थित हुए। सस्नेह उनसे कहने लगे, "अभयबाबू, तुम निरे बालक हो, असल बात क्या है यह तुम किस प्रकार समझ सकते हो? मेरे आज के इस निष्ठुर आचरण का एक गूढ़ अर्थ है। यह ब्राह्मण बड़ा सज्जन है, साधना का भी वह एक प्रकृत अधिकारी है। पहले वह बड़ा दुर्दशाग्रस्त था। सब समय अन्नाभाव के कारण विकल रहता था जिससे ठीक तरह से भगवान का नाम जप करना भी उसके लिए सम्भव नहीं था। इसीलिए मैंने उसके अध्यात्म-मार्ग की बाधा को दूर कर दिया—आश्रम में आश्रय मिल जाने पर उसे भजन का सुयोग मिला था। किन्तु देखता हूँ कि सहज ही भोजन मिल जाने पर वास्तविक जो कार्य है, भजन करना उसे ही भूल बैठा है। इस समय आश्रम में रहने पर उसके भजन-कार्य में विघ्न होगा, उसके अध्यात्म जीवन को बहुत क्षति होगी। यहाँ से निकाल दिये जाने पर उसे अपने वास्तविक कल्याण का पता चल जायगा, निराश्रय अवस्था में रहकर कातर भाव से वह भगवान का स्मरण करेगा। भजन साधन ठीक से चलते रहने पर ही

तो उसकी मुक्ति होगी। तुम बालक हो, ये सब बातें किस प्रकार समझोगे ? प्रकृत कल्याण के पथ को तुम मोहाच्छन्न दृष्टि लेकर नहीं समझ सकते।" गुरु-महाराज के इस कथन को सुनकर अभयबाबू का भ्रम दूर हो गया, वे कुछ लज्जित भी हुए। सोचा—अपनी सीमित दृष्टि लेकर मैंने लोकोत्तर महापुरुष के आचरण के सम्बन्ध में विचार किया, यह मेरी धृष्टता थी।"

काठियाबाबा एकमात्र अध्यात्म जीवन के विकास एवं परिणति को ही मनुष्य जीवन का परम कल्याण मानते थे। लौकिक जीवन की आशा आकांक्षा की पूर्त्ति, भौतिक सुख-सम्पदा, यह सब इन महाज्ञानी पुरुष की दृष्टि में एकदम व्यर्थ था। जिस मनुष्य के जीवन में भगवत–सत्ता का स्फुरण नहीं हुआ उस जीवन को वे 'वंध्य.' जीवन की तरह निष्फल मानते थे।

बाबाजी महाराज एक दिन अपने शिष्यों के साथ आश्रम में बैठे हुए थे। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा, "परोपकार के वास्ते संतन धरे शरीर।" इसके अभिप्राय को समझाते हुए पड़ोस के प्राचीन साधु कल्याणदास की चर्चा चलायी। वे मारबन के दावानल कुण्ड के निकटस्थ एक आश्रम के महन्त थे। बहुत से अभ्यागत साधु-सन्तों को उनके निकट आश्रय मिलता था। परोपकारी एवं दानी के रूप में उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी।

किन्तु काठियाबाबा ने सबको विस्मित करते हुए कहा, "साधु को जिस प्रकार का उपकार करना चाहिये वह उपकार इस प्रकार का बिल्कुल नहीं है। यह तो बहुत ही साधारण चीज है। इस प्रकार का उपकार पाकर उपकृत व्यक्ति का जो कल्याण होता है वह बहुत ही नगण्य है। कारण, परमार्थिक सम्पद् तो इसके द्वारा कभी आ नहीं सकती। इसके सिवा उपकारी व्यक्ति या दानी को इसके लिए पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। दूसरे जन्म में उसे धन-वैभव, मान-सम्मान सब कुछ भरपूर प्राप्त होते हैं। किन्तु जो प्रकृत महात्मा है वे इस प्रकार

१६

के हितकर्म में कभी लिप्त नहीं होते, बल्कि वे जीव के दुःखताप के मूल को ही नष्ट कर देते हैं—और इस तरह के उपकार से ही मनुष्य का वास्तविक कल्याण हो सकता है। यही कारण है कि इन सब महात्माओं की कार्य-प्रणाली और उनके अभिप्राय को साधारण मनुष्य सहज ही नहीं समझ सकते।"

अभयचरण राय महाशय बाबाजी के अन्यतम शिष्य थे। शेयर बाजार के व्यवसाय में बहुत घाटा लगने से वे एकबारगी हताश हो गये थे। इस अवस्था में बिना याचना के उन्हें काठियाबाबा का शिष्यत्व प्राप्त हुआ। इसके बाद कुछ समय तक वे अयोध्या में रहे। आर्थिक उलट-फेर और महाजनों के तकाजे के आतंक से बराबर विषण्ण रहा करते थे। एक रात जब वे बिछावन पर सोये हुए थे, वे खेदपूर्वक अपने मन में कहने लगे, "भगवान को हृदय से बहुत प्रार्थना की किन्तु उसने न तो दर्शन दिये और न दुःखमोचन किया! तो वह नहीं है क्या?" इसके साथ ही उन्होंने संकल्प किया, दूसरे दिन सरयू के पुल पर से जल में कूदकर सब ताप एवं कष्ट से छुटकारा पा जाऊँगा।

कुछ ही क्षणों के बाद एक विचित्र बात हो गई। काठियाबाबा महाराज अभयचरणबाबू के उस कमरे में सशरीर उपस्थित हुए। बाबाजी धीरे-धीरे तिरस्कार के स्वर में अभयबाबू से कहने लगे, "अभयराम, तुम इस प्रकार सोये सोये काल काटोगे और खेदपूर्ण कथन करते रहोगे और भगवान तुम्हें दर्शन देंगे, नहीं? मैंने तो तुम्हें इष्टनाम ही दिया है। उस नाम का क्यों नहीं जपते? भगवान दुर्लभ एवं परम वस्तु है—उसको तो यों ही नहीं पाया जा सकता।"

अभयबाबू घबरा कर उठ बैठे और उसी समय गुरु द्वारा बताए हुए नाम का जप करने लगे। एक अपार आनन्द ज्योति ने उन्हें घेर लिया। उनके सब दुःख एवं दुश्चिन्ताएँ उस समय न मालूम कहाँ गायब हो गईं और एक अपूर्व मानसिक शान्ति का वे अनुभव करने लगे।

कुछ दिनों के बाद की घटना। अभयचरण राय वृन्दावन आये

हुए हैं। बाबाजी महाराज उन्हें देखते ही बोल उठे, "क्यों जी अभयराम, भगवान हैं---यह विश्वास इस समय कुछ हुआ है तो ? तुम चिन्ता मत करो। अपने घर में बैठकर नाम जपते रहो, तुम्हारे महाजन तुम्हारे साथ बुरा व्यवहार नहीं करेंगे।"

कलकत्ता लौटकर अभयबाबू को आश्चर्य हुआ। महाजनों ने उनके प्रति यथेष्ट उदारता एवं सहानुभूति दिखलाई। इसके बाद घर में रहकर वे साधना में रत रहने लगे।

"काठियाबाबा ने अभयबाबू को एक बार स्वप्न में भी दर्शन दिया था। इस बार उन्होंने इशारे से उनका ध्यान एक जटाजूटधारी साधु के आलेख्य की ओर आकृष्ट किया। साथ-ही-साथ विशेष रूप से यह भी कह दिया, "यह एक महात्मा हैं। इनके साथ समय-समय पर तुम वास कर सकते हो। इससे तुम्हारा बहुत कुछ कल्याण होगा।"

कुछ समय के बाद अभयचरण राय वृन्दावन आये और संयोगवश एक दिन किसी एक भक्त के कुञ्ज में उपस्थित हुए। यहीं विजयकृष्ण गोस्वामी के साथ एकाएक उनका साक्षात् हुआ। गोस्वामीजी को देखते ही अभयबाबू पहचान गये कि इस महात्मा की मूर्त्ति का ही काठियाबाबा ने उन्हें स्वप्न में दर्शन कराया था। इसके बाद काठियाबाबा से जब उनकी भेंट हुई, वे महापुरुष चकित होकर बोल उठे, "अभयराम, स्वप्न में मैं ठीक ही तुम को दिखाई दिया था। आज मालूम पड़ता है कि उसकी यथार्थता तुम अच्छी तरह समझ रहे हो। मेरे द्वारा निर्देशित उस महात्मा के साथ भी तुम्हारा साक्षात् हुआ है। उनके साथ कब जाओगे ? जिसे सच्चा साधु कहते हैं, वे वही हैं। अच्छा चलो, आज मैं भी तुम्हारे साथ चल कर महात्मा के साथ बातचीत कराऊँगा।"

बाबाजी महाराज शिष्य को साथ लेकर प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी के समक्ष उपस्थित हुए। किन्तु इस दिन अभयबाबू ने

काठियाबाबा का जैसा आचरण और तौर-तरीका देखा, उससे उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। जिन प्रभुपाद के साथ अलौकिक संकेत से उन्होंने मिलन करा दिया था, उन्हीं के साथ वे एक अपरिचित व्यक्ति की तरह इस समय बातें कर रहे हैं। उनके पूर्वाश्रम का स्थान किस प्रदेश में है, वृन्दावन क्यों आये हुए हैं, किस प्रकार भिक्षा निर्वाह कर रहे हैं, इस प्रकार के नाना प्रश्न वे गोस्वामीजी से करने लगे।

काठियाबाबाजी के चले जाने पर गोस्वामीजी ने उस दिन अपने साथ वालों से कहा था, "जो महापुरुष आज अनुग्रह करके यहाँ आये हुए थे, वे सचमुच असाधारण हैं। गर्ग, नारद आदि की तरह ये ब्रह्मज्ञ-पुरुष हैं।"

"अपनी इच्छा से दर्शन देकर काठियाबाबा साधना के उपयुक्त अधिकारियों को प्रायः उद्बुद्ध किया करते थे। इस सम्बन्ध में प्रचलित जो अनेक कहानियां हैं उनमें विजयलाल चट्टोपाध्याय से सम्बन्ध रखने-वाली घटना कौतूहलजनक है। विजयबाबू श्रीताराकिशोर चौधरी (संतदास महाराज) के एक घनिष्ठ मित्र थे। अध्यात्म साधना की दिशा में उस समय तक वे बहुत कुछ अग्रसर हो चुके थे। एक दिन कलकत्ते में जब उन्होंने ताराकिशोरबाबू की बैठक में प्रवेश किया, वहाँ जो कुछ देखा उससे चकित हुए बिना नहीं रहे। एक साधु के चित्र की ओर इशारा करते हुए व्यग्र भाव से उनका परिचय जानना चाहा। उत्तर मिला, चित्र ताराकिशोरबाबू के गुरुदेव वृन्दावन के प्रसिद्ध महंत रामदास काठियाबाबा का है।

विजयबाबू इस महात्मा के सम्बन्ध में अपना जो अनुभव सुनाने लगे उससे कमरे में जो लोग उपस्थित थे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा, "हाल में मैं स्वास्थ्य सुधार के लिए संथाल परगना गया हुआ था। मैं जहाँ रहता था वहाँ निकटस्थ एक पीपल के पेड़ के नीचे इनके दर्शन किये थे। पूरे तीन दिनों तक उस वृक्ष के नीचे धुनी जला कर ये बैठे हुए थे। मैं रोज ही इनके चरणों में जाकर बैठता और मेरे प्रति ये कितना स्नेह दिखाते, कितनी खोज-खबर लेते।"

किन्तु असल बात तो यह थी कि काठियाबाबा महाराज उस समय वृन्दावन छोड़ कर अन्यत्र कहीं नहीं गये थे। ताराकिशोरबाबू जितना ही कहते कि बाबाजी महाराज के लिए इस समय संथाल परगना में उपस्थित होना असम्भव है उतना ही विजयबाबू बार-बार जोर देकर कहते, इन महापुरुष को मैं तीन दिनों तक लगातार निकट देख आया हूँ—इस विषय में मुझे अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

कुछ समय के बाद जब ताराकिशोरबाबू वृन्दावन आये। उन्होंने असल बात क्या है इस सम्बन्ध में बाबाजी से प्रश्न किया। महाराज ने मुसकुराते हुए उत्तर दिया, "मेरे यहाँ अवस्थान करते रहने पर भी बहुधा ऐसा होता है कि कितने ही लोगों को मेरी इस मूर्त्ति का दर्शन होता है। यह रहस्य इस समय तुम नहीं समझ सकते, बाद में समझ सकोगे।" \\

काठियाबाबा का एक करुणाघन महनीयरूप यहाँ प्रस्फुटित हुआ है। इसके साथ ही पात्र भेद से विपरीत मूर्त्ति का भी प्रकाश देखा जाता था। सन्तदास महाराज ने इसका एक सुन्दर विवरण दिया है। "महापुरुष एक दिन अपने शिष्यों से घिरे हुए आश्रम में बैठे थे। इसी समय सिलहट के रहने वाले एक विशिष्ट वकील वहाँ आ उपस्थित हुए। उस समय काठियाबाबा ने वहाँ एक अद्भुत अभिनय आरम्भ कर दिया। किसी आकस्मिक व्याधि से आक्रान्त हो जाने के समान वे पीड़ा से छटपट करने और कराहने लगे। आगंतुक सज्जन यह देखकर बहुत घबरा गये। बाबाजी की अस्थिरता और दुःखपीड़ित वाणी से वे इतने विभ्रान्त हो गये कि उन्हें प्रणाम करने की भी सुध नहीं रही।

आश्रम से उक्त सज्जन शीघ्र ही विदा हो गये। उनके जाते ही बाबा की पीड़ा और आहें न मालूम कहाँ गायब हो गईं। अपने प्रिय भक्तों के साथ वे फिर पहले की तरह बात-चीत और हास्य-विनोद करने लगे। सन्तदास को यह समझने में देर न लगी कि आगन्तुक व्यक्ति बड़ा अभागा था, बाबाजी महाराज की चरण-वन्दना करने के

अधिकार से वह वञ्चित रहा। महापुरुष ने उसे छल करके विदा कर दिया।)बाह्य आचरण देख कर इस महान् ब्रह्मज्ञानी पुरुष को समझना किसी के लिए सम्भव नहीं था। लोक-चक्षु की ओट में अपने लोकोत्तर जीवन को एक रहस्य-लोक में वे गोपन किये रहते थे, केवल विशेष-विशेष करुणा के क्षेत्र में देखा जाता था कि उनका अलौकिक योगैश्वर्य क्षणभर में ही उद्भासित हो उठता था। उस समय इनके आस-पास जो सब मनुष्य होते वे विस्मय एवं संभ्रम से इनके चरणों में नत हुए बिना नहीं रहते।

इस शक्तिधर महापुरुष के जीवन में साधारण एवं असाधारण, लौकिक एवं अलौकिक। दोनों का एक अपूर्व सम्मिलन देखा जाता था। बाह्य जगत की आवश्यकता एवं प.रस्थिति के अनुसार ये सहज भाव से साधारण जनोचित आचरण किया करते थे। और अपनी साधन-सत्ता की गहराई में यह ब्रह्मज्ञ पुरुष प्रच्छन्न रूप में एक अपरिमेय शक्ति का उत्स एवं द्वन्द्वातीत चैतन्यमय लोक का एक अखण्ड परम बोध छिपाये रहते थे।

काठियाबाबा ने अपने जीवन की द्वैत सत्ता का एक चमत्कारपूर्ण वर्णन सन्तदास के निकट किया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा था, "हाथी को दो दाँत होते हैं। एक बाहर में दिखाने के लिए दूसरा भीतर में खाने के लिए। भीतर का दाँत दूसरे लोगों को मालूम नहीं होता। सन्त की भी इसी तरह दो वृत्तियाँ होती हैं—एक बाहर दिखाने के लिए, दूसरी उनके अन्तर की निगूढ़ वस्तु होती हैं जिसका पता कभी किसी को नहीं मिलता। बाह्य एवं आभ्यन्तरिक आचरणों की इस विपरीतता के बीच बाबाजी का विलक्षण लीला-कौशल प्रकाशित होता रहता था।

काठियाबाबा की प्रसिद्धि सुनकर बाहर से बहुत से लोग उनके दर्शनार्थ आया करते थे। किन्तु जब वे केमरवन के आश्रम में प्रवेश करते थे, उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती थी। ब्रह्मज्ञानी बाबाजी महाराज में समाविस्थ महा-साधक का कोई चिह्न ढूँढ़े भी नहीं मिलता था।

नहीं मिलता था। प्रशान्त महायोगी की दिव्य महिमा हो सहसा कितने लोगों को दृष्टिगोचर होती थी? बिलकुल साधारण मनुष्य की तरह ही वे नित्य स्वयं बाजार जाकर आवश्यक चीजें खरीदा करते थे। साग-सब्जी खरीद करते समय वे बड़ी तत्परता के साथ मोल-तोल किया करते थे। और जब आश्रम की नित्य प्रयोजनीय वस्तुएँ दूसरा कोई खरीद कर लाता तो एक पक्के गृहस्थ की तरह पाई-पाई का हिसाब रखते जिससे एक पैसा भी कोई चुरा न सके और न अपव्यय हो। ऐसी थी उनकी सतर्कता।

सेवाकुंज के सामने गांजे की चक्कलस चल रही थी। बीच में शिरोमणि बाबाजी बैठे हुए थे। एकाएक देख कर कौन उनके वास्तविक स्वरूप को जान सकता था? कौन क्षणभर के लिए भी अपने मन में यह धारणा कर सकता था कि ये भारत के एक श्रेष्ठ महापुरुष असामान्य योगविभूति के अधिकारी १०८ स्वामी श्री काठियाबाबा हैं? रास्ते की बगल में पेड़ की छाया में बाबाजी महाराज गांजे का दम-पर-दम लगाते हुए चले जा रहे हैं। साथियों में सब तरह के लोग हैं—कुछ गुण्डे, बदमाश, आवारा भी। तीर्थयात्री दल जब इन गंजेड़ियों के पास से होकर गुजरता तब इन में से दो-एक आदमी उठकर अंगुली के इशारे से काठियाबाबा को दिखा देते। इसके बाद बार-बार पुकार कर कहते, "अजी देखो-देखो, ये दुग्धाहारी बाबा हैं। केवल दूध पान करके रहते हैं। इनको कुछ भेंट तो चढ़ाते जाओ।"

भेंट में जो कुछ मिलेगा उससे गांजा-चरस का खर्च चलेगा, इसी उद्देश्य से बाबा के साथ के लोग भेंट के लिए इतना आग्रह दिखाते थे। बाबा महाराज भी इस विचित्र अभिनय को देखकर चुपचाप बैठे हुए हँसा करते। भाव यह कि उनका नाम लेकर साथ के लोग गांजे का खर्च यदि कुछ जुटा लेते तो इसमें हर्ज ही क्या है? इसके सिवा आश्रम के खर्च के लिए कुछ धन मिल जाय तो यह भी बुरा नहीं है। ये तीर्थयात्री साधुओं के लिए कुछ पैसे खर्च क्यों न करें, इससे तो इनका कल्याण ही होगा।

इस प्रकार संगृहीत धन से जो कुछ बचत होती उसे बाबा सावधानी के साथ गाँठ में बांध कर आश्रम में ले आते। इसकी सुरक्षा के लिए सदा सतर्क रहते। आश्रमवासियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि यत्न के साथ रखे हुए इन पैसों का वे किसी तरह स्पर्श करें। इसके सिवा सायंकाल की संध्या-पूजा समाप्त करने के बाद आश्रम में बैठकर बाबाजी जो सब बातें साधारणतः किया करते थे, वे भी बहुत भ्रम में डालने वाली होती थीं। उनमें न तो कोई धर्म की बात होती थी और न तत्वज्ञान की, भगवान की चर्चा के बदले प्रायः अति साधारण लौकिक बातें हुआ करती थीं। देश में खाद्य पदार्थों का मूल्य क्यों बढ़ रहा है, गांजा की आपूर्ति शीघ्र होगी या नहीं? इत्यादि बातों में ही अधिक समय कट जाता था।

कोई राजा या लखपती सेठ वृन्दावन आकर बाबाजी को भेंट चढ़ा गये हैं, इस बात को लेकर वे गर्व प्रकट करते थे। कहीं से कोई दानशील महाराज यहाँ आ रहे हैं, बाबाजी के आश्रम में पाँच मूर्त्तियों का सीधा वे अवश्य भेज देंगे, आशा की यह बात भी बाबाजी बार-बार सबको सुनाया करते थे। ऐसा लगता था मानो इन सब बातों पर बहुत भरोसा कर रहे हों। कौन कितने रुपये भण्डारा में देगा, कितनी धूमधाम से मन्दिर की स्थापना करेगा, इन बातों को लेकर भी उनका तर्क-वितर्क कम नहीं चलता था। जो सब व्यक्ति आश्रम में अधिक रुपये भेंट चढ़ाते थे, बाबाजी उनकी प्रशंसा का पुल बांध देते थे। बाह्य आचरण देखकर ऐसा लगता था मानो वे एक अत्यन्त लोभी व्यक्ति हों और सर्वथा लौकिक मनोवृत्ति लेकर इस छोटे से आश्रम को चला रहे हों।

किन्तु धनाढ्य सेठ और राजा-महाराजा के वहाँ उपस्थित होने की बात सुनते ही बाबाजी महाराज में एक अद्भुत प्रतिक्रिया देखी जाती थी। कोई आकर खबर देता, वृन्दावन में एक दानी महाराज

आये हैं। नगर के प्रसिद्ध मंदिर और साधु-संतों का दर्शन करते हुए वे घूम रहे हैं। अवश्य ही वे काठियाबाबा के लिए भी भेंट और पूजा लेकर इधर आयेंगे।

यह सब सुनते ही बाबाजी महाराज क्रोध से एकबारगी विक्षिप्त हो उठते थे। उस समय उनका मनोभाव देखकर यही प्रतीत होता था मानो नवागत महाराज के साथ उनकी बहुत दिनों की शत्रुता हो। गरज-कर उत्तेजित भाव से कहा करते, "साला यहाँ आयेगा तो एक चिमटा लगा देंगे। मैं क्या उसका सम्मान करूँगा ? मेरे साथ उसका क्या मत-लब ? चला जाय यमलोक में, मेरे पीछे क्यों पड़ता है ?" क्रोध का यहीं अंत नहीं हो जाता, और भी जिन सब अश्लील वाक्यों का वे अपरिचित अतिथियों के प्रति प्रयोग करते उन्हें सुनकर बहुत से लोग कानों में अँगुली डाले बिना नहीं रहेंगे।

वृन्दावन का भ्रमण करते हुए मिजियाना के महाराज एक दिन केसर-वन आश्रम में आ उपस्थित हुए। आने का उद्देश्य था, भारतविख्यात महापुरुष काठियाबाबा के चरण-दर्शन। किन्तु आश्रम में सब लोगों के सामने ही उस दिन एक शोचनीय दृश्य उपस्थित हो गया। सम्माननीय अतिथि के प्रति सामान्य सौजन्य एवं कृपा-प्रदर्शन की बात तो दूर रही, बाबाजी महाराज ने उन्हें बिना किसी कारण गालियाँ देकर वहाँ से निकाल दिया। अपने अमात्य एवं अनुचरों के सामने इस प्रकार अप्रत्या-शित अपमान से महाराज लज्जा से पानी-पानी हो गये। राज-अतिथि से उस दिन कौन सी भूल-चूक हो गई थी जिससे काठियाबाबा उनके प्रति इतने रूक्ष बन गये थे, यह कौन बता सकता है ?

आश्रम में ठाकुरजी की जो मूर्त्ति थी उसके लिए तथा बाबा को भेंट चढ़ाने के लिए भक्तगण नाना प्रकार की वस्तुएँ वहाँ लाते थे। भेंट की इन सब वस्तुओं के प्रति आश्रमवासियों के मन में भोग-लालसा न उत्पन्न हो, इस ओर बाबाजी की सदा सतर्क दृष्टि रहा करती थी। एक श्रेणी के महंतों की यह धारणा है कि उनके द्वारा स्थापित देव-विग्रह और आश्रम के लिए भोग्य वस्तुओं की आपूर्त्ति करना गृहस्थ भक्तों का

एक विशेष कर्त्तव्य है। बाबाजी महाराज इस प्रकार की दृष्टिभंगी को केवल निन्दनीय ही नहीं समझते थे, बल्कि गृहस्थों के द्वारा प्रदत्त वस्तुओं के प्रति आश्रमवासी प्रलुब्ध न हों, इसकी व्यवस्था भी वे कठोरता के साथ यत्नपूर्वक करते थे। अध्यात्म-साधन के विषय को ईश्वर-निष्ठा के साथ आन्तरिक शुद्धता पर वे सदा सबसे अधिक जोर दिया करते थे।

आश्रम में भेंट के रूप में बहुत तरह के वस्त्र आदि प्राप्त एवं संचित होते थे। इन सब वस्त्रों को लोगों की दृष्टि से न छिपा कर यत्नपूर्वक रखने में बाबाजी से कभी भूल नहीं होती थी। दया करके कभी-कभी वे गृहस्थ शिष्यों को दो-एक खंडवस्त्र दान कर देते थे, किन्तु आश्रमवासी साधुओं के भाग्य में कभी कुछ नहीं जुटता था। अत्यन्त आवश्यकता होने पर या अर्धनग्न अवस्था में भी वे उन्हें बची सब चीजें नहीं देते थे। कभी-कभी यह भी देखा जाता कि बहुत दिनों तक इस प्रकार रखे गये वस्त्र कीड़ों का आहार बनकर एकबारगी व्यवहार के लायक नहीं रह गये हैं। शिष्यों की भोगलालसा का दमन करने के लिए बाबाजी महाराज की यह व्यवस्था थी। इसके लिए वे सब प्रकार की लोक निन्दा को सहज ही सहन कर लेते थे।

रात्रि के अन्तिम प्रहर में निद्रा त्यागकर साधन-भजन एवं आश्रम के कर्म में लग जाना साधुओं का आवश्यक कर्तव्य है। अपने इन कर्तव्यों का वे सहज ही पालन कर सकें, इसके लिए काठियाबाबा छल करने से भी बाज नहीं आते थे। रात में आश्रम के आस-पास चोरों का आवा-गमन सुना जा रहा है, यह कहकर वे सब को सावधान कर देते थे। इसका फल यह होता था कि सब लोग सतर्क हो जाते थे और सारी रात जाग कर बिता देते थे। इस प्रकार जागते हुए ध्यान-भजन भी हो ही जाता था।

रात्रि समाप्त होते-होते बाबाजी महाराज सब लोगों को आश्रम के कार्य में लगा देते थे। इसके लिए छल करके उन्होंने शेष रात्रि में स्वयं भोजन करने की प्रथा चलाई। इससे सब को बाध्य होकर भगवान की सेवा और भोग-रोग का प्रबंध करने के लिए तैयार हो

जाना पड़ता था। दिन-रात में दो-तीन घंटे सोना और एक बार भोजन करना, यही अपने शिष्यों के लिए उनका निर्देश था। लघु एवं आलस्य-विहीन शरीर से साधना के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा, इस बात पर वे बहुत जोर देते थे। अध्यात्म जीवन की शुद्धता एवं शुचिता के सम्बन्ध में वे बहुत सावधानी बरतते थे। सिद्धि-कामी प्रकृत साधकों को कष्ट सहन, त्याग एवं तितिक्षा की आग में परिशुद्ध कर लेना उनकी मूल नीति थी।

बाबाजी की ख्याति एक महापुरुष के रूप में यद्यपि भारतव्यापी थी, फिर भी उनका आश्रम बहुत ही साधारण था। उनके भजन करने की कोठरी और उसका परिवेश भी कम विलक्षण नहीं था। आश्रम में हनुमानजी की मूर्त्ति स्थापित थी। इस मूर्ति के संकीर्ण कक्ष के समीप दो छोटे-छोटे अंधकारपूर्ण तल-घर थे। उनमें स्थान-स्थान पर बहुत-सी दरारें थीं, विषधर साँप जहाँ-तहाँ घूमते हुए देखे जाते थे। यहीं सामने के एक छोटे बरामदे में बाबाजी महाराज के सोने का स्थान था। पड़ोसी साँपों के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। उनकी चाल-ढाल और मनो-भाव बाबाजी जिस प्रकार समझ लेते थे उसी प्रकार वे भी उनके आदेशों को सहज ही मान लेते थे।

सबेरे उठकर काठियाबाबा हनुमानजी की मूर्त्ति के शरीर में सिन्दूर का लेप करते और उस पर माला डाल देते। किन्तु प्रतिदिन तड़के देखा जाता कि एक बहुत बड़ा साँप हनुमानजी की मूर्ति से लिपटे हुए परम आनन्द से सोया हुआ है। एक छड़ा के सिरे पर कपड़ा लपेटकर बाबाजी स्नेह-पूर्वक साँप को धीरे-धीरे ठलते हुए कहते, "अरे जल्द हट जा, हट जा।" सुख-निद्रा भंग करके नागराज धीर भाव से मूर्ति से नीचे उतर आता और अपने बिल में प्रवेश कर जाता। इसके बाद बाबाजी के नित्य कृत्य आरम्भ होते।

केवल सर्पदल ही नहीं, आश्रम के तरुलता आदि से आरम्भ करके साधारण पक्षी तक उनके परम मित्र जैसे थे। किसी मनुष्य की मित्रता से इनकी मित्रता बाबाजी के लिए कम काम्य नहीं थी। प्रातःकृत्य

समाप्त करके स्नेहपूर्ण हृदय से वे उनके समीप जा बैठते। वृक्षलता आदि की जड़ में मिट्टी खोद कर जल डालते, उसी प्रकार पालतू पक्षियों के सामने रोटी के टुकड़े डालकर वहीं बैठे-बैठे उनके खाने का आनन्द लेते। यह उनका नित्य का कर्तव्य था। इस विराट् ब्रह्मज्ञ पुरुष की प्रज्ञानघन दृष्टि में क्षुद्र एवं बृहत्, जड़ एवं चेतन सब मानो एकाकार हो गये थे। वहाँ एक एवं अखंड बोध ओत-प्रोत था, इसलिए समस्त भेद-भाव की सीमा-रेखा विलुप्त हो गई थी।

काठियाबाबा का बाह्य आचरण, विशेषतः रुपये-पैसे के मामले में उनकी कृपणता का अभिनय देखकर बहुत से लोग विभ्रान्त हो जाते थे। कोई-कोई सचमुच ऐसा समझते थे कि बाबाजी महाराज अर्थआदि के सम्बन्ध में जिस प्रकार यत्नशील रहते हैं उससे अवश्य ही उनके पास संचित धन होगा। आश्रम का रसोइया पुष्करदास बड़ा अर्थ लोभी था—बहुत दिनों तक उसे भी यही सन्देह था। गुप्त धन ले लेने के उद्देश्य से इस पापात्मा व्यक्ति ने तीन-चार बार काठियाबाबा के प्राण-नाश की भी चेष्टा की थी।

एक बार मठ में तीन-चार विशिष्ट महंत आये हुए थे। बाबाजी ने इनके साथ काफी मात्रा में भाँग का शरबत पान किया। मौका देखकर पुष्करदास ने शरबत में संखिया विष मिला दिया था। शरबत पीने के कुछ समय बाद ही तीनों महंत बेहोश होकर जमीन पर लोट गये। किन्तु काफी मात्रा में विषमिश्रित शरबत पीने पर भी काठियाबाबा में नशा या कोई विकृत लक्षण नहीं देखा गया। फौरन उन्होंने अपने कमण्डलु में से जल लेकर इन महन्तों के शरीर पर छिड़का और कुछ क्षणों के बाद ही वे होश में आ गये।

स्वस्थ होने पर इन साधुओं को सन्देह हुआ कि पुष्करदास ने धन लूटने और प्राणनाश के लिए विष-प्रयोग किया है। हत्या का षड्यन्त्र करने के अभियोग में ये उसे पुलिस के हवाले करना चाहते थे। किन्तु काठियाबाबा इसके लिए राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा,

"तुम सब स्वस्थ हो चुके हो, तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ है। जो दुरात्मा होता है वह अपने कृतकर्म का फल भोगता है, फिर इसे पुलिस के हवाले क्यों करना चाहते हो ?"

किन्तु क्रुद्ध महंत किसी प्रकार भी पुष्करदास को छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने इस बात को लेकर आन्दोलन शुरू किया। यह देखकर बाबाजी महाराज ने दृढ़ स्वर में कहा, "अच्छा, तुमलोग जैसा चाहते हो वैसा ही करो। किन्तु पुलिस का हंगामा खड़ा करके कोई लाभ नहीं होगा, यह निश्चय जान रखो। मैं पुलिस से कहूँगा, एक साथ बैठकर मैंने भी शरबत पीया है—तुमलोगों की अपेक्षा अधिक मात्रा में। किन्तु मेरा तो कोई अनिष्ट नहीं हुआ। देखना, तुम लोगों का अभियोग कभी टिकेगा नहीं, उल्टे तुम्हीं लोग फंसोगे।" महंतगण चुप हो गये। अबाध, अर्थलोभी सेवक को कृपामय बाबाजी ने उस बार इस रूप में ही रक्षा की थी।

इसके बाद भी और एक बार इस ब्राह्मण रसोइया ने काठियाबाबाजी की हत्या करने की चेष्टा की थी। इस बार उसने बाबाजी महाराज के लिए तैयार की गई रोटी में विष मिला दिया था। चुपचाप इस तीव्र विष को पचाकर बाबाजी ने पुष्करदास की कुचेष्टा को व्यर्थ कर दिया। इस घटना के घटित होने के बहुत दिनों बाद बाबाजी ने अपने शिष्यों से इसका उल्लेख किया था।

एक बार बाबाजी अपने शिष्यों के साथ आगरा पहुँचे। पुष्करदास की जन्मभूमि इसी इलाके में थी। यहाँ के पूर्वपरिचित कई बदमाशों के सहयोग से उसने फिर एक दिन काठियाबाबा की हत्या करने का निश्चय किया। बाबाजी रात बीते अपने आसन पर सोये थे। इसी समय पुष्करदास द्वारा नियोजित बदमाशों ने निद्रित अवस्था में बाबाजी के शरीर के ऊपर एक बहुत बड़ा प्रस्तर-खण्ड गिरा दिया। महाराजजी ने घायल होकर लाठी हाथ में ले इन बदमाशों का पीछा किया। भय से वे भाग खड़े हुए। पत्थर की चोट से बाबा की बाँह की एक

शिरा फट गई जिससे बहुत दिनों तक उन्हें पीड़ा होती रही। दुर्घटना के दूसरे क्षण ही पुष्करदास अपने गोपन स्थान से बाहर आया और बाबाजी महाराज के प्रति समवेदना प्रकट करने लगा। क्षमाशील महापुरुष ने हत्या के षड्यंत्रों में लिप्त अपने इस रसोइया को एक शब्द भी नहीं कहा। उसे साथ लेकर ये सत्वर आगरा से विदा हो गये।

आश्चर्य की बात कि इतने कुकृत्यों के बाद भी बाबा ने अपने इस बदनाम रसोइया का परित्याग नहीं किया। केवल इतना ही नहीं, पाप-कर्म के लिए उन्होंने इस दुष्ट की कभी भर्त्सना तक नहीं की। पूर्ववत् वह आश्रम में बना रहा, और भोजन तैयार करने का भार भी उसके ऊपर ही बराबर रहा।

पुष्करदास के इन सब जघन्य अपराधों के प्रति बाबाजी की उदासीनता एवं निर्विकार भाव उनके अनेक भक्तों के लिए दुर्बोध्य था। इस बार ताराकिशोरबाबू (संतदास) ने इस प्रश्न को उठाया कि बाबाजी महाराज इस पापाचारी को उपयुक्त दण्ड क्यों नहीं देते? काठिया-बाबा ने उत्तर दिया, "अजी, एक व्यक्ति क्या दूसरे व्यक्ति को सच-मुच दुःख दे सकता है? अपने-अपने कर्मानुसार ही हमें सुख-दुःख भोगना पड़ता है। इसके सिवा विचार कर देखो, पुष्करदास क्या मुझे कोई हानि पहुँचा सका है? मैं तो एक एवं अखण्ड सर्वदा ही रहा हूँ। यह जो मेरा वास्तविक 'अहं' है, उसका किसी प्रकार से अनिष्ट-साधन करने की शक्ति क्या पुष्करदास को है? तो फिर मैं उसे आश्रम से क्यों बाहर कर दूँ? उसका तिरस्कार ही क्यों करूँ? मैं तुम से सच कहता हूँ—मेरे शरीर को सुख-दुःख का कुछ भी भान नहीं होता, किसी तरह का विकार भी नहीं देखा जाता।" ताराकिशोरबाबू अवाक् होकर इस देवोपम मनुष्य के प्रति एक दृष्टि से देखते रहे।

पुष्करदास की अर्थलोलुपता, क्रमशः बढ़ती ही गई। उसकी दृढ़ धारणा थी—काठियाबाबा की कमर में जो काठ कमर का बंद जड़ा हुआ

था, उसमें ही उनका गुप्त संचित धन रखा हुआ था। उसका प्राणनाश करके वह उसे पा सकता है। अन्तिम चेष्टा के रूप में उसने एक बार फिर बाबाजी महाराज के भोजन रोटी में संखिया विष मिला दिया। मात्रा लगभग दो तोला। इस बार परिस्थिति बहुत जटिल हो उठी। विष-क्रिया के फलस्वरूप महाराज के मस्तक पर गम्भीर आघात पहुँचा। पाकस्थली की गड़बड़ी भी बहुत बढ़ गई।

पेट फूल जाने के कारण बाबाजी महाराज के लिए लकड़ी के कमरबन्द की चाप सहन करना असम्भव हो रहा था। सेवकगण उनको अनुमति लेकर कमरबन्द को आरो से चीर डाला। उस खण्डित कमरबंद में गुप्त सोना का कहीं नामो-निशान नहीं था। यह देखकर उस दिन पुष्करदास को बड़ी निराशा हुई।

काठियाबाबा के पीड़ित होने का समाचार सुनकर शिष्य ताराकिशोरबाबू कलकत्ता से वृन्दावन दौड़े हुए आये। यह दुःखद समाचार ज्यों ही कलकत्ता पहुँचा, विजयकृष्ण गोस्वामीजी अपने शिष्यों के समक्ष इसका वास्तविक कारण निर्णय करने बैठे। उनकी बात सुने बिना ताराकिशोरबाबू को चैन कहाँ? गोस्वामीजी ने कहा, "काठियाबाबा के सिद्ध शरीर में रोग होने की तो कोई सम्भावना नहीं है। अवश्य ही किसी साधु ने उन्हें विष दिया है।"

बाबाजी महाराज की रोगशय्या के समीप पहुँच कर बातचीत के प्रसंग में ताराकिशोरबाबू ने गोस्वामीजी का यह मन्तव्य उन्हें सुनाया। बाबाजी हँसते हुए बोल उठे, "देखो तो, कलकत्ता में बैठे हुए महात्मा को किस प्रकार यहाँ की खबर मिल गई। हाँ, पुष्करदास ने इसबार दो तोला संखिया मुझे रोटी में मिला कर दिया है। अब मेरा शरीर वृद्ध हो गया। इसलिए संखिया ने भी इस बार शरीर को कष्ट दिया है।"

सबसे बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह कि इतने दुष्कर्मों के बाद भी पुष्करदास आश्रम में रसोई का काम कर ही रहा है। इतना ही नहीं, बल्कि रोग-शय्या पर लेटे हुए काठियाबाबा को पथ्यादि देने का भार भी

उसी के ऊपर है। ताराकिशोरबाबू तथा अन्यान्य शिष्यों ने इस बार इस व्यवस्था के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन उठाया—इस पापाशय को फौरन् आश्रम से दूर कर देना होगा। ताराकिशोरबाबू ने सबकी यह राय स्पष्टरूप से बाबाजी को जता दी।

काठियाबाबा ने इसके उत्तर में कहा, "बेटा, अब इसका सब भ्रम मिट गया। इसके मन में यह बात जम गई थी कि मेरे कमरबन्द में बहुत सी सोने की अशर्फियाँ हैं, और मुझे मारकर यह सब धन ले लेगा। कमरबन्द कट गया और इसके साथ ही इसका भ्रम भी दूर हो गया। तुम्हारी मर्जी हो तो इसे अभी निकाल दो।"

इसके बाद न मालूम क्या सोचकर काठियाबाबा स्वयं पुष्करदास को डांटने लगे। कहा, "तुमसे रसोई कुछ नहीं बनता है। हर बार, तुम रसोई में ज्यादा नमक डाल देते हो, और तुमने मुझे जहर भी पिलाया। तुम आश्रम में अब मत रहो। यहाँ से निकल जाओ।"

पुष्करदासजी ने देखा, इस बार आश्रम के सब लोग उसके ऊपर बिगड़ गये हैं। अब उसके लिए यहाँ रहना सम्भव नहीं है। धीरे-धीरे वह सबके सामने ही आश्रम से निकल गया। आश्रमवासी उस समय विस्मित होकर केवल बाबाजी की बातों पर विचार कर रहे थे। भोजन में अधिक नमक डालना और विष देना जिसके लिए एक समान है, उस महापुरुष की महिमा एवं अध्यात्म-शक्ति की थाह कौन पा सकता है ?

काठियाबाबा की समदर्शिता की और भी कितनी ही कहानियाँ हैं। एक बार एक तीर्थयात्री देशीनरेश ने वृन्दावन आकर वहाँ कुछ दिनों तक वास किया। बाबाजी महाराज के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कहानियों को सुनकर उनके मन में दर्शन की आकांक्षा उत्पन्न हुई। महाराजा अत्यन्त भक्तिपरायण थे, इसके सिवा सच्चे हृदय से साधुसेवी थे। काठियाबाबा एक दिन सादर आमन्त्रित होकर महाराजा के भवन में उपस्थित हुए। महाराज ने समारोह के

साथ उनकी अभ्यर्थना की और श्रद्धाभाव से बहुत सी वस्तुएं भेंट की।

किन्तु राज-अतिथि बाबाजी का इस समय एक विचित्र आचरण देखा गया। महाराजा से विदा होकर जब वे महल से बाहर आये, राजा के एक दरबान के प्रति उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। वह दरबान बड़ा ही धर्मनिष्ठ एवं भक्त था—भाग्यवान भी था, कारण उस दिन अयाचित रूप में काठियाबाबा ने उसके प्रति जैसी कृपा दिखलाई उससे जो लोग वहाँ उपस्थित थे सब विस्मित हुए बिना नहीं रहे।

दरबान ने ज्योंही श्रद्धाभाव से महाराज को प्रणाम किया, सदानन्द महापुरुष राजभवन के द्वार पर उसके पास ही बैठ गये। झोली से चिलम निकाल कर उस पर गांजा रखा गया।

दरबान के पास बैठकर बाबाजी गांजा के दम-पर-दम लगाने लगे। उसके साथ इस तरह घुल-मिलकर बातचीत और हँसी-ठट्ठा करने लगे मानो वह बहुत दिनों का अन्तरङ्ग मित्र या साथी हो। कुछ समय तक इस प्रकार धूम्रपान और हास्य-विनोद करने के बाद बाबाजी वहाँ से रवाना हुए। महाराजा और दूसरे लोग जो वहाँ उपस्थित थे, आश्चर्य से आँखें फाड़कर अबतक बाबाजी की यह विचित्र लीला देख रहे थे। किसी को यह समझने में देर नहीं लगी कि इस समदर्शी महापुरुष की दृष्टि में राजा और राजभृत्य के बीच का व्यवधान एकबारगी मिट गया है।

ब्रह्मज्ञानी काठियाबाबा का बालकवत् आचरण बड़ा ही मनोहर था। एक दिन स्नान के बाद उन्होंने तिलक लगाकर एक खंड श्वेत वस्त्र धारण किया। निकटस्थ एक भक्त ने उनकी ओर देखकर कहा, "वाह, वाह! महाराज, आज आप बहुत सुन्दर दिखाई दे रहे हैं।" शिशुसुलभ आनन्द से महाराज मानो विगलित हो गये। उत्साह के साथ सब को सुनाकर बारबार कहने लगे, "मेरी एक सुन्दर बनात की अलफी है, उसे जब मैं पहनता हूँ तब कितना खूबसूरत लगता हूँ, यह

तो तुमलोगों में से किसी ने देखा ही नहीं। एक बार भी तो देख लो, तब समझ सकोगे कि वह कितनी विलक्षण है।"

त्रिपुरा राज्य के राजघराने की महिलाओं ने कसीदा कढ़ा हुआ एक सुन्दर वस्त्रखंड काठियाबाबा को भेंट के रूप में भेजा था। उस रंगीन चटकदार वस्त्र को देखकर बाबाजी फूले नहीं समाते थे। बड़े उत्साह के साथ उसे शाल की तरह देह पर रखा और कहने लगे, "मैं इसे योंही शरीर पर धारण किये रहूँगा—और वृन्दावन के सब लोगों को इस रूप में ही देख आऊँगा।"

व्रजवासी मात्र काठियाबाबा के परम मित्र थे, इसलिए उन्हें दिखाये बिना किस तरह काम चल सकता है? जैसा कहा वैसा ही किया। एक बालक की तरह आह्लाद से भरपूर निकटस्थ एक बाजार में जा पहुँचे। गर्व के साथ सब को कहने लगे, "देखो-देखो, यह सुन्दर कपड़ा मुझे भेंट में मिला है। जानते हो? त्रिपुरा राजघराने की महिलाओं ने अपने हाथ से मेरे लिए यह बुनकर भेजा है।" बाजार के व्रजवासी भी बाबाजी महाराज की इस बालसुलभ सरलता को देखकर परम आनन्दित हुए। वे आश्वासन देते हुए बार-बार सिर झुका कर कहने लगे, "सचमुच महाराज, आपका यह कपड़ा बड़ा विलक्षण है। इस तरह का और कहीं देखा नहीं जाता।"

एक दिन भोर में आश्रम की सीमा के पास गोलमाल सुनकर सब लोग दौड़ आये। देखा, पड़ोस के अखाड़े के एक बालक-साधु के साथ काठियाबाबा ने झगड़ा शुरू कर दिया है। बालक बाबाजी के आश्रम से अनार की पत्तियाँ लेने आया है, किसी औषध में व्यवहार करने के लिए। किन्तु बाबा ने भी प्रतिज्ञा कर ली थी—किसी प्रकार भी अनार की पत्तियाँ नहीं लेने देंगे। बालक के साथ इस प्रकार प्रचंड रूप में झगड़ा करने लगे मानो इन पत्तियों के तोड़ने के ऊपर ही उस दिन उनके आश्रम का अस्तित्व निर्भर कर रहा हो।

बाबाजी चिल्लाकर कहने लगे, "तुम क्यों ये पत्ते तोड़ोगे? मेरा

यह पौधा अभी छोटा है—किसी तरह भी नहीं मिल सकता। कहीं और जगह जाकर क्यों नहीं तलाश करते ?" बालक भी अड़ा हुआ था। वह उत्तेजित होकर गालियाँ बकने लगा और बाबाजी भी उसके प्रति उससे भी बढ़कर अश्लील वाक्यों का प्रयोग करने लगे। उसे बगीचे से निकाल बाहर करके अपनी कोठरी में लौट आये और चिलम पीने की तैयारी करने लगे। इसके बाद सब लोगों को सुना-सुनाकर उत्साहपूर्वक कहने लगे, "मेरे अनार के पत्तों को लेकर चला जायगा। हूँ, इस तरह ले जाना खेल नहीं है। मैंने भी उसे नहीं छोड़ा। जोर से गाली देकर खदेड़ दिया।" उस समय उनका मनोभाव जिस तरह का हो रहा था उससे ऐसा लगता था मानो कोई युद्ध जीत कर और बहुत बड़ी संपत्ति बचाकर अपने गृह लौटा हो। \\

और फिर इस बालोचित भाव का विपरीत रूप भी उस समय देखा जाता था जब वे अध्यात्म-शक्ति के धारक एवं वाहक एक महाशक्ति-धर योगी के रूप में वहाँ विराजमान होते थे। काठियाबाबा के शिष्य संतदासजी उस समय आध्यात्मिक साधना के विभिन्न स्तरों का अतिक्रम कर चुके थे। कुण्डलिनी शक्ति की ऊर्ध्वगति की प्रक्रिया से घबरा कर एक दिन उन्होंने बाबाजी से कहा, "महाराज, मेरी छाती के अन्दर शक्ति बद्ध जैसी हो रही है!"

बाबाजी महाराज ने नितान्त सहज भाव से उत्तर दिया "हाँ-हाँ, वहाँ कमल रहता है, वही रोक देता है।"

साधक ताराकिशोर ने व्याकुल भाव से निवेदन किया, ग्रन्थि की यह बाधा क्या गुरुदेव कृपा करके छुड़ा देंगे ? काठियाबाबा शिष्य को तिरस्कृत करते हुए बोले—'मैं किसी प्रकार भी यह नहीं कर सकता।" कुछ समय के बाद उन्होंने इसका कारण बताया—इसी समय यदि वे शिष्य की ग्रन्थि छुड़ा देंगे तब शिष्य के लिए ईश्वर निर्दिष्ट कार्य करना संभव नहीं होगा। गुरुजी से यह अज्ञात नहीं था कि संसार में उनके इस शिष्य के और भी बहुत से कार्य थे। समय आने पर वे ग्रन्थि-भेद

करा देंगे, यह आश्वासन भी उन्होंने दिया।

भेंट में रंगीन कपड़ा मिलने पर बच्चे की तरह खुश होकर जो बाजार में दौड़ पड़ते हैं, अनार की हरी पत्तियों के लिए बालक से क्षणभर में झगड़ने लगते हैं—उनका यह कौन-सा अलौकिक रूप है ! शक्तिधर गुरु के रूप में उनका यह प्रकाश बड़ा ही महिमामय है। चिन्मय लोक की कुंजी उनके हाथ में है जिससे साधक शिष्य के ग्रन्थि-भेद का कार्य वे सहज ही संपन्न कर सकते हैं।

काठियाबाबा का बच्चे की तरह भाव और लीला के अभिनय को देख कर उनका स्वरूप समझना कठिन था। वे एक असाधारण योग-विभूति-संपन्न महापुरुष थे, इसकी धारणा ही बहुत लोगों को नहीं होती थी। और इस महासमर्थ योगी की अन्तरात्मा में प्रेम-यमुना की जो धारा तरंगित हो रही थी उसकी सूचना भी कितने लोगों को थी ? संतदासजी की लेखनी से इसका अपूर्व आलेख्य चित्रित हुआ है। उस दिन आश्रम के भगवान श्रीबिहारीजी और श्रीराधिकाजी को लेकर वृन्दावन धाम में शोभायात्रा हो रही थी। सहसा यह देखा गया कि काठियाबाबा के शरीर के एक-एक रोम-कूप से अविराम धारा में पसीना बह रहा है। सन्तदासजी तुरन्त पंखा लेकर गुरुदेव को हवा करने लगे।

बाबाजी ने उन्हें मना कर दिया और हँसते हुए बोले "बेटा, जैसा सोच रहे हो, वह नहीं है। यह गर्मी का पसीना नहीं, हवा द्वारा इसे निवारण नहीं किया जा सकता। यह एक प्रकार का प्रेम-ज्वर है। श्रीराधिकाजी की मूर्ति के चतुर्दिक् वृन्दावन की गोपियों के दर्शन से ही इस प्रेम-ज्वर की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार का प्रेम मुझे पहली बार नहीं हुआ है, अनेक बार पहले भी हो चुका है। एक बार इस शरीर में यह प्रेम-ज्वर लगभग एक मास रहा, किन्तु उस समय शरीर से एक बिन्दु जल भी नहीं गिरा था। सारा शरीर आग की तरह उत्तप्त रहता था शरीर का एक-एक रोम और सिर के

बाल काँटे की तरह हो गये थे" संतदासजी ने उस दिन प्रेम का सात्त्विक विकार दर्शन जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में किया उससे इन्हें असीम आश्चर्य हुआ।

उच्च कोटि के सिद्धपुरुष एवं साधक काठियाबाबा से मिलने के लिए प्रायः आया करते थे। इस महापुरुष की महिमा उनके लिए अज्ञात नहीं थी। इनके साथ मिलने और वार्त्तालाप करने के समय अनेक अवसर ऐसे आये जब कि बाबाजी महाराज के अध्यात्म-जीवन का रेखा-चित्र कुछ अंशों में अभिव्यक्त हो उठता था। इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि बाबाजी के साथ मिलने वाले चाहे कितने ही बड़े साधक या ब्रह्मज्ञानी पुरुष क्यों न हों, उनके साथ इस महापुरुष के व्यवहार में कोई विशेषता या तारतम्य नहीं देखा जाता था।

वृन्दावन में एक खर्वकाय, योगविभूति-संपन्न साधु वास करते थे। उनकी वयस की प्राचीनता साधक समाज में प्रसिद्ध थी जिससे कितने ही लोग उन्हें कल्पान्ती नाम से अभिहित करते थे। विभिन्न मठों और साधुओं के अखाड़ों में इन महापुरुष की बहुत मर्यादा थी। किन्तु इनके साथ भी काठियाबाबा का आचरण एकदम सहज एवं स्वाभाविक होता था। बाबाजी महाराज साधारण जनों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार करते थे इनके साथ भी वैसा ही।

"काठियाबाबा से परिचित हो जाने पर वृन्दावन रहते हुए प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी बीच-बीच में आश्रम में बाबा के दर्शनार्थ आया करते थे। किन्तु आश्चर्य की बात, दोनों के बीच प्रायः किसी प्रकार का आलाप नहीं होता था। गोस्वामीजी बाबाजी महाराज को दंडवत् करके अन्य सब लोगों के साथ चुपचाप बैठे रहते थे। इसके बाद प्रणाम करके उसी प्रकार चुप-चाप वहाँ से चले जाते।

दोनों के बीच किसी प्रकार का सम्भाषण या तत्त्वा-लोचना नहीं होती, यह देखकर एक भक्त ने गोस्वामीजी से इस विषय में प्रश्न

किया। उत्तर में उन्होंने कहा, "मैं तो बाबाजी महाराज के साथ रोज ही सम्भाषण करता रहता हूँ। वे मौनी रहकर ही मेरे सब प्रश्नों के उत्तर प्रदान करते हैं, मुझे प्रेरणा देते हैं। बाहर के किसी व्यक्ति के साथ कथोपकथन जिस प्रकार मैं सुनता हूँ, उसी प्रकार काठियाबाबा की वाणी, अन्तर में संचारित उनके निर्देशादि भी मैं स्पष्ट रूप में समझता हूँ।"

परमहंसजी नामक एक प्राचीन सिद्धपुरुष व्रजभूमि अञ्चल में वास करते थे। एक अलौकिक शक्ति-संपन्न साधु के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी। एक बार व्रज-परिक्रमा के समय साधुओं की जमात के साथ ये परमहंसजी भी आ उपस्थित हुए। बड़े बड़े महंतों और साधकों की मंडली में इनकी बड़ी मर्यादा थी। एक दिन काठियाबाबा के खेमे में श्रीबिहारीजी की आरती हो रही थी। इसी समय परमहंसजी भी वहाँ आ गये। आरती समाप्त हो जाने पर उन्होंने काठियाबाबा की प्रदक्षिणा की और साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

आश्रम के शिष्यों में दो-एक व्यक्तियों ने परमहंसजी का विशेष रूप में आदर-सत्कार करने की इच्छा प्रकट की। बाबाजी के सामने जब यह प्रस्ताव रखा गया, उन्होंने अत्यन्त अन्यमनस्क भाव से कहना शुरू किया, "बेटा, परमहंसजी का समादर करना मेरे लिए आवश्यक नहीं है। वे ही नहीं, उनके गुरुदेव भी यदि आते तो मैं अपने आसन से उठकर उनकी अगवानी करने नहीं जाता। मगर यदि तुम लोगों को अच्छा लगे तो आदर करके उन्हें बुला सकते हो। यहाँ तमाखू, गाँजा, भांग सब कुछ है; उनकी आव-भगत करो। मेरी ओर से कोई मनाही नहीं है।" इसके बाद परमहंसजी की अभ्यर्थना करने का उत्साह किसी में नहीं रह गया। देखा गया, यह महासमर्थ साधु अन्यान्य साधारण भक्तों की तरह दूर से ही काठियाबाबा के आसन की ओर देखते रहे, और एक बार फिर उन्हें दंडवत् करके चले गये।

एक बार बाबाजी महाराज कलकत्ता आये। इस समय अपने कतिपय शिष्यों के साथ भोलागिरिजी उनके दर्शन करने आये। उस

समय भोलागिरिजी की प्रसिद्धि एवं प्रतिपत्ति चारों ओर फैल रही थी। किन्तु इस विख्यात महापुरुष के आगमन पर भी काठियाबाबा के आचरण में कोई तार-तम्य नहीं देखा गया। वे निर्विकार भाव से दूसरी ओर मुँह करके अपनी शय्या पर चुपचाप लेटे रहे।

भोलागिरि महाराज कमरे में प्रवेश करते ही हाथ जोड़कर खड़े-खड़े उनकी स्तुति करने लगे। बाबाजी महाराज के साथ संक्षेप में दो-चार बातें करने के बाद वहाँ जो दो-चार भक्त उपस्थित थे उनके अनुरोध पर भोलागिरिजी ने उन्हें ज्ञानोपदेश किया। बाबाजी महाराज ने मुस्कराते हुए केवल इतना ही कहा, "इस प्रकार के उपदेश का क्या कोई फल होता है ? श्रोताओं के जीवन में इन सबका क्या विशेष प्रभाव पड़ता है ? माननीय अतिथि जब वहाँ से विदा होने लगे तब काठियाबाबा उठ खड़े हुए। भोलागिरिजी के कंधे पर हाथ रखकर उनके साथ इस प्रकार नाना हास्य कौतुक करने लगे मानो ये उनके कोई घनिष्ठ साथी हों।

कुम्भमेला में काठियाबाबा के खेमे में बहुत से साधु एकत्र हुआ करते थे। कितने ही सिद्धपुरुष बाबाजी महाराज के चरणों में नत होने के लिए वहाँ उपस्थित होते थे। इन सब साधुओं एवं साधकों की उपस्थिति से भी काठियाबाबा के आचरण में कोई विलक्षणता नहीं देखी जाती थी। साधारण दर्शनार्थियों को जिस प्रकार वे हाथ उठाकर आशीर्वाद देते थे, आगन्तुक महापुरुषों के प्रति उनका उसी प्रकार का स्वाभाविक आचरण होता था।

१९०९ ई० का जनवरी महीना प्रचण्ड शीत के कुहासे से समस्त व्रजधाम समाच्छन्न था। काफी रात बीत चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। काठियाबाबा महाराज के प्रतीक्षित महाप्रयाण की घड़ी आज आ पहुँची है।

आधी रात में शय्या से उठकर बाबाजी महाराज ने सेवक-शिष्य रामफल को पुकारा और पीने के लिए पानी माँगा। पानी पीकर

सिर्फ इतना ही कहा, "रामफल, लो भाई तेरे हाथ का जल भी पी लिया। अब तुम सो जाओ, हम भी अब जायँगे।" महापुरुष की आसन्न महायात्रा का यह प्रच्छन्न इङ्गित रामफल किस प्रकार समझ सकता था ? दिन-भर का थका हुआ वह शीघ्र ही निद्रामग्न हो गया।

कुछ ही समय के बाद आश्रम के दो साधक एकाएक नींद टूटने पर जाग पड़े। उन दोनों ने साश्चर्य देखा, आश्रम का समग्र परिवेश एक दिव्य ज्योति से परिपूर्ण हो गया है। उसी समय वे बाबाजी महाराज की कोठरी में दौड़कर गये। देखा, वे चिरन्तन नित्यलीला के आनन्दमय धाम में प्रविष्ट कर गये हैं।

काठियाबाबा महाराज की मानस सन्तान, परमप्रिय शिष्य सन्तदासजी इस समाचार से अवगत होकर दो दिन बाद वृन्दावन पहुँचे। आकर देखा-गुरु महाराज के देहत्याग करने के बाद सारा आश्रम मानो निष्प्राण एवं श्रीविहीन हो रहा है। आश्रमपति के उठ जाने के बाद से ही आश्रम की गायों की आंखों से निरन्तर अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। आश्रम की मूर्ति—श्रीराधिकाजी के नेत्रों से भी जलधारा बह रही है। संतदास ने एक और दृश्य का उल्लेख किया है, "स्थानीय प्रथानुसार तेरहवें दिन बाबाजी महाराज के उद्देश्य से भंडारा किया गया। उस दिन से श्रीराधिकाजी के दोनों नेत्रों से अश्रु के समान रसधारा बहना बन्द हो गया और दोनों देवमूर्त्तियों का मलिन भाव भी जाता रहा। उपर्युक्त रूप में रसधारा कई दिनों तक प्रवाहित होते रहने से श्रीराधिकाजी के नेत्रद्वय किञ्चित् विरूप हो गये थे। इसलिए बाध्य होकर हमें उनके स्थान पर अन्य नेत्र बैठाने पड़े।"

•

स्वामी भास्करानन्द सरस्वती

कानपुर जिला के अन्तर्गत मैथलालपुर ग्राम किसी समय शाखज ब्राह्मणों एवं भक्तकवियों के जन्मस्थान के रूप में प्रसिद्ध था। पण्डित मिश्रीलाल मिश्र इस ग्राम के ही एक प्रमुख व्यक्ति थे। उदारमना एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मण के रूप में गाँव के समस्त स्त्री-पुरुष उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। उस दिन तीसरे पहर का समय था। एकाएक न मालूम कहाँ से तीन संन्यासी उनके द्वार पर आ पहुँचे। प्रणाम करके पण्डित मिश्रीलाल करबद्ध भाव से खड़े थे जब कि उन संन्यासियों में जो सबसे वृद्ध थे उन्होंने मिश्रीलाल को अपने पास बुलाकर कहा, "मिश्रीलाल, आज रात में तुम्हारे घर में पुत्र जन्म लेगा। आगे चलकर वह बहुत से मुमुक्षुजनों का पथ-प्रदर्शन करेगा। किन्तु एक बात याद रखना। शिशु के जन्म लेने पर किसी को उसका मुँह नहीं देखने देना, और तुरत हमें बुलाकर अंतःपुर में ले चलना।"

मिश्रीलाल की पत्नी आसन्नप्रसवा थीं। उसी रात १८३३ ई० की शुक्ला सप्तमी को सर्वसुलक्षणयुक्त एक सन्तान ने जन्म ग्रहण किया। संन्यासियों ने शिशु का मुखदर्शन करके आंगन में हवन किया। दूसरे दिन फिर उन संन्यासियों का कहीं पता नहीं चला।

पण्डित के नवजात बालक को देखने के लिए दूसरे दिन प्रातःकाल उनके घर पर भीड़ जमा हो गई। इसके सिवा जब लोगों ने संन्यासियों

के कर्मानुष्ठान की बात सुनी तो उनका कौतूहल और भी बढ़ गया। दूर-दूर से उस दिन मिश्रीलाल के घर पर लोग एकत्र होने लगे। शिशु-पुत्र मोतीराम को लेकर पण्डित के आंगन में उस दिन आनन्द का सागर लहराने लगा।

इस घटना के बाद अठारह वर्ष बीत चुके। फिर इस घर में ही एक नवजात का आविर्भाव हुआ। वृद्ध पण्डित मिश्रीलाल के आनन्दोल्लास का क्या कहना! प्राणप्रिय पुत्र मोतीराम को पुत्रजन्म का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। बार-बार पौत्र का मुखदर्शन करके वे चंचल हो रहे थे, उनके कल्पनालोक में सुख-स्वप्न के कितने प्रासाद निर्मित हो रहे थे। किन्तु बिना मेघ के वज्रपात की तरह उस दिन सहसा सब कुछ उलट-पुलट हो गया। पण्डित के घर में रोने की आवाज सुनकर ग्रामवासी चकित हो उठे। सब को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मिश्रीलाल का पुत्र प्रतिभाशाली युवक मोतीराम सदा के लिए घर छोड़कर न मालूम कहाँ चला गया।

पुत्रजन्म के साथ-साथ मोतीराम का मन वीतराग हो उठा। गृहस्थ-जीवन के इस नये बन्धन को स्वीकार लेने के लिए उनका मन किसी प्रकार राजी नहीं हो रहा था। इसलिए उन्होंने जीवन का चरम सिद्धांत ग्रहण किया। तरुणी भार्या एवं नवजात शिशु के मायापाश को तोड़कर मुक्ति-पथ पर अग्रसर हुए।

अठारह वर्ष पूर्व पण्डित मिश्रीलाल के गृह में एक शिशु के आविर्भाव से जो आनन्दधारा प्रवाहित हुई थी, आज के इस शिशु के आगमन से वह स्रोतधारा खण्डित हो गई। इस घटना के माध्यम से ही परवर्ती काल में एक महाजीवन का इतिहास रचित हुआ। विषय-भोगविरक्त मोतीराम का गृहत्याग उसके उस भावी योगी जीवन

का सूचक था। जिसमें वे स्वामी भास्करानन्द के रूप में भारत के अध्यात्म-गगन में देदीप्यमान हुए।

मोतीराम एक नैष्ठिक ब्राह्मण वंश के संतान थे। किशोर वयस में ही संस्कृत शास्त्र और साहित्य के अध्ययन की ओर उनकी विशेष अभिरुचि थी। उनकी मेधाशक्ति विलक्षण थी। सहज ही सारे पाठ उन्हें कण्ठस्थ हो जाते थे। उनके शिक्षक एवं सहपाठी उनकी इस प्रतिभा को देखकर चमत्कृत हो जाते थे।

तीक्ष्णधी बालक के अन्तर्लोक में वैराग्य की फल्गुधारा निरंतर प्रवाहित होती रहती थी। बीच-बीच में इसका बहिः प्रकाश सबको चकित किये बिना नहीं रहता। पुत्र के इस विपरीत मनोभाव को देख कर मिश्रीलाल कभी-कभी शंकित हो उठते थे। गृहस्थ बन्धन में पुत्र को आबद्ध किये बिना वे किस प्रकार निश्चिन्त हो सकते थे? आत्मीय जन एवं मित्रों से सलाह करके उन्होंने एक रूपवती कन्या के साथ पुत्र मोतीराम का विवाह कर दिया।

शास्त्रों में पारंगत हुए बिना ब्राह्मण संतान का काम किस प्रकार चल सकता था? इसलिए विवाह के बाद अध्ययन के लिए मोतीराम को काशी भेज दिया गया। प्रतिभावान युवक सत्रह वर्ष के वयस में अध्ययन समाप्त करके स्वगृह लौटा। वैराग्य की जो वह्निशिखा अबतक उसके अन्तस्तल में छिपी हुई थी वह काशी से घर लौटने पर तीव्रतर हो उठी। पाण्डित्य की प्रसिद्धि, परिवार का स्नेह-बन्धन और भोगवासना कुछ भी उसे बांध नहीं सका। एक अज्ञात अमृत-लोक का कर-स्पर्श वह अपने अन्तर में अनुभव करने लगे। उदासीन मोतीराम क्रमशः गम्भीर एवं अन्तर्मुखीन होने लगे। ऐसे समय में ही उन्हें पुत्र-जन्म का संवाद मिला। और उसी दिन उन्होंने अपने मन में अन्तिम सिद्धान्त ग्रहण कर लिया। मध्य रात्रि में गृहत्याग कर चल पड़े।

इसके बाद मुक्तिकामी परिव्राजक उज्जयिनी पहुँचे। यह पुण्य महाकाल शिव का अधिष्ठान क्षेत्र है, कलनादिनी शिप्रानदी के तट पर मन्दिर-श्रेणी एवं स्नान-घाट, असंख्य तीर्थयात्रियों एवं भक्तजनों की पूजा और स्तवगान से वातावरण मुखरित हो रहा था। मार्ग में और घाटों पर दण्डी, संन्यासी और परमहंस बहुत बड़ी संख्या में विचरण करते हुए दिखायी पड़ रहे थे। मोतीराम ने यहाँ कुछ दिनों तक टिकने का निश्चय किया। शरीर पर एकमात्र वस्त्र और पास में एक पैसा भी नहीं—इस अवस्था में ही वे घर छोड़कर निकल पड़े थे। इसलिए आकाशवृत्ति के सिवा और दूसरा कोई उपाय नहीं था। बहुत सबेरे पुण्य-सलिला शिप्रा में स्नान करके वे महाकाल के मन्दिर में चले जाते और वहीं ध्यान-मग्न हो जाते और कभी उज्जयिनी के श्मशान घाट पर भावाविष्ट अवस्था में उनका दिन बीत जाता।

उज्जयिनी की श्मशान-भूमि में कुछ दिनों तक उन्होंने अवस्थान किया। योगी, तांत्रिक एवं वेदान्ती आदि कितने ही संन्यासियों के सम्पर्क में वे आये। किन्तु, फिर भी उनके अध्यात्मजीवन की तृष्णा नहीं मिटी। कौन उन्हें मुक्ति-पथ का संधान देगा, अभीष्ट सिद्धि की कुंजी किसके साथ में है? मोतीराम एक बार फिर परिव्राजन में निकले। इसके बाद तीन-चार वर्षों तक द्वारका में रह कर उन्होंने एक सुप्रसिद्ध वेदान्ती के निकट वेदान्त शास्त्र का अध्ययन किया।

उज्जयिनी से लौटकर मोतीराम ने संन्यासव्रत धारण करने का संकल्प किया। इस समय उनकी अवस्था सत्ताइस वर्ष की थी। ब्रह्म-ज्ञानी महापुरुष के रूप में उस समय दक्षिण देश में श्रीमद् पूर्णानन्द सरस्वती की ख्याति फैली हुई थी। मोतीराम पर कृपा करके उन्होंने उन्हें संन्यासधर्म में दीक्षित किया। गृहस्थाश्रम के समस्त

परिचय को समाप्त तथा यज्ञोपवीत का परित्याग करके उन्होंने गुरु-प्रदत्त नया नाम ग्रहण किया—भास्करानंद सरस्वती। इसके बाद नदी के तटवर्त्ती एक श्मशान में रह कर उन्होंने कुछ समय तक कठोर साधना की।

संन्यास जीवन के प्रथानुसार स्वामी भास्करानन्द एक बार अपने जन्म स्थान मैथलालपुर का परिदर्शन कर आये। जिस पुत्र के जन्म लेने के साथ-साथ उन्होंने गृहत्याग किया था, वह इस बीच संसार की माया का त्याग करके परलोकवासी हो चुका था। स्वजन, परिजन का अनुनय-विनय, उनका अश्रुजल कुछ भी उस दिन इस सर्वत्यागी संन्यासी को रोककर नहीं रख सका।

इसके बाद उसकी तीर्थ-परिक्रमा आरम्भ हुई। तेरह वर्षों तक लगातार वे भारत भ्रमण करते रहे और फिर हरिद्वार आ उपस्थित हुए। सौभाग्य से इसी समय विख्यात वेदान्ती अनन्तराम के साथ उनका परिचय हुआ। इस सुयोग से लाभ उठाकर उन्होंने आचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया। उनके समीप वेदान्त के गूढ़तम तत्त्वों का अध्ययन एवं हृदयङ्गम करके उन्होने अपने को कृतार्थ माना।

अब शिवपुरी काशी का आह्वान आ पहुँचा। गंगा तट पर उपस्थित होकर भास्करानन्द ने जिस रूप में कठोर तपोव्रत का अवलम्बन किया, वह उनके साधक-जीवन का एक उज्ज्वल अध्याय है। इस समय उन्होंने आहार, विहार सब कुछ का परित्याग कर दिया था। गङ्गा के बालुका तट पर शीतकाल और ग्रीष्म में समान भाव से वास करते हुए वे विश्वनाथजी की आराधना में निमग्न हो गये। एकनिष्ठ साधक के अन्तर में दिन-रात इष्टदेव का ध्यान और बीच-बीच में उनके मुख से 'विश्वनाथ' का नाम वायुमण्डल में गूँजता रहता था।

'वेदव्यास' पत्रिका के सम्पादक भूधरबाबू ने उनकी उस समय

की तपश्चर्या की कहानी के सम्बन्ध में लिखा है—"स्वामीजी कड़ाके की सर्दी में नग्नदेह जल के ऊपर एक काष्ठ-खण्ड की तरह बहते हुए प्रचुर आनन्द का अनुभव कर रहे थे। प्रचण्ड गर्मी के समय तप्त बालू के ऊपर लेटे हुए ध्यानस्थ हो जाते थे। इस अवस्था में उन्हें कभी किसी ने आहार करते नहीं देखा। यदि कोई भक्त किसी प्रकार की खाद्य सामग्री उनके समीप रख जाता तो वे उसकी ओर एक बार देखकर मंद मुसकान के साथ वहां से चल देते। धीरे-धीरे वे इतने दुर्बल हो गये कि उठने की शक्ति भी नहीं रह गई। इस अवस्था में वे प्रायः समाधिस्थ रहा करते थे।"

कठोर तपस्वी स्वामीजी की त्याग-तितिक्षा एवं योग-विभूति की बात उस समय काशी में सर्वत्र फैल गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भक्त एवं कौतूहली जनता की भीड़ क्रमशः बढ़ने लगी। दर्शनार्थियों की भीड़ से घबरा कर स्वामीजी कभी-कभी तैर कर गङ्गा के उस पार रामनगर चले जाते और वहीं रहने लगते। वहाँ उन्हें ध्यान-साधना के लिए प्रचुर अवकाश मिलता और फिर जब इच्छा होती गङ्गा के इस पार काशी चले आते।

इसके बाद काशी के दुर्गा-स्थान के निकट आनन्दबाग में स्वामीजी ने आसन लगाया। उद्यान के मालिक अमेठी के राजा की प्रार्थना पर वे यहां आये थे। किन्तु स्वामीजी ने यह आदेश दे दिया था कि वहाँ किसी दर्शनार्थी का प्रवेश नहीं हो सकता। इसके लिए कई पहरेदार नियुक्त कर दिये गये थे। पहरेदारों की व्यवस्था होने पर भी जनता का वहाँ समागम एकबारगी रोका नहीं जा सकता।

इस समय तक स्वामी भास्करानन्द के योगैश्वर्य की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। मुक्तिकामी एवं कौतूहलवश आने वाले

दर्शनार्थी जनों के कोलाहल से आनन्दबाग का शांत वातावरण क्रमशः मुखरित हो उठा। अन्त में स्वामीजी ने अपनी कृपा का द्वार खोल दिया। दिन-भर भूमि के नीचे तहखाने में साधन-भजन करने के बाद जब वे ऊपर चले आते तब सब लोग उनके दर्शन प्राप्त कर के अपने को कृतार्थ मानते।

इस समय ही एक राजा के मन में स्वामीजी की परीक्षा लेने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। इसके लिए उन्होंने कई सुन्दरी वेश्याओं को नियुक्त किया। उन्हें यह कह दिया गया था कि यदि वे किसी प्रकार स्वामीजी के मन को जीत लेने में समर्थ होंगी तो उन्हें यथेष्ट पुरस्कार दिया जायगा। अधिक रात बीतने पर उन्हें आनन्दबाग में प्रवेश करा दिया गया और राजा स्वयं पास की एक झाड़ी में छिपकर देखते रहे।

उस दिन स्वामीजी तहखाने में ध्यान-मग्न होकर बैठे हुए थे। मन्द-मन्द रोशनी जल रही थी। वेश्याएँ गृह-द्वार पर बार-बार उपस्थित होकर लौट आती थीं। महात्मा की प्रशान्त महिमामय मूर्त्ति में उन्हें क्या दिखाई पड़ रहा था यह तो वे जानें, किन्तु उस समय सबके हृदय एक अज्ञात भय से काँप रहे थे। राजा की ओर से सब प्रकार के प्रलोभन दिये जाने पर भी उन्हें उत्साह नहीं होता था। रात्रि के अन्तिम प्रहर में सहसा स्वामीजी का ध्यान भंग हुआ। सामने भ्रष्टा नारियों को देखकर उच्च स्वर में वे बोल उठे, "यदि तुम्हें किञ्चित् भी अपने प्राणों का मोह है तो तुरत यहाँ से चली जाओ।" उनमें एक किसी प्रकार साहस करके वहाँ खड़ी रही, और सब भय से घबरा कर उसी क्षण आनन्दबाग के अहाते से बाहर चली आयीं।

स्वामीजी के सामने जो रमणी खड़ी रह गयी थी वह एकाएक

जोर से आर्त्त स्वर में चिल्ला उठी। न मालूम कहाँ से एक बहुत बड़ा साँप आकर उसके दोनों पाँवों को घेर लिया था। स्वामीजी धीरे-धीरे तहखाने से निकल कर निर्विकार भाव से ऊपर आ गये।

घटनास्थल पर उपस्थित होकर राजा बहादुर ने जो दृश्य देखा उससे उनका अन्तरात्मा काँप उठा। साँप से घिरी हुई उस वेश्या को उसी अवस्था में छोड़कर भीत हृदय वे अपने दलबल सहित वहाँ से भाग चले। सूर्योदय के बाद नारी को नाग-पाश से छुटकारा मिला। साँप मानो किसी एक अलौकिक शक्ति के निर्देश से धीरे-धीरे वह स्थान छोड़कर चला गया। भ्रष्टा नारी स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ी और क्षमायाचना करने लगी। बाद में चलकर उसने धन एवं विषय-भोग का सर्वथा त्याग करके भजन-साधन का मार्ग अपना लिया और स्वामीजी की कृपा से एक विशिष्ट साधिका बन गई।

क्रम-क्रम से स्वामीजी ने कौपीन तक का त्याग कर दिया। बाह्य एवं अन्तर का समस्त भेदा-भेद जिसकी दृष्टि में मिट चुका है उसके लिए लौकिक संस्कारों और आवश्यकताओं का अब कोई मूल्य नहीं रह गया है। इसीलिए देखा जाता था कि आनन्दबाग उद्यान के एक कोने में वे नग्न अवस्था में बैठे हुए हैं और सभ्य समाज के विशिष्ट ज्ञानी गुणी एवं कुलीन व्यक्ति उनके चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए उपस्थित हो रहे हैं। फिर भी लोकाचार एवं समाज के प्रयोजन को देखते हुए वे अपनी स्वाधीनता पर अंकुश लगा लेते थे। दर्शन के लिए जब भक्त महिलाएँ वहाँ पहुँचती थीं उस समय वे किसी से एक टुकड़ा वस्त्र माँगकर कमर के नीचे ढँक लेते थे। उनके चले जाने पर फिर उन्हें उसी प्रकार नग्न अवस्था में ध्यानमग्न होते या स्वच्छन्द विचरण करते देखा जाता था।
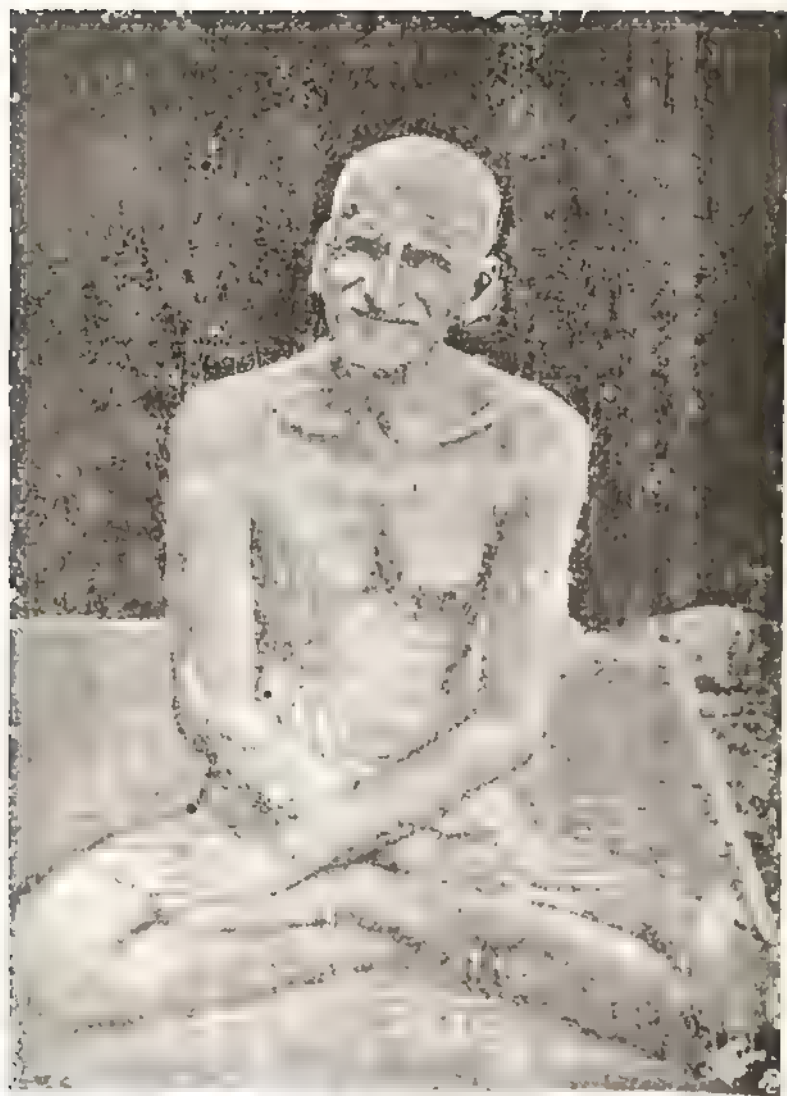
स्वामी भास्करानन्द सरस्वती

स्वामी भास्करानन्द असामान्य योग-विभूति के अधिकारी थे। उनके आसपास आश्रयप्रार्थियों का जमघट लगा रहता था। काशी के आनन्दबाग में अधिष्ठित एक महायोगी को उस समय जो लोग देखने आते थे उनके बाह्य जीवन का रूप उन्हें आश्चर्यचकित कर देता था। भारत और भारत से बाहर के राजे-महाराजे, लाटसाहब और सेनापति आदि बड़े-बड़े लोग जिनके दर्शनों से अपने को कृतार्थ मानते उसी प्रकार भूखे दीन-हीन, भिखारी भी उनकी स्नेह-दृष्टि, का स्पर्श प्राप्त करके नव-जीवन लाभ करते थे।

योगिवर की निज की जीवनधारा बड़ी अद्भुत थी। कड़ाके की सर्दी की रात में इस नग्न संन्यासी को आरामबाग की ओस से भींगी हुई घास पर बड़े आनन्द से सोये हुए देखा जाता था। 'वेद-व्यास' पत्रिका के संपादक भूदेवबाबू ने स्वामीजी के प्रसंग में लिखा है—"चौवालीस वर्ष की अवस्था में स्वामीजी का आनन्दबाग में आगमन हुआ। उस समय से लेकर शरीर-त्याग करने के समय तक उन्हें नग्नदेह, बायें हाथ मस्तक के ऊपर रखकर पूस-माघ महीने की घोर सर्दी में भी भूमि पर सोकर रात्रि व्यतीत करते देखा गया। इसमें कभी व्यतिक्रम नहीं हुआ। पहले जिस प्रकार प्यास से कंठ सूखते रहने पर भी पीने के पात्र के अभाव में जल नहीं पीते थे उसी प्रकार मृत्यु के अंतिम क्षण तक जल पीने के लिए लाये गये बर्तन में वे किसी प्रकार भी पानी नहीं पीते थे। यदि कोई दर्शनार्थी हाथ में लोटा लेकर उनके सामने उपस्थित होता तो उसके हाथ से लोटा लेकर जल पीते थे और उसी क्षण उसे लोटा लौटा देते थे, अन्यथा अंजलि से ही पान-पात्र का काम लेते थे।"

पानी पीने के बर्तन के अभाव में स्वामीजी को असुविधा हो रही है, यह सोचकर उनके एक घनिष्ठ शिष्य ने उन्हे एक पत्थर का जलपात्र प्रदान किया। उसी क्षण उन्होंने सामने में उपस्थित एक व्यक्ति को उसे

दान कर दिया। वे अक्सर कहा करते थे, "साधु सदा आकाशवृत्ति पर अवलंबन करके रहेगा—कल के लिए संचय करने का उसे क्या अधिकार है ?"

एक बार उनके एक संन्यासी शिष्य ने अगले दिन के लिए थोड़ा सा ईंधन इकट्ठा करके रखा। इसके लिए स्वामीजी ने उसे बहुत फटकारा। उनके अनुरागी भक्तों में कितने ही राजे, महाराजे और सेठ-साहूकार थे। ये लोग प्रायः टोकरियों में भरकर दुर्लभ फल-मूल, खाद्य पदार्थ, द्रव्यादि आनन्दबाग भेजा करते थे। आश्रम में पहुँचते ही ये सब चीजें बाँट दी जाती थीं। काश्मीरनरेश ने एक बार स्वामीजी को प्रणाम करके एक हजार अशर्फियाँ भेंट कीं। स्वामीजी ने उन्हें स्पर्श करके लौटाते हुए कहा, "मेरे पास तो एक अतिरिक्त कौपीन भी नहीं है, कहो तो मैं इन्हें कहाँ रखूँगा ?"

काशीनरेश ने एक दिन टोकरी में भरकर बहुत से फल भेजे। स्वामीजी ने जैसी उनकी आदत थी, उसी क्षण उपस्थित लोगों में उन्हें वितरित कर दिया। उनके भक्त और सेवक रामचरण तिवारी को यह अच्छा नहीं लगा। क्षुब्ध होकर वह सोचने लगे, ये सब भूत मिलकर सारे फल खा गये, स्वामीजी को कुछ नहीं दिया गया। उस दिन स्वामीजी आहार कर चुके थे। कल उन्हें भोजन के समय फल खाने के लिए दिये जायँगे, ऐसा मन में विचार करके तिवारीजी ने कुछ फल एक कपड़े में छिपाकर रख लिये थे। किन्तु सर्वज्ञ स्वामीजी की दृष्टि को धोखा देना कब संभव था ? वे परिहास के स्वर में कहने लगे, "क्यों रामचरण, तुम परमहंस को भंडारी बनाते हो ?"

भेद खुल जाने पर रामचरण बहुत लज्जित हुए। इसके बाद स्वामीजी उसे सान्त्वना देते हुए मधुर स्वर में बोले, "रामचरण, तुम समझ रहे हो कि मैं इन सब वस्तुओं को नहीं खाता, किन्तु तुम नहीं जानते कि मैं अपने इन भक्तों की जिह्वा से इन सबका पूरा स्वाद ग्रहण करता हूँ।"

स्वामीजी के आश्रित भक्तों में राजा-महाराजाओं की संख्या काफी थी। इसलिए बाहर से आये हुए कई लोग ऐसा समझते थे कि स्वाजी धनी और प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रति अधिक ध्यान देते हैं। किन्तु जो लोग उनके घनिष्ठ सम्पर्क में रहा करते थे उनसे उनका प्रकृति स्वरूप छिपा नहीं था। संसार के समस्त भोग-सुख को सहज ही अपने पीछे छोड़कर चले आये हैं, योग-साधना की महासिद्धि को जिन्होंने मुट्ठी में कर लिया है; उनकी दृष्टि में समाज के धनीमानी व्यक्तियों का क्या मूल्य हो सकता है? इसलिए, देखा जाता था कि जिस प्रकार रूस के जार के पुत्र निकोलस और भारत के प्रधान सेनापति सर विलियम लकहार्ट जैसे उच्च पदस्थ व्यक्ति महायोगी के आशीर्वाद प्राप्त करते थे, उसी प्रकार प्रतिदिन भोर में बाबा का प्रिय पात्र, दीन-हीन कंगाल सहाय तेली तब तक उनका दर्शन करने नहीं आता, वे बेचैन बने रहते। आनन्दबाग में उपस्थित होते ही सबसे पहले सहाय तेली को उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता था।

'आओ मेरे बाप,' 'आओ मेरे बाप' कहकर स्वामीजी उसके साथ सस्नेह सम्भाषण करते। धनीमानी और उच्चवर्ग के दर्शनार्थियों की भीड़ में दीन दरिद्रजनों को कभी-कभी स्वामीजी के दर्शन प्राप्त करने में असुविधा होती थी। इसलिए स्वामीजी ऐसे लोगों की सुविधा का खयाल करके कभी-कभी खास दिन निर्दिष्ट कर दिया करते थे। उस दिन उच्चवर्ग के लोगों को आनन्दबाग में प्रवेश करने नहीं दिया जाता था।

प्रसिद्ध अमेरिकी साहित्यकार मार्क ट्वेन जब भारत-भ्रमण में आये थे, उन्होंने भास्करानन्दजी के दर्शन किये थे। अपनी 'More Tramps Abroad' नामक पुस्तक में स्वामी के साथ साक्षात्कार का उन्होंने मनोहर वर्णन किया है। दर्शन के लिए आनन्दबाग में उपस्थित होकर हमें उद्यान के एक कोने में खड़ा रहना पड़ा। प्रतीक्षा करते हुए ऐसा

लग रहा था कि उस दिन स्वामीजी के दर्शन में विशेष असुविधा नहीं होगी, कारण उनका वह दिन केवल समाज के निम्नस्तर के लोगों के साथ साक्षात्कार के लिए निर्दिष्ट था। अभिजात्य एवं पद-मर्यादा का इस महापुरुष की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। सब उनके लिए समान थे। कई दिन ऐसे भी थे जब कि वे अपनी इच्छानुसार केवल राजाओं-महाराजाओं को ही दर्शन दिया करते थे--दीन-हीन जनों को नहीं। और दूसरे दिन केवल दीन दरिद्रजन उनके दर्शन प्राप्त करके अपने को कृतार्थ समझते थे। उस दिन धनीमानी जन उनके सम्मुख उपस्थित नहीं हो सकते थे।"

हास्य-रस की रचनाओं के कारण मार्क ट्वेन की ख्याति उस समय विश्व-व्यापी थी। वे जब कलकत्ता पहुँचे तब "इंगलिशमैन" पत्र के प्रतिनिधि ने उनसे पूछा कि, भारत में आपने जो कुछ देखा उनमें कौन-सी वस्तु सबसे बढ़कर उल्लेखनीय है ?"

उन्होंने तत्क्षण उत्तर दिया, "काशी और वहाँ के पुण्यात्मा महापुरुष।" यह कहने के साथ-साथ उन्होंने स्वामी भास्करानन्द का नग्न चित्र सबके सामने खोल कर रख दिया।

"यह बड़े आश्चर्य की बात है। सब लोग जानते हैं, आपकी विशेषता यह है कि आप ऐसे प्रसंगों को लेकर हास्य-रस की सृष्टि करते हैं जिनमें हँसने की कोई बात नहीं होती। इस नग्न संन्यासी की चर्चा चलाकर आप हास्य-रस का अवतरण करेंगे, ऐसा हम लोगों ने सोचा था किन्तु, देखता हूँ कि बात ऐसी नहीं है।"

उन्होंने श्रद्धाभाव से कहा, "कारण यह है कि वे ईश्वर-तुल्य हैं।" इस स्वनामधन्य साहित्यिक ने अपने भ्रमणवृत्तांत में स्वामीजी का

उल्लेख करते हुए लिखा है—"भारत का ताजमहल अवश्य ही एक विस्मय-जनक वस्तु है, जिसका महनीय दृश्य मनुष्य को आनंद से अभिभूत कर देता है, नूतन चेतना से उद्बुद्ध करता है। किन्तु स्वामीजी के समान महान एवं विस्मयकर जीवंत वस्तु के साथ उसकी क्या तुलना हो सकती है ? ये तो जीवंत हैं, श्वास-प्रश्वास धारण किये हुए हैं, बात-चीत करते हैं, लाखों मनुष्य जिनके प्रति आस्थावान् हैं, भगवान् समझ-कर भक्ति करते हैं, आंतरिकता एवं कृतज्ञता के साथ पूजा करते हैं। पर्यटक मार्कट्वेन ने अपने भ्रमण-ग्रंथ में इस भारतीय महापुरुष की बार-बार श्रद्धाभाव से चर्चा की है।

सुप्रसिद्ध ईसाई धर्माचार्य डॉ० फेवर बर्न ने भी स्वामीजी का दर्शन प्राप्त करके लिखा था—"स्वामीजी के सामने उपस्थित होकर मैंने अपने अंतर में एक ऐसी पवित्रता एवं सद्भाव का अनुभव किया जिसके सम-तुल्य सारे ईसाई जगत में मैंने कभी कुछ नहीं देखा था।"

इस देश के असंख्य शिक्षित एवं अभिजात श्रेणी के भक्तों द्वारा स्वामीजी का नाम भारत से बाहर विदेशों में प्रचारित हो गया था। इस विख्यात 'Holyman of Benares' काशी का पुण्यात्मा महापुरुष के दर्शन के लिए सम्पूर्ण विश्व के मनीषियों एवं प्रभावशाली व्यक्तियों में अपूर्व उत्कण्ठा देखी जाती थी। स्वामीजी के विदेशी दर्शनार्थियों में जर्मन पण्डित डयसन, रूस के सम्राट् जार के पुत्र निकोलस आदि कितने ही विशिष्ट पुरुष थे।

काशी के समसामयिक काल के महापुरुषों में भी स्वामीजी की यथेष्ट मान्यता थी। उनमें अनेक के साथ उनका सौहार्द्र सम्बन्ध था। प्रसिद्ध वेदान्ती संन्यासी विशुद्धानन्दजी बराबर उन्हें 'बड़ा भाई' कहकर सम्बोधन किया करते थे। महायोगी तैलंग स्वामी के साथ

स्वामीजी का घनिष्ठ बन्धुत्व था। दोनों जब मिलते थे; एक दूसरे के प्रति स्नेह-भाव प्रदर्शित किये बिना नहीं रहते।

प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी काशीवास करते हुए समय-समय पर स्वामीजी के दर्शन के लिए उनके समीप जाया करते थे। उनका आशीर्वाद प्राप्त करके गोस्वामीजी को अमित आनन्द प्राप्त होता था। एक-दिन जब वे भास्करानन्दजी के दर्शन के लिए उनके निकट पहुँचे, उन्होंने देखा उनके चरणों में बैठकर एक महाराजा अशर्फियों से भरा एक थैला उन्हें निवेदन कर रहे हैं। किन्तु स्वामीजी के अस्वीकार करने पर अन्त में उन्हें खिन्नमन वहाँ से चला जाना पड़ा। उस दिन स्वामीजी की प्रशस्ति में गोस्वामीजी ने कतिपय श्लोकों की रचना की और उनका पाठ किया।

स्वामीजी भास्करानन्दजी के दीक्षित शिष्यों की संख्या प्रायः एक लाख से अधिक थी। और इन शिष्यों में देश के विभिन्न अञ्चलों के कितने ही स्त्री-पुरुष थे। उस समय काशी में पंडों का एक दुर्वृत्त दल ऐसा था जो निरीह यात्रियों को बहुत सताता था। इस दल में जो सबसे अधम थे उन्हें ही चुन-चुन कर स्वामीजी अपना शिष्य बनाते थे। इससे बहुत लोगों को आश्चर्य भी होता था, किन्तु बाद में चलकर देखा गया कि जो लोग अपने दुष्कर्मों के कारण कुख्यात थे वे भी महापुरुष के कृपाबल से सत्पुरुष बन गये हैं।

भास्करानन्दजी की योग-विभूति की कहानियाँ उस समय सारे भारत में लोगों के मुँह से सुनी जाती थीं। भक्तों के अनुरोध और उनके आग्रह पर तथा कई बार उनके कल्याणार्थ वे सहज ही अपनी अलौकिक शक्ति का विभिन्न रूपों में प्रदर्शन किया करते थे। जो

वस्तुएँ नितान्त नगण्य बच्चों के खेल की वस्तु की तरह तुच्छ थीं, दर्शनार्थी एवं भक्तजनों के मन में ही वस्तुएँ कभी-कभी अप्राकृत रूप में चमत्कार उत्पन्न कर देती थीं।

कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश सर रमेश मित्र समय-समय पर स्वामीजी के दर्शन के लिए आया करते थे। एक दिन तत्त्व-विषयक आलोचना के प्रसंग में रमेशचन्द्र ने कहा, "स्वामीजी, आप प्रायः कहा करते हैं, यह संसार नितान्त असार है--मायामात्र, किन्तु आप को स्पर्श करते समय तो हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता।" इस प्रकार कहते हुए उन्होंने स्वामीजी के चरण-स्पर्श किये। किन्तु उनके चरणों पर से अपने हाथों को उठाते ही उन्होंने साश्चर्य देखा कि स्वामीजी स्थूल का शरीर उस स्थान से एकदम गायब हो गया है।

क्षणभर के बाद ही फिर अपने स्थूल शरीर से आसन पर बैठकर स्वामीजी सर रमेशचन्द्र मित्र से कहने लगे, "अब समझ रहे हो न? यदि सब मिथ्या नहीं है तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि वर्तमान रूप में मैं बराबर हूँ—और नहीं भी हूँ?"

इतना कहकर वे एक बार फिर रमेशचन्द्र के सम्मुख से अदृश्य हो गये। पुनः अपने स्थान पर आविर्भूत होकर योगिवर विस्मित न्यायाधीश मित्र को कहने लगे, 'कहो रमेश, क्या अब भी इस बात पर विश्वास नहीं करोगे कि संसार स्वप्न-दर्शन के समान ही अलीक है?

भारत के प्रधान सेनापति सर विलियम लकहर्ट भास्करानन्दजी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। समय-समय पर उन्हें सपत्नीक स्वामीजी से मिलते देखा जाता था। एक बार लकहर्ट साहब की आँखों का भ्रम दूर करने के लिए उन्होंने एक अपूर्व योग-विभूति का प्रदर्शन किया। शैलेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय नाम का एक पुराना भक्त उस दिन स्वामीजी

के निकट आनन्दबाग में उपस्थित था। उसने आँखों-देखी घटना का इस प्रकार वर्णन किया है :—

"'सेनापति जिस दिन स्वामीजी के दर्शन के लिए आये थे उस दिन मैं आनन्दबाग में उपस्थित था। लकहर्ट साहब ने अफरीकियों को किस प्रकार पराजित किया था, इसका वर्णन वे स्वामीजी से करने लगे। हम लोग वहीं सब कुछ सुन रहे थे। वर्णन करते-करते साहब के मन में अहंकार उत्पन्न हो गया। उसी समय स्वामीजी ने अपने सामने रखी हुई एक पेंसिल को देखकर लकहर्ट साहब को उठा कर लाने के लिए कहा। किन्तु यह क्या आश्चर्य! लकहर्ट साहब हजार कोशिश करके भी उस पेन्सिल को नहीं उठा सके। तब स्वामीजी ने कहा, "तुमने युद्ध में विजय पायी है, ऐसा मत सोचना। जय-पराजय का कर्त्ता केवल एक व्यक्ति है। मैंने जिस प्रकार तुम्हारी बुद्धि हर ली है उसी प्रकार वह भी तुम्हारी बुद्धि का हरण कर सकता था। ऐसा होने पर जिस कौशल का अवलम्बन करके तुमने अफरीकियों को पराजित किया है, उस तरह की बुद्धि युद्ध के समय तुम्हारे मन में कभी उत्पन्न नहीं होती। भगवान के ऊपर ही सदा भरोसा करो।"))

आधि-व्याधि पीड़ित विपन्न मनुष्यों का दुःख निवारण करने में भी स्वामीजी का हृदय करुणार्द्र हो उठता था। जब वे कृपा परवश हो जाते थे उस समय उनका अलौकिक योगेश्वर रूप प्रायः देखने को मिलता था। डॉ० ईश्वर चौधरी बनारस के एक विख्यात होमियोपैथ थे। उनका बच्चा किसी घातक रोग से आक्रांत हुआ। वैज्ञानिक पद्धति से सब प्रकार की चिकित्सा की गई, किन्तु रोगी की दशा क्रमशः खराब होती गई। आखिर कोई उपाय न देखकर डॉ० ईश्वर चौधरी भास्करानन्दजी के शरणापन्न हुए। उस समय स्वामीजी

दर्शनार्थियों और भक्तों से घिरे हुए आनन्दबाग में बैठे थे। डा॰ चौधरी की कातर प्रार्थना सुनकर वे दयार्द्र हो उठे। सामने टोकरी से एक फल लेकर उन्होंने डाक्टर से उसे रोगी को खिला देने के लिए कहा। फल खाने के बाद ही बालक की दशा में सुधार होने लगा और वह भला-चंगा हो गया।

उस समय के बंगवासी पत्र में स्वामीजी की कृपा-लीला की अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं जिनमें से दो यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

पूर्व बंगाल के कई सज्जन एक बार स्वामीजी के दर्शन करने गये। कई व्यक्तियों के प्रणाम कर लेने के बाद ज्योंही जब एक बाबू उन्हें प्रणाम करने लगे, उन्होंने उन्हें मना करते हुए कहा—"तुम्हें अशौच लगा है। तुम्हारे पिता स्वर्गवासी हो गये हैं। तुम अभी घर चले जाओ, तुम्हारी माता शोक से विह्वल हो रही है।" पहले तो उन्हें इस बात पर विश्वास नहीं हुआ, किन्तु जब वे अपने निवासस्थान पर पहुँचे तो देखा—दरवाजे के पास तारवाला खड़ा है। तार में लिखा था—पिता स्वर्गवासी हो गये; शीघ्र घर चले आओ।

"सुखीरपुर निवासी एक ब्राह्मण अपनी व्याधि से छुटकारा पाने की इच्छा से स्वामीजी के समीप उपस्थित हुआ। उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था, जो कुछ खाता था सब उल्टी हो जाने से बाहर निकल जाता था। स्वामीजी आगन्तुक को देखते ही उसका मनोगत भाव समझ गये और बोले—"पांडेजी, भोजन तैयार करो। आदेशानुसार उस व्यक्ति ने खिचड़ी पकायी। स्वामीजी ने उसमें से कणमात्र ग्रहण किया। बाकी प्रसाद ग्रहण करके वह सम्पूर्ण स्वस्थ हो उठा।"

ढाका जिले के बाहर गाँव के चण्डीचरण वसु एक प्रवीण राज कर्मचारी थे। बहुत दिनों से वे बहुमूत्र रोग से पीड़ित थे। अनुभवी डाक्टरों और हकीमों से चिकित्सा कराने पर भी रोग नहीं छूटा। क्रमशः वे मरणासन्न हो उठे।

चण्डीबाबू सोचने लगे, इस जीवन का अन्त तो अब निकट आ रहा है, किन्तु दीक्षाहीन होकर मरना ठीक नहीं, ऐसा मन में सोच कर वे काशी चले आये और भास्करानन्दजी से कातर भाव से मन्त्र-दान के लिये आग्रह करने लगे।

कृपालु स्वामीजी ने कहा, ' मैं तुम्हें मन्त्र दूँगा अवश्य, किन्तु इससे पहले तुम्हें अपने कुलगुरु से दीक्षा लेनी होगी।"

चण्डीबाबू बड़े हताश हुए। उनके कुलगुरु सुदूर पूर्व बङ्गाल में रहते थे। काशी में किस प्रकार उन्हें उनसे साक्षात्कार हो सकता है? किन्तु महापुरुष की कृपा से शीघ्र ही उनकी यह दुश्चिन्ता दूर हो गई। एक दिन जब वे काशी के एक मार्ग से होकर जा रहे थे, देखा, उनके कुलगुरु उसी मार्ग से आ रहे हैं। वे काशी तीर्थाटन के लिये आए हुए थे। इसके बाद कुलगुरु से दीक्षा ग्रहण करके चण्डीबाबू ने भास्करानन्दजी का मन्त्र-दान प्राप्त किया। महापुरुष ने इसी समय उन्हें यह भी कह दिया कि उनतालिस दिनों के अन्दर तुम्हारा रोग दूर हो जायगा। ठीक वैसा ही हुआ। चण्डीबाबू पूर्ण स्वस्थ हो गये।))

क्षेमचन्द्र बसु कलकत्ता के एक विशिष्ट नागरिक थे। भास्करानन्द स्वामी की एक कृपालीला का उन्होंने वर्णन किया है—"मेरे बहनोई कलकत्ता पथुरिया घट्टा के प्रसिद्ध जमींदार स्वर्गीय रायबहादुर रमानाथ घोष और उनकी माता स्वामीजी के समक्ष उपस्थित हुए। रमानाथबाबू के पुत्र की कुण्डली से पता चलता था कि सोलह वर्ष की आयु में एक बहुत बड़ा दुर्योग है। इस दुर्योग से बच निकलना कठिन है। रमानाथबाबू की माता की बड़ी इच्छा थी कि बालक का विवाह कर दिया जाय किन्तु रमानाथबाबू विवाह कर देने के लिए बिलकुल राजी नहीं होते थे। अन्त में दोनों ने निश्चय किया, स्वामीजी के

आदेशानुसार कार्य किया जाय। स्वामीजी की सलाह लेने पर उन्होंने कहा, "अच्छा, तुम लड़के का विवाह कर दो।"

स्वामीजी का आदेश पाकर रमानाथबाबू अपनी माता को साथ लेकर चले गये। एक ज्योतिषी उस समय वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा, प्रभो! पुत्र को विषम दुर्योग है। ज्योतिष वाक्य भी तो आप जैसे महापुरुष का—अर्थात् ऋषिवाक्य है। सब कुछ जानते हुए भी आपने किस तरह विवाह करने का आदेश दिया?

"इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा, जानता हूँ, पुत्र की मृत्यु निश्चित है, किन्तु वह कन्या जिसके पूर्वजन्म के कर्मानुसार इह जीवन में वैधव्य दशा का भोग निर्दिष्ट है और जिसके भाग्य के साथ इस बालक का भाग्य एक सूत्र में आबद्ध है; उसे तो विधवा होना ही है; किन्तु जब तक मैं जीवित रहूँगा, पुत्र को तब तक मरने नहीं दूँगा, यह निश्चित जानो।"

"ज्योतिषी ने स्वामीजी की बात मान ली। एक दिन स्वामीजी को हैजा हुआ, रमानाथबाबू का पुत्र गणेश भी उसी दिन घोड़े पर से गिर पड़ा। स्वामीजी जितने दिनों तक जीवित रहे, गणेश भी अचेतनावस्था में पड़ा रहा। रात में १२ बजे स्वामीजी ने शरीरत्याग किया। गणेश भी ठीक उसी समय हमलोगों को छोड़कर चल बसा।"

न मालूम कितने मुक्तिकामी एवं आश्रित भक्तजनों ने महापुरुष का आश्रय प्राप्त करके नवजीवन लाभ किया। इनमें ही एक भाग्यवान पुरुष थे नेपाल के राणा कर्नल बहादुर। भास्करानन्दजी की कृपावारि से सिञ्चित होकर इनका जीवन रूपान्तरित हो गया। महापुरुष का आशीर्वाद प्राप्त करके इन्होंने समस्त सुखैश्वर्य एवं स्वजन-परिजन की माया का परित्याग कर दिया। हिमालय की शालिग्राम नदी के तट पर एक पर्णकुटी बनाकर यह साधक कठोर तपस्या में रत हो गये।

अनेक बार ऐसा होता था कि जिज्ञासु जन स्वामीजी से जो निर्देशादि जानना चाहते थे उसे वे स्वप्न में या अन्य अलौकिक विधियों से प्राप्त करते थे। एक बार प्रभुपाद गोस्वामी के एक शिष्य भूतनाथ घोष ने स्वामीजी के समीप उपस्थित होकर साधन-विषयक कई प्रश्न किये। मनमौजी स्वामीजी ने उनके प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया और उन्हें तुरत उस स्थान से भगा दिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि घोष महाशय इससे बहुत खिन्न हुए। किन्तु उसी दिन रात में उन्होंने स्वामीजी के दर्शन एवं निर्देश प्राप्त किये। उनके मन में जो कुछ सन्देह और खिन्नता का भाव था, वह दूर हो गया।

अयोध्या के राजा प्रतापनारायण सिंह स्वामी भास्करानन्द के एक अनुगृहीत शिष्य थे। स्वामीजी के कृपाबल से एक बार उनकी प्राणरक्षा हुई। उस समय वे गुरुदेव के चरण दर्शन के लिए अयोध्या से काशी आये हुए थे। सहसा अयोध्या से उन्हें तार मिला कि महाराज अविलम्ब अयोध्या लौट आयें। निश्चय हुआ कि दूसरी ट्रेन से वे अयोध्या लौट जायेंगे, किन्तु भास्करानन्दजी उस दिन उन्हें जाने देना नहीं चाहते थे। प्रतापनारायण बड़े संकट में पड़े।

अनुमति के लिए जब बार-बार अनुनय करने लगे तब स्वामीजी ने कहा, "यदि आज जाना अत्यन्त आवश्यक हो तो जिस गाड़ी से जाने का निश्चय किया है उससे न जाकर बाद की गाड़ी से जाओ।"

आखिर यही निश्चय हुआ। स्टेशन पहुँचकर महाराज को संवाद मिला, उसे सुनकर वे स्तम्भित हो गये। तार से संवाद मिला कि पहले जो गाड़ी अयोध्या की ओर गई थी वह मार्ग में दूसरी गाड़ी से लड़ गई और लाइन से हट कर गिर पड़ी। दुर्घटना के कारण बहुत से यात्री हताहत हुए। स्वामीजी के मना करने पर यदि

राजासाहब अपनी यात्रा स्थगित नहीं करते और पहली गाड़ी से ही जाते तो उनकी जान के लिए अवश्य खतरा था।

इस घटना से एक दिन पूर्व भास्करानन्द महाराज ने नितान्त कौतुक के रूप में एक अलौकिक लीला कर दिखायी। राजा प्रताप-नारायण को साथ लेकर स्वामीजी आनन्दबाग में टहल रहे थे। भक्त के मन में एक बात को लेकर उद्वेग उत्पन्न हुआ। जरूरी तार मिलने पर भी वे अयोध्या नहीं लौट रहे हैं, इससे सारा दिन वे उदास बने रहे। सदानन्दमय स्वामीजी महाराज ने इस समय उनके साथ एक खेल शुरू कर दिया।

टहलते-टहलते वे आनन्दबाग के निकटस्थ सरोवर दुर्गाकुण्ड के किनारे पहुँचे। एकाएक स्वामीजी ने राजा से उनकी हीरे की अंगूठी माँग ली और इसके बाद कौतुक के रूप में उसे जल में फेंक दिया। राजा गुरुदेव को अच्छी तरह जानते थे, इसलिए उनके इस रहस्यमय आचरण पर उन्हें विशेष विस्मय नहीं हुआ। इसके सिवा जब गुरुजी ने उसे जल में फेंक ही दिया तो वे और क्या कर सकते थे? इसके बाद इस विषय को और कोई महत्त्व न देकर वे अपने एक साथी के साथ बातचीत करने लगे। शिष्य के शान्तभाव को देखकर स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए। राजा को कहा, "तुम्हारी अंगूठी अभी मिलेगी, तुम सरोवर की किसी भी तरफ जल में अपना हाथ डुबाओ तो।" प्रताप-नारायण ने चालाकी से दुर्गाकुण्ड के उस पार जाकर पानी में हाथ डुबाया। आश्चर्य! जल से कितनी ही हीरे की अंगूठियाँ निकल आयीं। सब देखने में एक ही प्रकार की थीं। यह निर्णय करना कठिन था कि कौन राजा की अपनी अँगूठी थी। अँगूठी के अधिकारी भी अपनी चीज को नहीं पहचान सके।

स्वामीजी बालक की तरह खिल-खिलाकर हँस पड़े और राजा को उनकी निजी अँगूठी तुरत लौटा दी। साथ ही, दूसरी अँगूठियाँ

को उसी क्षण सरोवर में विसर्जित कर दिया। महापुरुष की इस कौतुक-क्रीड़ा से समस्त परिवेश हास्योज्ज्वल हो उठा।

स्वेच्छामय स्वामीजी कभी-कभी बिलकुल मन की मौज में आकर बच्चे की तरह अपनी योग-विभूति प्रकाशित करते थे। एक बार कई संन्यासी स्वामीजी से मिलने आये। उनके साथ तत्वज्ञान के सम्बन्ध में विचार करते-करते स्वामीजी एक शास्त्र-ग्रन्थ लेकर बैठ गये। पाठ और व्याख्या में समय बीतता जा रहा है। एकाएक स्वामीजी को ख्याल आया, इन संन्यासियों को तो भोजन नहीं कराया गया। पोथी बन्द करके वे उनको भोजन कराने के लिए व्यग्र हो उठे। भक्त सुरेन्द्र मुखोपाध्याय ने इस घटना का उल्लेख किया है। उस समय वहाँ कई संन्यासी उपस्थित थे। उनमें से एक ने मुखोपाध्याय से कहा, "सर्वदर्शी स्वामीजी ने हम लोगों से पूछा, "तुमलोग कुछ पाओगे नहीं?" हमने उत्तर दिया, आप हम तीन जनों के लिए उपयुक्त भोजन कहाँ से जुटायेंगे? स्वामीजी किञ्चित् हँसते हुए बोले, "अच्छा तुम लोग भोजन करने के लिए बैठो, अभी तुम्हारे लिए भोजन आ जायेगा; क्या-क्या खाना चाहते हो, मुझे बताओ। यह सुनकर हमलोगों में से एक ने उत्तर दिया, हम रबड़ी, बर्फी, दूध, दही, छेना, संदेश, आम और नारंगी खायेंगे।

"बात अभी पूरी भी नहीं हुई थी जब कि हमने देखा कि दो दिव्याकृति सुन्दर बालक हमारी ओर आ रहे हैं। दोनों ने वहाँ पहुँचकर अपने सिर पर की टोकरियों को स्वामीजी के चरणतल में रख दिया और क्षणभर में कहाँ अदृश्य हो गये, हम समझ नहीं सके। इससे भी बढ़कर आश्चर्य का विषय यह कि हमने जिन सब खाद्य पदार्थों की इच्छा की थी, वे दोनों बालक केवल उन्हीं पदार्थों को लाये हुए थे।"

यों तो स्वामीजी के जीवन में अलौकिक घटनाओं की कमी नहीं, किन्तु भक्त लछमन मल्लाह को ढूँढ़ निकालने में जो अलौकिकता है

वह सबसे बढ़कर विलक्षण है। उत्तर काल में इस दरिद्रधीवर के प्रति स्वामीजी महाराज की कृपा देखकर उनके अन्यान्य भक्त शिष्यों को बड़ा आश्चर्य होता था।

((अपने जीवन के अन्तिम दिनों में स्वामीजी एक बार फिर जन्मभूमि मैथलालपुर का दर्शन करने गये। वे वहाँ गुप्त रूप से गये थे, फिर भी महापुरुष के आगमन का संवाद सब ओर फैल गया। उनके दर्शनों के लिए हजार-हजार मनुष्य आने लगे जिससे वह छोटा-सा गाँव आलोड़ित हो उठा।

उस दिन स्वामीजी को एक मंच के ऊपर बैठाकर उनकी अभ्यर्थना की गई। विराट् जनता नीरव भाव से उनके सम्मुख सश्रद्ध बैठी हुई थी। स्वामीजी द्वारा उपदेश दिये जाने के बाद सबको प्रसाद वितरण किया गया। इसी समय स्वामीजी ने एकाएक अपने सामने के लोगों से कहा, "लछमन मल्लाह नामक एक दरिद्र व्यक्ति जनसमूह के अन्दर है। वह मेरा परमभक्त है, उसे तुम लोग शीघ्र ढूंढ़कर बाहर निकालो।"))

बहुत समय तक ढूंढ़-ढाँढ़ के बाद उस शुद्धात्मा धीवर का पता चला। कृपालु स्वामीजी ने मंच के ऊपर अपनी बगल में उसे सादर बैठाया। धनीजनों और नृपतियों द्वारा पूजित योगिराज भास्करानन्द सरस्वती दीन-दरिद्रों के भी भगवान हो सकते हैं, यह समझने में किसी को देर नहीं लगी। फटा-चिथा कपड़ा पहने हुए इस दरिद्र धीवर में स्वामीजी की दिव्यदृष्टि को उस दिन कौन सा रत्न का पता चल गया था। यह कौन बता सकता है? बाद में चलकर स्वामीजी ने अपने भक्तों को इस नवाविष्कृत साधक का परिचय दिया। बोले, "मेरे इस लछमन मल्लाह का भेदज्ञान दूर हो गया—यह सार्थक साधक और महाज्ञानी है।"

देश के कोने-कोने में करुणा-धारा का विस्तार करने के बाद

स्वामी भास्करानन्दजी के जीवन की अन्तिमलीला का समय अब सन्निकट आ रहा था। एक अपूर्व दिव्य आनन्द से उनकी जीवनसत्ता भरपूर हो गई थी। उनके सम्पूर्ण शरीर और मन में वह आनन्दज्योति विकीर्ण हो रही थी। परमप्रिय धीवर-भक्त लछमन मल्लाह उस समय उनके समीप आनन्दबाग में ही रहता था। प्रतिदिन स्वामीजी के आदेशानुसार वह उन्हीं के प्रियगान की धुन बार-बार दोहराया करता था—

ला रे मल्लाह किनारे ले आ
सरयू के तीर भीड़ है भारी
ठहरे हैं राम लक्ष्मण दो भइया—

गाना रुक गया। इसके बाद भी उसकी उदास झंकार आनन्दबाग के वायुमण्डल में गूँजती रही, संध्या का मन्द प्रकाश वनवीथियों में क्रमशः सघन होने लगा। स्वामीजी उदास दृष्टि से उधर देख रहे थे। इसके बाद मुसकराते हुए बोले, "मल्लाह, मेरे लिए भी उसको शीघ्र अस्सी घाट में नौका लेकर आना होगा।" भक्त लछमन मल्लाह के कृष्णकपोल पर आँसुओं की धारा बह चली। क्या सचमुच उसके प्रभु का विरह आसन्न है?

१३०६ साल के २५ आषाढ़ को स्वामीजी का प्रतीक्षित दिवस उपस्थित हो गया। कई दिन पहले उदर रोग से वे आक्रान्त हुए थे। यही रोग उनके मर्त्य शरीर के अवसान का कारण रूप बनकर आ पहुँचा है। महाप्रयाण के दिन मृतकल्प शरीर में एक अपूर्व अलौकिक शक्ति का संचार हो आया। ध्यानासन पर बैठकर महापुरुष ने ज्ञान और समभाव से अपना अन्तिम श्वास छोड़ा; ज्योतिर्मय अमृतलोक में उनकी यात्रा का आरम्भ हुआ।